राजकमल से प्रकाशित

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की काव्य-कृतियाँ

- कविताएँ : एक
- कविताएँ : दो
- कुआनो नदी
- जंगल का दर्द
- खूँटियों पर टँगे लोग (साहित्य अकादमी से पुरस्कृत)
- कोई मेरे साथ चले
- प्रतिनिधि कविताएँ ('राजकमल पेपरबैंक्स' में)

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

चरचे और चरखे

चरचे और चरखे

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 60.00

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण : 1986

आवरण : चंचल

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

CHARACHE AUR CHARAKHE
Critical notes on Contemporary scene *by* Sarveshwar Dayal Saxena

प्रकाशकीय

यह पुस्तक वरिष्ठ हिन्दी कवि स्व. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के बहुमुखी रचना कर्म का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। पत्रकार के रूप में उनकी सामाजिक चिन्ताएँ कितनी व्यापक थीं और सोच कितना बुनियादी, यह कृति इसका गहरा परिचय कराती है। दरअसल, 'दिनमान' में 'चरचे और चरखे' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत उन्होंने जो लिखा वह एक ओर हमारे वर्तमान दौर की कड़ी अलोचना है तो दूसरी ओर सही मायनों में विकसित, मानवीय समाज-रचना की आकांक्षा से भी परिपूर्ण है।

सर्वेश्वरजी उक्त स्तम्भ में प्रकाशित सामग्री को 'अँधेरों के खिलाफ' तथा 'रोशनी की तलाश में' शीर्षकों से दो भागों में बाँटना चाहते थे और इस आधार पर कुछ निबन्धों को उन्होंने व्यवस्थित भी कर लिया था, पर दुर्भाग्य से वे असमय ही हमारे बीच से चले गये। बाद में यथा-सम्भव उन्हीं की व्यवस्था पर अमल करते हुए पाण्डुलिपि को अन्तिम रूप दिया गया।

एक और बात, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। 'चरचे और चरखे' के अन्तर्गत बहुत-सी टिप्पणियाँ नितान्त सामयिक विषयों पर लिखी गयी थीं और स्वयं सर्वेश्वरजी भी उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने के पक्ष में नहीं थे। इसीलिए कोशिश की गयी है कि प्रस्तुत पुस्तक में केवल वही टिप्पणियाँ संकलित हों जिनका स्थायी महत्त्व है।

हर्ष का विषय है कि सर्वेश्वरजी की यह महत्त्वपूर्ण कृति उनके 59वें जन्म-दिन पर प्रकाशित हो सकी। इस कार्य में उनकी दोनों बेटियों—विभा और शुभा—के आत्मीय सहयोग की भी प्रशंसनीय भूमिका रही है। आशा है हिन्दी जगत इस कृति को अपने पूरे मन-मस्तिष्क से स्वीकार करेगा।

क्रम

रोशनी की तलाश में

अँधेरों के खिलाफ

गाँधीवाद इस देश की चेतना में ज़हरबाद की तरह फैल गया है

गाँधीवाद पर लिखने के लिए कलम उठाते ही मुझे पुलिस की गोली से मरी पड़ी तमाम लाशें, मिलों की चिमनियों के पीछे खड़े मजदूर और उनके नेता, हरिजनों के जलते घरों की आग की लपटें, बलात्कार की शिकार उनकी औरतों का चीत्कार और राजनीतिक दलों द्वारा भड़काये गये साम्प्रदायिक दंगों के लहू-रंजित छुरों की चमक के बीच अपने सुदूर बचपन में अपने घर की दीवार पर फड़फड़ाता, गाँधीजी की चिरस्मित मुस्कानवाला एक कैलेण्डर याद आता है, जिस पर लिखा था—

> विद्युत का बल भरा हुआ है
> इस युवक की हाड़ों में।
> तीस कोटि जनता का स्वामी
> गरजा आज पहाड़ों में।
> अत्याचार का नाम मिटाने
> देश स्वतन्त्र बनाने को।
> भारत महासागर उमड़ा है
> भूतल भार हटाने को।
> इस फकीर की टेर, देखना
> देवों को तड़पायेगी।
> स्वतन्त्रता की रम्य सुरसरी
> भारत में बह आयेगी।

यह कविता 1931-32 में मेरी तोतली ज़बान पर थी—पहली कविता जो मुझे रटायी गयी थी और जिसे अपने घर हर आने-जानेवालों को मुझसे सुनवाया जाता था। फिर 'स्वतन्त्रता की रम्य सुरसरी' भारत में बह आयी। लेकिन 1955 तक आते आते मैं जिस कविता को डूबकर पढ़ता था, वह किसी मरी हुई चिड़िया के रंगीन पंखों की तरह उड़ गयी। मेरी अपनी ही कलम से लिखा गया—

"दे आज़ादी ?
किसके बल पर
दुखिनी कहलाती शहज़ादी ?
गाँधीजी के चेला के।
पड़ा अकाल, नहीं तो
पूछे जाते नहीं अधेला के,
बोली मारैं
बात-बात में गोली मारैं
शोर मचाता घूमैं
बच्चे ज्यों लूटें कनकौआ।
चुपाई मारो दुलहिन
मारा जाई कौआ।"

सत्तारूढ़ गाँधीजी के चेलों का दर्द मन में घिरने लगा था और जो सपना आजादी मिलने पर देखा था, वह टूटने लगा था। लेकिन 1966 तक आते-आते वह टूटा ही नहीं एक भयानक दुःस्वप्न में बदल गया। गाँधी के नाम का इस्तेमाल सत्ताधारियों और सत्तालोलुपों द्वारा जिस घृणास्पद स्तर पर किया जाने लगा, उसका दर्द असह्य हो गया। उस समय इसी कलम से लिखना पड़ा—

"मैं जानता हूँ
क्या हुआ तुम्हारी लँगोटी का ?
उत्सवों में अधिकारियों के
बिल्ले बनाने के काम आ गयी।
भीड़ से बचकर
एक सम्मानित विशेष द्वार से
आखिर वे उसी के सहारे ही तो जा सकते थे।
और तुम्हारी लाठी ?
उसी को टेककर चल रही है
एक बिगड़ी-दिमाग डगमगाती सत्ता···"

गाँधी के नाम को लेकर सत्ताधीशों द्वारा स्वार्थ-साधन और देश की जनता को बेवकूफ बनाने तथा उसका हर तरह से शोषण करने का व्यापार इस हद तक जघन्य रूप धारण करता गया कि तिलमिलाकर इसी कलम को 1974 में एक पूरा नाटक लिखना पड़ा 'बकरी' जो गाँधीजी के नाम पर इस देश की गरीब बेजबान जनता के शोषण का दस्तावेज है।

"बकरी को क्या पता था मशक बनके रहेगी
अपने खिलाये फूलों से भी कुछ न कहेगी

उसके ही खूँ के रंग से इतरायेगा गुलाब
दे उसकी मौत जायेगी हर-दिल-अजीज़-ख्वाब
चाहे वो ढोलकिया हो, मदारी हो, या किरदार
चमका के चली जायेगी हर इक का रोज़गार"

सो आज गाँधीजी और गाँधीवाद के नाम पर हरएक का रोज़गार चमक रहा है। उसकी समाधि पर फूल चढ़ाकर, सब अपनी फूलों की सेज सजाते रहे हैं। इस पर ज्यादा कहना कोई मायने नहीं रखता। इस देश के नेताओं का काम गाँधी के बिना नहीं चलता। यद्यपि गाँधी और गाँधी के सिद्धान्तों से रत्ती-भर भी सरोकार किसी को नहीं है। बल्कि गाँधी के सिद्धान्त के विपरीत जोकुछ है उसे ही गरिमा प्रदान करने की घटिया कोशिश निरन्तर चल रही है।

क्या थे गाँधी के सिद्धान्त ? क्या है गाँधीवाद—मोटे तौर पर ही सही।

सत्याग्रह : आज इस गाँधीवादी देश में सत्याग्रह पर पाबन्दी है। गाँधी का नाम लेकर चलनेवाली सत्ता से आप कुछ भी माँग नहीं सकते। अपनी माँग मनवाने के लिए सत्याग्रह नहीं कर सकते—वह हड़ताल करार दे दी जायेगी जिसका कानूनन निषेध है, क्योंकि उससे देश की प्रगति खतरे में पड़ जाती है। गाँधी का सत्याग्रह देश की प्रगति के लिए खतरनाक है। इस नतीजे पर देश की गाँधीवादी सत्ता पहुँची है। वह कहती है, अनिवार्य सेवाओं में सत्याग्रह नहीं किया जाना चाहिए, कारखानों, मिलों, सार्वजनिक सेवाओं में सत्याग्रह और हड़ताल के खिलाफ उसने कानून बनाये हैं। फिर क्या सत्याग्रह अनिवार्य चीजों के लिए है ? बहुत आसानी से सत्याग्रह और हड़ताल में पेशेवर सत्ता-चाटुकार गाँधीवादी फर्क कर देंगे। लेकिन अपने दिल पर हाथ रखकर यह कैसे कह सकेंगे कि शोषण और अन्याय से ग्रसित ही वह सत्य है, जिससे लड़ने के लिए गाँधी ने सत्याग्रह का अस्त्र दिया था। शासन का मतलब ही शोषण और अन्याय होता है। उसी से मुक्ति की लड़ाई के लिए गाँधी ने सत्याग्रह की नैतिकता स्थापित की थी और गाँधी का नाम लेकर चलनेवाली सरकार उसे देश के लिए अनैतिक मानती है।

अहिंसा : कहीं दीखती है अहिंसा इस देश में ? सबसे अधिक तो राज की हिंसा फैली हुई है। रोज निहत्थी निरीह जनता पर राज की ओर से गोलियाँ चलती हैं। क्या गाँधी ने कहा था—राजकीय हिंसा हिंसा न भवति ? इस गाँधीवादी देश में संसार में सबसे अधिक अपनी ही सरकार द्वारा जनता पर गोलियाँ चलायी जाती हैं। हिंसा की ऐसी मिसाल कहीं और नहीं मिलेगी। यह स्थिति तब है जबकि कहा जाता है कि यहाँ लोकतन्त्र है—तानाशाही नहीं। सारा समाज हिंसामय हो रहा है गाँधी का नाम ले-लेकर, हर जगह उनके चित्र लगा-लगाकर, हर शहर में उनकी प्रतिमा खड़ी कर, हर सड़क पर उनका नाम लिखकर, हर दुकान, व्यापार को उनके नाम से जोड़कर भी सारा समाज हिंसामय है। गाँधी के नाम के अर्थ सुगन्धि

बेचनेवाले को छोड़कर, उसने जैसे इस नाम के दूसरे अर्थ—'हरा बदबूदार कीड़ा' ही को अपना लिया है। हिंसा की बदबू फैल रही है, शहरों, गाँवों, महानगरों, स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों, सड़कों, बाजारों, सभी जगह जीवन असुरक्षित होता जा रहा है। लूटपाट, छीनाझपटी, डकैती, राजनीतिक हत्याएँ तेजी से बढ़ती जा रही हैं। किसी को भी राज की पुलिस 'मुठभेड़' दिखाकर मार सकती है, कहीं भी आग लगा सकती है, बलात्कार कर सकती है। और साथ-ही-साथ महात्मा गाँधी की जय बोल सकती है। इतिहास के पन्नों में ऐसी विडम्बना किसी युग में इतनी बेशर्मी के साथ नहीं मिलेगी। इसे भावी पीढ़ियों के लिए सनद कर दिया जाना चाहिए।

सत्य : इस देश के नेताओं की जबान पर सबकुछ है सिवा सत्य के—चाहे वे सत्ता में हों या सत्ता में आने के मन्सूबे बना रहे हों। देश का स्वीकृत आप्त वाक्य है—'सत्यमेव जयते'। पर वह 'असत्यमेव जयते' में बदल गया है। गाँधी ने कहा था 'सत्य ही ईश्वर है'। उसके चेलों ने ग्रहण किया—असत्य ही सत्ता है। कौन सत्य बोलता है! पिछले पैंतीस वर्षों से एक 'समाजवादी समाज' की बात कही जा रही है। क्या आप उसका अर्थ आज तक समझ सके हैं? इस देश की सत्ता ने सत्य की परिभाषा यह मान रखी है कि किसी भी असत्य को बार-बार दोहराते रहो; वह सत्य हो जायेगा। सो यह है गाँधी का सत्य इस गाँधीवादी देश में। सत्ता ही नहीं पूरे समाज में असत्य का बोलबाला है। इसकी तकलीफ इसी कलम से लिखी कहानी/नाटक 'लड़ाई' में निकली है, जहाँ सत्य के लिए लड़नेवाला एक आदमी इस समाज में 24 घण्टे भी जिन्दा नहीं रह पाता और इसी नतीजे पर पहुँचता है कि 'सत्य वह ढाल है, जिसे लेकर हर जगह झूठ की लड़ाई लड़ी जा रही है।' पूरी व्यवस्था यही कह रही है, यही सिखा रही है।

सर्वधर्म समभाव : जी! गाँधी-समाधि पर 2 अक्तूबर को इसे कुछ क्षणों के लिए याद किया जाता है, फिर इसे तेजी से भुला दिया जाता है। अपने स्वार्थ के लिए सत्ताधारी, गैर-सत्ताधारी साम्प्रदायिक दंगे कराते हैं। गैर-सत्ताधारी सरकार को बदनाम करने, निकम्मा साबित करने के लिए और सरकार गैर-सत्ताधारियों पर साम्प्रदायिकता का दोष मढ़ने के लिए ताकि इस गाँधीवादी देश में साम्प्रदायिक व्यक्ति घोषित हो जायें और उन्हें सत्ता में आने से रोका जाये। इस तरह साम्प्रदायिकता फुटबाल की तरह राजनीति में खेली जा सकती है। सारे चुनाव आज वाद और धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर लड़े जाते हैं और दीवारों पर लिपटे पोस्टरों में गाँधी के चित्र, गाँधी के वाक्य, भाषणों में गाँधी की सूक्तियाँ, प्रचार में सिर पर गाँधी टोपी, सभाओं में गाँधी-गाने और बैठकें गाँधी-भवनों में होती हैं—जरूरत है गाँधी नाम के छुरों की जिससे एक-दूसरे की हत्याएँ की जायें, गाँधी-कुओं की जिनमें लाशें फेंक दी जायें और गाँधी-पाँच-सितारा होटलों की जहाँ दंगों,

हत्याओं, चुनाव की जीत के बाद ऐश और जश्न मनाये जायें। देश के गाँधीवादी कर्णधार, आशा है इस ओर ध्यान देंगे।

हरिजनोद्धार : हाँ, इस व्यवस्था ने हरिजनों के लिए एक काम अच्छा किया है कि सवर्णों को यह छूट दे रखी है कि उन्हें जब चाहें 'स्वर्ग-सुख' प्रदान करें! शर्म की बात है कि गाँधीजी का 'हरिजन' इस समाज में सबसे ज्यादा उत्पीड़ित है। रोज उनके घर जलाये जा रहे हैं, उनके कत्ल हो रहे हैं, उनकी औरतों के साथ बलात्कार की शर्मनाक घटनाएँ घट रही हैं, उनकी बस्तियाँ उजाड़ी जा रही हैं। उनके बच्चे अपढ़ रहें, उनकी औरतें लोलुपता की शिकार हों, पूरी मजदूरी न पायें, आदमी भूमिहीन किसान, बँधुआ मजदूर या जमींदारों, सामन्तों और सरकारी अधिकारियों की यातना झेलता हर तरफ से निराश्रित होकर ही इस समाज में दर-दर की ठोकरें खाते रहें, इसकी पूरी व्यवस्था गाँधीजी की इच्छानुसार कर दी गयी है। वाह रे देश के गाँधीभक्तो! पैंतीस सालों में तुमने गाँधीजी के नाम पर अपनी प्रतिमाएँ खड़ी करा लीं, अपनी तिजोरियाँ भर लीं, सारे संसार में अपने नाम के झण्डे फहरा लिये, इतिहास में अपना नाम टँकवा लिया पर हरिजन के लिए इतनी व्यवस्था भी नहीं कर सके कि वह सवर्णों के साथ बैठ सके, उनके कुएँ से पानी पी सके, समाज में उसके लिए समान अधिकार हों, वह समाज का पृथक अंग न हो, उसके लिए 'रिजर्वेशन' का छलावा न करना पड़े। इस गाँधीवादी देश में आज हरिजन गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास का पर्याय ही नहीं अन्याय, शोषण और दमन का सबसे बड़ा शिकार भी है—उसका प्रतीक।

इस यातना का कोई अन्त नहीं है—गाँधी और गाँधीवाद कत्लेआम के लिए निकली किसी नादिरशाह की तलवार पर जड़ी रत्न-मूठ की तरह ही रह गया है। यह एक घुन है जिसने इस देश की जनता के संकल्प, मनोबल और अन्याय से लड़ने की ताकत को भीतर-ही-भीतर घुना दिया है। गाँधी और गाँधीवाद का सहारा लेकर हर सत्ता-लोलुप उचक्का जनता को सत्य और अहिंसा की माला आँखें बन्द कर जपने के लिए देता जा रहा है और खुद उसके विपरीत मूल्यों को अपनाकर लूटपाट करता आ रहा है। सारी बम्बइया फिल्में, जिन्हें व्यवस्था का वरदहस्त प्राप्त है, इसी हिंसा का प्रचार करती हैं और उसी के द्वारा मनोरंजन करती हैं। दुःख की बात है कि आज एक भी गाँधीवादी देश में ऐसा नहीं है, जिसकी आवाज बैठ न गयी हो। जो एकाध गाँधीवादी थे उन्हें आजादी के बाद सत्ता ने दूध की मक्खी की तरह निकाल रखा था। कुछ को कुजात गाँधीवादी कहकर राह रोकने का चक्रव्यूह रच रखा था। आचार्य कृपलानी जैसे लोगों को इस स्थिति में ही छोड़ रखा था कि वे हर अन्याय पर चिल्लाते रहें। बाकी गाँधीवादी व्यापारी थे। व्यापारी गाँधीवादियों का व्यापार देश में खूब चला और चल रहा है। मठाधीश गाँधीवादी भी उन्हीं के हिमायती हैं। ये सत्ता में भले ही न हों, सत्ता के साथ हैं

—हर गलत काम के साथ —अपना आशीर्वाद देने को तत्पर—हाथ बढ़ाये । उनमें से एक हैं विनोबा भावे जो इस देश में गाँधीवाद की हास्यास्पद परिणति हैं ! आपात्काल का समर्थन करते हैं—और हर कुकृत्य के लिए आशीर्वाद के हाथ उठाये रहते हैं । उनकी चिन्ता इस देश के आदमी के लिए नहीं गाय के लिए ही रह गयी है,—वहीं तक सिमट गयी है । ज़रा उनकी बचकानी उक्ति सुनिए; राजीव गाँधी को आशीर्वाद देते कहते हैं—यदि तुम्हारे नाम से 'रा' काट दिया जाये तो क्या बचता है, 'जीव' ! अत: जीवदया तुम्हारा धर्म है ! पूछिए विनोबा के नाम से 'वि' काट दिया जाये तो क्या बचता है—'नोबा'—यानी नोवना—नोवना मतलब 'गाय' को दुहने के लिए उसके पैरों में रस्सी 'बाँधना' । यह वह कर रहे हैं गाँधी के नाम पर ।

गाँधी नहीं रहे, पर गाँधीवाद घसीटा जा रहा है—सैकड़ों संस्थाएँ उनके नाम पर चल रही हैं । सरकार उनके नाम पर चलती है, सत्ता की नयी पौध उनके नाम पर पनपती है । विचारक-दार्शनिक उनके नाम पर बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ करते हैं, उनके सिद्धान्तों और आदर्शों की दीप्ति से चकाचौंध फैलाते हैं, संसार को चकित करते हैं और बताते हैं कि गाँधी की राह संसार में सुख की राह है, मानव-कल्याण की राह है, विश्वशान्ति की राह है । यहाँ इस लेख, बल्कि तकलीफ बयानी का उद्देश्य किसी सैद्धान्तिक बहस में पड़ना नहीं है क्योंकि वह सिद्धान्त जो कर्म से न जुड़ सके पिरामिड में रखी खूबसूरत 'ममी' की तरह होता है ।

गाँधीवाद इस देश में कर्म से नहीं जुड़ा, कुकर्म में जरूर परिणत हुआ । खादी, कुटीर-उद्योग कुछ भी इस देश में नहीं चला । देश पश्चिम के औद्योगीकरण की ही नकल में भाग रहा है । वही उसका आदर्श है । इस देश ने आदमी को भीतर से अच्छा और मजबूत बनाने और बाहर से समर्थ और सुखी बनाने के गाँधीवादी आदर्श की पराजय स्वीकार कर ली है, गाँधी के आत्मनिर्भरता के स्वप्न को पर-निर्भरता के कटु-यथार्थ में बदल दिया है । बच्चा कमा भी सके, यह रास्ता अस्वीकार कर इसने यही रास्ता उसके लिए छोड़ा है कि वह गरीब माँ-बाप पर निर्भर रहकर पढ़े और फिर बेरोजगार घूमे, गाँधी-मूल्यों को तहस-नहस करता, चारों ओर तहस-नहस होते देखता । गाँधी और गाँधीवाद का मिथ इस देश में टूट चुका है ।

फिर भी यह देश गाँधी और गाँधीवाद को अपनी छाती से चिपकाये घूम रहा है, जैसे बन्दरिया अपने बच्चे की लाश को चिपकाये घूमती है । गाँधीवाद की कोई संगति है तो यही कि अब वह इस देश के शरीर में जहरबाद की तरह फैल गया है । उससे मुक्त होना जरूरी है—देश में नया खून, नये संकल्प और नयी ताकत भरने के लिए ।

जूते का तर्क

अभी उस दिन की बात है । दोपहर का समय था । इन्दिरा काँग्रेस के एक कार्य-कर्त्ता, धुर गाँव में, एक पेड़ के नीचे बैठे थे । पैर में से जूता निकाल, हाथ में पकड़ उसे ऊपर उठाकर बोले—

"यह क्या है ?"

सीधे-सादे फटेहाल अनपढ़ ग्रामीणों ने जवाब दिया—"जूता ।"

"इससे क्या करते हैं ?" उन्होंने पूछा ।

"पैरों में पहनते हैं ।" फिर जवाब मिला ।

"सो भाइयो, हम आपके पैरों की जूती हैं । आपके यानी गरीब भाइयों के । अब बताइए यदि जूता काट ले तो क्या आप उसे फेंक देंगे ? काटने पर जूता फेंक देते हैं ? बोलिए ?"

"नहीं ।"

"क्या करते हैं ?"

"फिर भी पहनते हैं ।"

"क्यों ?"

गाँववाले चुप थे । उन्होंने खुद ही जवाब दिया—

"इसलिए कि पहनते रहने से जूता काटना बन्द कर देता है । कोई भी जूते के काट लेने पर उसे फेंकता नहीं । उसे एकाध दिन का आराम देकर फिर पहनता है । फिर पैर को जूते की और जूते को पैर की आदत पड़ जाती है । यदि जूता पैर में फिट होगा, टिकाऊ और मजबूत होगा तो पहनने पर शुरू-शुरू में काटेगा ही । थोड़ी तकलीफ देगा । वह तकलीफ बरदाश्त की जाती है । क्यों बरदाश्त की जाती है ? आराम के लिए, ताकि पैरों को रास्ते के काँटे-रोड़े तकलीफ न दें । रास्ता आराम से कटे । जूता काटने पर आपसे कोई नहीं कहता कि इस जूते ने आपको काट लिया है, तानाशाह है, इसे फेंक दो । लेकिन हमारी पार्टी को लोग कहते हैं···इन्दिरा कांग्रेस तानाशाह है, इसे परे करो, इसे वोट मत दो क्योंकि इसने आपातकाल लगाया था, इमरजेंसी लगायी थी, लोगों को तकलीफ दी थी । जूता यदि काटता भी है तो किसी दुश्मनी से नहीं आराम देने की नीयत से । हमने भी इमरजेंसी लगायी थी । गरीबों से दुश्मनी के लिए नहीं, उन्हें आराम देने की ही नीयत से । बताइए हमारी आपसे कोई दुश्मनी थी ?" उन्होंने ललकारकर पूछा ।

"नहीं", सबने जोर से जवाब दिया ।

"आपको हमने जेल भेजा था ?"

"नहीं !"

"कुछ बड़े नेता गये थे न ? आप तो नहीं गये थे ? कोई जुल्म-ज्यादती आप पर हुई थी ? नहीं ना ? चारों तरफ अमन-चैन था ना ? आज-जैसी हाय-हाय, चोरी-चकारी, धींगा-मुश्ती तो नहीं थी ना ? दो-एक चीज़ जरूर गड़बड़ लगी आपको। जैसे नसबन्दी वगैरह। आपको लगा जूते ने काट लिया। आपने दूसरों के कहने में आकर उसे उठाकर रख दिया। लेकिन मैं पूछता हूँ कि यदि जूता काट ले तो क्या उसे हमेशा के लिए उठाकर रख देते हैं ? नहीं ना ? उसे फिर पहनते हैं क्योंकि जिस जगह उसने काटा होता है उस जगह की पैर की चमड़ी थोड़ी मोटी हो जाती है और जूता भी उस जगह थोड़ा दबाव पाकर उभर जाता है। अपना आकार ज़रा-सा बदल लेता है। जूते और पैर का यह रिश्ता हमेशा से रहा है, और हमेशा रहेगा, क्योंकि यह रिश्ता आराम देनेवाले और आराम चाहनेवाले के बीच का है। लेकिन दूसरों को अपने स्वार्थों के कारण यह रिश्ता पसन्द नहीं आता। वे भड़काते हैं—इस जूते ने काट लिया है। इसे बदल आइए। यह नहीं जानते कि काटने का मतलब है दोनों का—यानी जूते और पैर का खुद बदलना, एक-दूसरे के योग्य होना। दोनों एक-दूसरे के योग्य हो जाते हैं, फिर जूता और पैर साथ मिल-कर चलते हैं। जंगल-झाड़ियों, कँटीले पथरीले रास्तों पर चलते हैं। फिर पैर सलामत रहता है, रास्ते के सारे घाव जूता ही सहता है। उसने तो एकदफे काटा, वह तमाम उम्र ऊबड़-खाबड़ रास्तों द्वारा काटा जाता है और अन्त में आपके पैर की खातिर, उसकी रक्षा की खातिर अपनी बलि दे देता है, अपना उत्सर्ग कर देता है। अपना अस्तित्व मिटा देता है आपकी पैर की खातिर। यही है जूते और पैर का रिश्ता, यानी हमारा-आपका रिश्ता। यदि आपको हमने काटा है तो इस रिश्ते को बनाये रखने के लिए। अब हम और आप एक-दूसरे के लिए हैं। हम आपके आराम के लिए अब फिट हो गये। आपका रास्ता आरामदेह बनाने के लिए हम मर मिटेंगे। इसी के लिए जूता होता है। इसी में जूते की सार्थकता है। यही जूते का धर्म है और यही धर्म हमारा भी है। हम आपको यकीन दिलाते हैं। आप हमें फिर से अपनायें। हम आपके हैं, आपके लिए हैं। यानी हम गरीबों के हैं और गरीबों के लिए हैं। आप काटे हुए जूते को फिर पहनेंगे, फेंकेंगे तो नहीं। हमें वोट देंगे न ?"

"हाँ !" सबने कहा।

उन्होंने अपना जूता पहना और चलते बने; सबको हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए। यह स्तम्भकार हैरत में पड़ गया कि उस कार्यकर्त्ता ने कितनी आसानी से गाँववालों को समझा दिया और आपातकाल की ज्यादतियाँ गले से नीचे उतार दीं। यह नहीं सोचा कि यह भी यही नुस्खा अपनायेगा और शर्माजी को जो तानाशाही विरोधी हैं, इसी नुस्खे से तानाशाही का समर्थक बनाकर दिखा देगा। वह कुछ दिनों बाद शर्माजी से मिला तो उसने भी अपना पैर का जूता निकाला और ऊपर

उठाकर उनसे पूछा—

"यह क्या है ?"

"यह पैरों में रगड़ने की चीज़ है।" उन्होंने जवाब दिया।

"आप साफ-साफ जूता क्यों नहीं कहते ?" स्तम्भकार ने कहा।

"क्यों कहूँ ? इसलिए कहूँ ताकि आपका जूता मेरे सिर पर सवार हो जाये। जूता होता ही है पैरों में रगड़ने के लिए। आप सोचते हैं कि जो जवाब आप चाहते हैं, उसे देकर आपके किसी भी कुतर्क के लिए रास्ता खोल दूंगा ?"

स्तम्भकार ने और आगे कथोपकथन चलाने की हिम्मत की। पूछा—

"यह किसलिए है !"

"बेईमानों की चाँद गंजी करने के लिए ?"

"यह कोई जवाब हुआ ?"

"क्यों नहीं हुआ ?"

"सीधा जवाब आप दीजिए।"

"तो, सीधी बात आप कीजिए। आप चाहेंगे सवाल आप प्रतीक में पूछें और जवाब हम मुहावरे में भी न दें।"

"यदि यह आपको काट ले तो आप क्या करेंगे ?"

"यह मुझे काट ले। मैं कोई गधा हूँ। इसे पैर में पहनते ही मैं समझ सकता हूँ कि यह काटेगा या नहीं। मैं रगड़ने के लिए इसका तला तो मजबूत चुनूँगा लेकिन ऊपर का चमड़ा मुलायम देखूँगा। सस्ते के चक्कर में नहीं आऊँगा। ठीक नाप का उठाऊँगा। फिर भी पहनकर चलने पर यदि लगा कि कहीं दबा रहा है यानी ज़रूरत से ज्यादा दबाने की इसकी नीयत है तो पहले ही अस्वीकार कर दूंगा। पैर में डालते ही जूते के घोषणापत्र का पता चल जाता है। इस पर भी यदि वह पल्ले पड़ ही गया तो उसको काठ मारकर रख दूंगा। अपने से सख्त लकड़ी के पैर में उसे ठोंककर चार दिन डाल दूंगा। ठीक होकर निकलेगा। तेल लगाकर दबाने-वाली जगह पर पीट दूंगा। बहरहाल, काटने नहीं दूंगा। काटने न पाये, इसकी रोकथाम पहले ही की जा सकती है।"

"फिर भी जूता यदि काट ले ?" स्तम्भकार ने पूछा।

"मैं समझ रहा हूँ तुम कहाँ ले जाना चाहते हो। तानाशाह जूता नहीं है जिसे काट लेने पर भी पहना जा सके। तानाशाह की आदत अपने स्वार्थों के लिए काटने की होती है। जूते से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। और यदि तुम तुले ही हो तो मैं काटनेवाला जूता छोड़ दूंगा। नंगे पैर चलूंगा। यह देश नंगे पैर चलनेवालों का है। यहाँ जूते का तर्क नहीं चलेगा, काँटे का चलेगा जिसे चुभने पर निकाल दिया जाता है। इसे याद रखो।"

स्तम्भकार चुप हो गया।

लोकतन्त्र का लड्डू

अखबार के दफ्तर में उनकी बहुत चर्चा थी। अमेठी का चुनाव जीतकर लौटने के बाद जिन दो-तीन अखबारनवीसों से सबसे पहले राजीव गांधी की बातचीत हुई थी, उनमें वह थे। उन्होंने ही सारी बातचीत के बाद ललकारकर कहा—"हम तो लड्डू खाने और कुछ ठण्डा पीने आये हैं।" उनके यह कहने पर ही राजीव गांधी ने आवाज दी—"मिठाई लाओ" और खुद लड्डू का डिब्बा उठा सभी उपस्थित अखबारवालों और फोटोग्राफरों के पास गये। सो जब से हमारे ये अखबारनवीस महोदय राजीव गांधी के लड्डू खाकर आये हैं तब से बहुत खुश हैं। चेहरे पर रौनक आ गयी है। स्तम्भकार से नहीं रहा गया, उनके पास पहुँच ही गया। देखा, वह बड़े मनोयोग से लिख रहे हैं :

ये कितना सौम्य शान्त
है राजीव का लड्डू,
हर ओर से सम्भ्रान्त
है राजीव का लड्डू,
दुर्दान्त को दुर्दान्त
है राजीव का लड्डू,
कांग्रेस को आद्यान्त
है राजीव का लड्डू,
इस लड्डू को जो खायेगा
सदमाश बनेगा,
हर नंगे - भूखे जन का
च्यवनप्राश बनेगा।

स्तम्भकार के मुंह से बेसाखता "वाह-वाह" निकल पड़ा। पूछा—

"आपने पहली बार लड्डू खाया है ?"

"जी नहीं।"

"जो लड्डू आप अब तक जनेऊ, मुण्डन, शादी-ब्याह, नौकरी में तरक्की वगैरह पर खाते रहे हैं, उसमें और इस लड्डू में कुछ फरक है ?"

"जी हाँ, बहुत फरक है। इसकी कुछ बात ही और है। इसका आकार कुछ अलग है। सुडौल न होते हुए भी इतना सुडौल दिखता है कि आँखें चौंधिया जायें। एक-एक दाना अलग फिर भी एक साथ। मुँह में डालिए तो रस-ही-रस—हर दाने का अलग रस, और मिठास ऐसी अनोखी जिसका कोई जवाब नहीं।" उन्होंने इस तरह विभोर होकर कहा जैसे लड्डू उनके मुँह में हो।

"माना चुनाव जीतने के लड्डू का स्वाद कुछ अलग होता है पर क्या आप अन्य पार्टियों की जीत के लड्डू के स्वाद और इस लड्डू के स्वाद में कुछ फरक देखते हैं ? यहाँ मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में जो लड्डू आपने बंगाल में मार्क्सवादियों की जीत पर खाये होंगे, उसमें इसमें कुछ फरक है ?"

"बहुत फरक है। एक तो उनके लड्डू का आकार छोटा है फिर जबान पर रखते ही हर दाना अलग नहीं होता, न उनका अलग-अलग स्वाद होता है। लगता है मोतीचूर नहीं कुछ पिसा हुआ खा रहे हैं—आटे या बेसन जैसा। फिर उसमें रस कम है। गले में जाकर फँसने लगता है। मिठास जबान पर चिपक जाती है। पानी से उतारना पड़ता है।"

बात हो ही रही थी कि उनके एक सहयोगी भी आ टपके। कुछ उग्र आदमी थे। आवाज ऊँची कर बोले—

"आपको इस लड्डू में अमेठी की धूल की किसकिसाहट नहीं आयी—उस गरीब इलाके के गाँवों की धूल की ? इसके आकार में वहाँ के गावों के मुरझाये चेहरे नहीं दीखे ? इसकी चमक वैसी बुझी हुई नहीं लगती, जैसी भूख, गरीबी और महँगाई की मार खाये हर तरह से असुरक्षित आदमी की आँखों की होती है ?"

"जी नहीं, क्योंकि यह लड्डू यह सब हटाने के संकल्प से बाँधा हुआ था। राजीव गांधी आते ही कह चुके थे, उनका पहला काम अमेठी की दशा सुधारने का होगा।"

सहयोगी धीरे-से बुदबुदाया, "हर लड्डू शुरू में इसी तरह के संकल्प से बँधा दिखाया जाता है ?"

"क्या कह रहे हो ?"

"जो कह रहा हूँ वह फिर कभी कहूँगा। अभी तो यह पूछ रहा हूँ कि आपको इस लड्डू में चुनाव की जोर-जबरदस्ती, धींगामुश्ती, भय-लालच, गन्दी उखाड़-पछाड़ की बू भी नहीं आयी ?"

"जी नहीं, अमेठी का चुनाव बहुत स्वच्छ चुनाव था।"

"यह आप लड्डू खाने के पहले तो नहीं कहते थे।"

"जी हाँ, लड्डू खाने के बाद कह रहा हूँ। लड्डू खाकर मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गये हैं, आप यही मान लीजिए। वह शुद्ध घी का लड्डू था।"

"और घी का लड्डू टेढ़ा ही भला।"

"जी नहीं। वह सीधा और सुडौल···"

"राजनीति में पहली जीत पर बाँटा गया लड्डू अक्सर शुद्ध होता है। सीधा और सुडौल भी। पर भैया मेरे, यह स्थिति ज्यादा दिन नहीं बनी रहती। शुद्धता-अशुद्धता में बदल जाती है और लड्डू टेढ़ा होता जाता है।"

बात कहीं और न बढ़ जाये इसलिए लड्डू-प्रसंग को बनाये रखने के लिए यह

स्तम्भकार तुरन्त बोल पड़ा—

"लड्डू खाने के बाद आप कैसा महसूस कर रहे हैं ? यानी ठीक पहले की तरह हैं या कुछ बदला लग रहा है ?"

अखबारनवीस बोले—

"आपको साफ बताऊँ, मैं अब वह नहीं रहा जो पहले था। मुझे आगे बढ़ना है। जिसका लड्डू खाया है, उसका हक़ अदा करना है। मैं एक अर्से से पत्रकारिता कर रहा हूँ और जहाँ था, वहीं हूँ, जबकि मुझसे जूनियर लोग सम्पादक बन बैठे हैं। मैंने तय किया है कि मैं भी आगे बढ़ूँगा।"

"आज की स्थिति में आगे बढ़ने का मतलब जानते हैं ?"

"खूब जानता हूँ।"

"आगे बढ़ने का मतलब···"

"मैं जानता हूँ, लेकिन वह लोकतन्त्र का लड्डू था।" अखबारनवीस ने आवेश में कहा।

स्तम्भकार को हँसी आ गयी। इसने कहा—"लोकतन्त्र क्या है यह तुम मुझसे ज्यादा जानते हो।"

"हाँ जानता हूँ। और यह डंके की चोट पर कहता हूँ। लोकतन्त्र का लड्डू जहरीला ही भला।"

अब उन्हें कैसे समझाया जा सकता था कि लोकतन्त्र का लड्डू जहरीला नहीं होता। पर वह चिल्ला रहे थे और उन्हें आगे बढ़ना था, इसलिए इस लड्डू के प्रसंग को वहीं छोड़ वापस चला आना पड़ा। पाठको ! जीत के लड्डू खाइए पर यह सोचते हुए कि वह वास्तव में लोकतन्त्र का लड्डू है भी या नहीं ?

साम्प्रदायिक जहर से बचो

भारतीय हिन्दू रक्षादल, नयी दिल्ली-24 की ओर से एक पर्चा बाँटा गया है।

इस छोटे-से पर्चे में एक चित्र है।

पर्चा पीले कागज पर है। 'ॐ' से शुरू होता है। पर्चे का मजमून इस प्रकार है—

भारत में परिवार-नियोजन का तमाशा। हिन्दू घट रहे हैं और मुसलमान विशेष रूप से बढ़ रहे हैं।

हिन्दू प्रतिशत—	1951	84.98
	1971	82.72
		—2.26

मुस्लिम प्रतिशत—	1951	9.91
	1971	11.21
		+ 1.30

1971 के पश्चात् भारत सरकार ने परिवार-नियोजन पर विशेष बल दिया है और 1976-77 वर्ष तक 2,6580500 लोगों की नसबन्दी कर दी गयी, जिसमें मुसलमानों का भाग 5 प्रतिशत के लगभग रहा और हिन्दुओं का 93 प्रतिशत। अगली जनगणना 1981 में होगी तब हिन्दू जनसंख्या बहुत अधिक घटेगी।

ज़रा सोचिए, क्या देश का पुनः विभाजन होगा ? अतः हिन्दू भी परिवार-नियोजन-उपायों में भाग न लें। जब तक भारत सरकार एक विशेष कानून पारित न कर प्रति पुरुष बच्चों की संख्या निश्चित नहीं करती और इस कानून को सब नागरिकों पर समान रूप से लागू नहीं करती।

'पुत्र बहुत बड़ी सम्पत्ति है—पुत्र मनुष्य की आत्मा है'—महाभारत।

हिन्दू जागेगा तो देश बचेगा—सावधान !

हिन्दू-रक्षा और शुद्धि के लिए हिन्दू-रक्षा-दल को जी खोलकर दान दें।

मजमून के नीचे संगठन मन्त्री, महामन्त्री, प्रधान आदि पदाधिकारियों के नाम हैं।

चित्र देखिए, मजमून पढ़िए और फिर अपना सिर थामकर बैठ जाइए। आप यदि समझदार आदमी हैं तो इससे ज्यादा क्या कर सकते हैं ? लेकिन इससे अधिक करना होगा और सोचना होगा कि समाज में ये कौन-से तत्त्व हैं जो साम्प्रदायिकता फैला रहे हैं ? क्या ये समाज और देश के हितैषी हैं ? परिवार नियोजन समझदारी की चीज़ है। यह देश की आर्थिक प्रगति से जुड़ी हुई चीज़ है। हर समझदार हिन्दू और हर समझदार मुसलमान यानी हर समझदार इन्सान, परिवार-नियोजन को स्वीकार करता है और देश की आर्थिक प्रगति में उसकी भूमिका को अनिवार्य मानता है। यह हिन्दू-मुसलमान का सवाल नहीं है, यह समझी-नासमझी का सवाल है। नासमझ हिन्दू भी परिवार-नियोजन से मुँह फेरे रह सकता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि खुले आम ऐसे परचे निकाले जाते हैं; बाँटे जाते हैं और सरकार तथा जागरूक नागरिक इन पर चुप्पी साधे रहता है। किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। परिणाम यह होता है कि ऐसे परचे एक वर्ग में, ताकतें जिसे धर्मान्ध बनाने का काम कर रही हैं, साम्प्रदायिकता का जहर फैलाकर चले जाते हैं। यह जहर फैलता रहता है और गाहे-बगाहे हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है, जिसका फायदा अक्सर घटिया राजनीति उठाती है।

हिन्दू-रक्षा का कोई मतलब नहीं होता—मतलब देश-रक्षा का होता है।

यह भी कहना गलत है कि हिन्दू जागेगा तो देश बचेगा। सत्य तो यह है कि भारतीय जागेगा तो भारत बचेगा। भारतीय में हिन्दू भी शामिल हैं, सभी जागें। यानी सभी मिलकर देश के हित-अहित को पहचानें अर्थात् परिवार-नियोजन के महत्त्व को समझें। केवल 'हिन्दू जागे' कहना अल्पसंख्यकों पर आक्रमण-जैसा लगता है। अल्पसंख्यक क्यों न जागें? सभी जागें—नारा यही होना चाहिए। इस मजमून के अन्त में कहा गया है—हिन्दू-रक्षा और शुद्धि के लिए हिन्दू-रक्षा दल को जी खोलकर दान दें। यह स्तम्भकार इस पर टिप्पणी नहीं करना चाहता। न ही यह कहना चाहता है कि यह एक निहित स्वार्थवाले वर्ग का दूसरों के संकीर्ण मनोभावों को भड़काकर पैसा कमाने का धन्धा है। इस पर जागरूक नागरिक स्वयं सोचें।

परचे में जो आँकड़े दिये गये हैं उन पर भी प्रश्नचिह्न लगता है। सरकार उसकी जाँच करे और गलत प्रचार करने, तथा साम्प्रदायिक भावनाएँ उकसाने के विरुद्ध कार्यवाही करे। अन्त में यह स्तम्भकार सरकार से भी यह अनुरोध करता है कि सब नागरिकों पर समान रूप से परिवार-नियोजन कानून लागू करे ताकि साम्प्रदायिक धन्धा करनेवालों को रास्ता न मिले। इस देश में फैली अशिक्षा और अन्धविश्वास को देखते हुए यह जरूरी ही नहीं, बहुत जरूरी है।

लोकतन्त्र और प्याज

उस दिन देखा कि उस अनाम शहर की दूकान खूब सजायी जा रही है। झण्डियाँ लगायी जा रही हैं। सड़क तक का फर्श धोकर चमकाया जा रहा है। दूकान सब्जी की थी। समझ में नहीं आ रहा था कि यह रौनक किसलिए! न कोई तीज न त्योहार फिर भी दूकान पर बहार। इस स्तम्भकार ने कई लोगों से पूछा, माजरा क्या है? किसी ने कुछ काम का जवाब नहीं दिया, सभी ने कहा, पता नहीं, पर कोई बात है जरूर। थोड़ी देर बाद दूकान के सामने एक छोटी-सी चौकी बिछी, उस पर दरी-

चादर डाली गयी। एक मेज लगाकर फूलों से सजी तराजू रखी गयी। इस स्तम्भकार से नहीं रहा गया। सँभालकर पैर रखते हुए कि कहीं धुला हुआ फर्श गन्दा न हो जाये, दूकानदार की ओर बढ़कर पूछा—

"क्या बात है भाई साहब?"

"उद्घाटन है। बस दस-पाँच मिनट की देर और है।" फिर हिम्मत नहीं पड़ी पूछने की—किस चीज का उद्घाटन है? दूकान तो पुरानी है, दूकानदार भी पुराना है, दूकान में बिकनेवाली हर चीज पुरानी है फिर उद्घाटन कैसा! तमाशा देखने के लिए खड़ा हो गया।

धीरे-धीरे लोग जमा होने लगे। एक आदमी कलफ लगा खद्दर का कुर्त्ता-धोती पहने आया। वह मोहल्ले का एक पार्टी कार्यकर्त्ता था—स्थानीय नेता। बाकायदे टोपी लगाये हुए। फिर उसने वह सजी हुई तराजू उठायी और उसमें एक किलो प्याज तौला। बड़ी देर तक तराजू साधे खड़ा रहा। तालियाँ बजीं, फोटो खिंची। भीड़ में से एक आदमी हँसता हुआ आया, उसने दो रुपये दिये, प्याज लिया। दूकानदार ने लपककर उसे भी माला पहनायी। फिर स्थानीय नेता ने भाषण देना शुरू किया—

"साथियो और उपस्थित ग्राहको! आपको यह जानकर खुशी होगी कि प्याज का भाव अब सस्ता कर दिया गया है। आज से वह दो रुपये किलो मिलेगा। हमने आपसे प्याज सस्ता करने का वादा किया था वह हमने पूरा किया। वही प्याज जो आज से सवा महीने पहले पाँच रुपया किलो था, अब दो रुपया किलो कर दिया गया है। चुनाव में किये गये अन्य वादे भी शीघ्र ही पूरे होंगे। प्याज हमारी सबसे बड़ी ताकत है। इसके बिना हर रसोई सूनी है। स्वयं पार्वतीजी ने इसकी रचना की थी। [illegible] की सरकार ने उसी प्याज से लोगों को वंचित कर दिया था। वह इतना महँगा कर दिया गया कि आम आदमी उसके बिना सब्जी-दाल छौंकने से भी [illegible] बैठा था। अब यह स्थिति नहीं आयेगी। प्याज हमारे लिए लोकतन्त्र का प्रतीक है। जिस तरह एक-एक छिलका करके समूचे प्याज का निर्माण होता है, उसी तरह एक-एक व्यक्ति से समूचे राष्ट्र का निर्माण होता है। प्याज के अस्तित्व की कल्पना ही जैसे बिना छिलकों के नहीं की जा सकती, वैसे ही राष्ट्र की कल्पना भी बिना व्यक्ति के नहीं की जा सकती। हर आदमी का मत मिलाकर ही लोकतन्त्र बनता है। और हर आदमी का तन्त्र मिलकर लोकतन्त्र, राष्ट्र, समाज, लोकतन्त्र सबकी रचना प्याज की तरह परत-दर-परत होती है। जो नीति, जो सिद्धान्त, जो वाद इन परतों को स्वीकार नहीं करते वह प्याज जैसा ठोस नहीं बन पाते। हम प्याज का महत्त्व समझते हैं, इसीलिए हम हैं और रहेंगे। पिछली सरकार प्याज का महत्त्व नहीं समझती थी इसीलिए वह नहीं है, न आगे कभी सत्ता में आ सकेगी।"

लोगों ने तालियाँ बजायीं। दूकानदार ने 'प्याज जिन्दाबाद' का नारा लगाया। किसी मनचले ने 'प्याजी राजनीति जिन्दाबाद' का भी नारा दिया। स्थानीय नेता ने उसे घूरा पर वह बाज नहीं आया। बोला—"लेकिन साहब, यह ससुरा काटने पर आँखों में लगता बहुत है। इसीलिए हम प्याजी-राजनीति से दूर रहते हैं। इस मामले में हम वैष्णव हैं।"

सब लोग हँस पड़े। स्थानीय नेता से नहीं रहा गया। बोले—

"हजरत! छिलका ही सबकुछ है। यदि सारे छिलके एक साथ रस में भरे चिपके हों तो ठोस कुछ बाहर नहीं होता, वही ठोस बन जाता है। प्याज से सीखिए। यह एकता ही गुणकारी होती है। हम में वह एकता है।"

उन्हें संजीदा होते देख मनचला टाल गया। हँसकर बोला—

"हम तो आँखों में लगने की बात कह रहे थे। आपके लोकतन्त्र की आँख में लगने की बात।"

"काटियेगा तो लगेगा ही।" स्थानीय नेता बोले।

"बिन कटे प्याज का निस्तार कहाँ? न प्याज का, न लोकतन्त्र का।" मनचला हँसा।

बात कहीं बढ़ न जाये इस आशंका से सभी बोले—"चुप करो" और प्याज तौलवाने लगे। दूकानदार तौलने लगा। बोला—"सस्ता प्याज लीजिए, बहस में क्या रखा है?"

"बहस में आज़ादी रखी है।" कहकर मनचला खिसक गया।

धीरे-धीरे सब चले गये। जश्न खत्म हो गया। एक मजदूर किस्म का गरीब आदमी खड़ा रह गया।

"खरीदते नहीं प्याज, सस्ता हो गया है।" स्तम्भकार ने उससे कहा।

"अरे बाबू! जिसके लिए सस्ता हुआ होगा, हुआ होगा। हमारे लिए तो महँगा ही है।"

इस स्तम्भकार को एक विदेशी पत्रकार की याद आयी जो इस बात पर हँस रहा था कि इतने बड़े लोकतन्त्र का चुनाव प्याज को लेकर लड़ा गया। लेकिन वह यह नहीं जानता कि कैसे प्याज की दुहाई भी अब दी जानी शुरू हो गयी है। लोग बड़े खुश हैं कि प्याज सस्ता हो गया।

चलते समय इस स्तम्भकार ने उस मजदूर से कहा—

"अब क्यों खड़े हो भैया?"

वह अनमना-सा देखता रहा, फिर बोला—"शायद परसादी में एक ठो प्याज मिल जाये। रोटी खाने जाय रहे हैं!"

इस स्तम्भकार की यह समझ में नहीं आया कि वह मजाक कर रहा है या गम्भीरता से कह रहा है।

भारतीय राजनीति-स्पष्टीकरण-कोश

सुबह का समय था। शर्माजी ने अख़बार एक ओर उठाकर पटका और एक रजिस्टर और कलम लेकर बैठ गये।

"यह क्या?" स्तम्भकार ने पूछा।

"कुछ नहीं। मैं 'भारतीय राजनीति-स्पष्टीकरण-कोश' बनाऊँगा।"

"क्यों?"

"कुछ समझ में नहीं आता! हर शब्द राजनीति के सन्दर्भ में अपना अर्थ खो चुका है। अब उसका नया अर्थ खोजना है, जिससे देश का नागरिक आज की राजनीति को समझ तो सके। अब तो हम यह भी नहीं कह सकते कि इसका चरित्र भ्रष्ट हो गया। इससे भी गन्दा विशेषण इस राजनीति के लिए खोजना पड़ेगा। राजनीतिज्ञों का इतना पतन तो कहीं किसी देश में नहीं देखा। जब जो जी में आया कह दिया। सुबह कहा, शाम को बदल दिया। और साफ मुकर गये, हमने तो यह कहा नहीं था। जब जिसके साथ मतलब सधा उसके साथ मिल गये। जिसको भारी गालियाँ देते रहे। अन्यायी, बर्बर, तानाशाह कहते रहे; जहाँ पलक झपकी उसके तलुए चाटने लगे। लोगों की समझ में नहीं आता कि यह नेता कल तक जो कह रहा था, वह सही है कि आज जो कह रहा है वह सही है। इतनी जल्दी तो गिरगिट भी रंग नहीं बदलता जितनी जल्दी देश के नेता रंग बदलते हैं। सारा दृश्य किसी [illegible] की खाने की मेज पर चूहों की कलाबाजियों जैसा है। किसी का भय नहीं—न अपनी आत्मा का, न जनता का। बेफ़िक्र धमाचौकड़ी मची हुई है।"

"फिर आप क्या करेंगे?"

"करूँ क्या? यही सोचता रहता हूँ। पूरे समाज की तरह मैं भी बैठा यही अटकल लगाता रहता हूँ कि कौन किससे साँठगाँठ कर रहा है? किससे मिलने जा रहा है? फिर सरकार का क्या होगा? चुनाव पर इसका क्या असर पड़ेगा? ऐसी [illegible] पड़ी है इस मुल्क में कि कोई इसके अतिरिक्त और कोई बात ही नहीं करता। कुछ सोचता ही नहीं।"

"चुनाव के समय इसके अतिरिक्त और सोचा भी क्या जा सकता है?"

"देश जिस महासंकट में जी रहा है उस पर नहीं सोचना चाहिए? इतना बड़ा सूखा पड़ा हुआ है। देश पानी के बिना मर जायेगा। सूखे का प्रकोप बढ़ता जा रहा है। यदि यह हालत बनी रही तो आगामी मार्च तक हजारों आदमी, लाखों मवेशी बिना पानी के मर जायेंगे। राजनीतिज्ञ चुनाव लड़ रहे हैं तो अफसर-तन्त्र क्या कर रहा है? अखबार और बुद्धिजीवी इस महाविपत्ति के बारे में शोर क्यों नहीं मचाते? कौन किस दल में जा रहा है इसकी खबर तो अखबारवाले अपनी अटकलों

से पेज-पेज-भर की छापते हैं पर सूखे से हालत कितनी बिगड़ रही है, कितने लोग गाँव छोड़-छोड़कर भाग रहे हैं इसकी खबर क्यों नहीं छापते ? अफसर-तन्त्र क्यों हाथ-पर-हाथ धरे बैठा है ? क्यों नहीं इस समस्या से निपटता ? माना वह सोचता है, सरकार यह रहनी नहीं है लेकिन देश और देश की जनता तो रहेगी। वह तो चुनाव के बाद नहीं बदलेगी।"

"अफसर-तन्त्र क्या करे ?"

"जल्दी करे। यूनीसेफ की मार्फत नहीं सीधे रिग (जमीन से पानी निकालने-वाले यन्त्र) खरीदे। स्वीडेन से 6 करोड़ रुपये से रिग आने हैं उन्हें मँगायें। 60 करोड़ येन और 15 करोड़ येन का ऋण जापान के पास पड़ा हुआ है, उसे लें और रिग खरीदें। हवाई जहाज से रिग मँगायें और युद्ध की स्थिति पर सूखे से लड़ें। नहीं तो इस देश में मौतों की भयावह लहर आनेवाली है। आदमी को बचाओ, वह कुर्सी से ज्यादा जरूरी है। आदमी बचेगा तो कुर्सी भी बचेगी। यह बात आज की राजनीति नहीं समझती—उसका नंगा नाच चल रहा है और नौकरशाही उस नंगे नाच पर ताल दे रही है, शेष सब दर्शक बने हुए हैं। उस भूकम्प के बारे में नहीं जानते जो आनेवाला है और नाचनेवालों, ताली बजानेवालों और देखनेवालों को एक साथ निगलनेवाला है।"

"आप चाहते क्या हैं ?"

"मैं चाहता हूँ लोग इस गन्दी राजनीति के चलते अपना समय बरबाद न करें। देश को बचायें और इस राजनीति से भी निपटने का रास्ता सोचें।"

"कहने में यह बहुत आसान है।"

"पर समझने में कठिन नहीं है और यदि ठीक से समझ में आ जाये तो करना कठिन नहीं होगा। इसीलिए मैं **भारतीय राजनीति-स्पष्टीकरण-कोश** बना रहा हूँ।"

"जैसे ?"

"जैसे, लिखिए—

लोकतन्त्र—नेताओं का, नेताओं द्वारा, नेताओं के लिए।

विचारधारा—साँठ-गाँठ।

देश का हित—निजी स्वार्थ।

साम्प्रदायिकता—अपने गुण्डों की हिफाजत।

प्रगति—दल-बदल।

नेता—स्वार्थी-पदलोलुप।

कार्यकर्त्ता—शोषित।

अल्पसंख्यक—घास (जिसे जितना रौंदिए-काटिए उतनी ही पनपती है) !"

स्तम्भकार ने इसके आगे उन्हें टोक दिया। पूछा—"आप अकेले दम यह कोश

पूरा कर लेंगे ?"

"अपने पाठकों की मदद भी लूँगा। पाठक राजनीति में इस्तेमाल होनेवाले शब्दों का अब जो अर्थ हो गया है, उसे हमें भेजें। यह आज की राजनीति को समझने में सहायक होगा और फिर उसे लेकर झूठी माथापच्ची करने से भी छुटकारा मिलेगा और परिवर्तन के लिए ठोस काम करने यानी स्वस्थ, सही राजनीति की जड़ें जमाने का हौसला और साहस भी इससे खुद में और दूसरों में आयेगा। मैं अब इस देश की गन्दी, घटिया, भ्रष्ट सत्ता की राजनीति से ऊब गया हूँ।"

यह स्तम्भकार भी शर्माजी से सहमत है, और 'भारतीय राजनीति-स्पष्टी-करण-कोश' बनाने में पाठकों की मदद चाहता है।

स्वतन्त्रता और स्मृति : दोनों ग़लत

लखनऊ में गोमती के तट पर एक शहीद स्मारक है। यह शहीद स्मारक उन अज्ञात सेनानियों की स्मृति में बनाया गया है जिन्होंने देश के स्वतन्त्रता संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दी थी। उसके प्रवेश द्वार पर एक पत्थर लगा है जिस पर स्वतन्त्रता और स्मृति इन दोनों शब्दों को गलत लिखा गया है। यह ग़लती एक अरसे से चली आ रही है। उसे ठीक करने की प्रदेश सरकार ने जरूरत नहीं समझी। इसे देखकर और अन्ततः खीझकर एक दर्शक ने इस स्तम्भकार से पूछा

"क्या उत्तर प्रदेश सरकार हिन्दी नहीं जानती ?"

"जानती है।"

"फिर इतने महत्त्वपूर्ण स्थान में लगे इस पत्थर पर ये शब्द गलत क्यों हैं ?"

"इसलिए कि उत्तर प्रदेश सरकार और उसके अधिकारी यह मानते हैं कि देश को जो स्वतन्त्रता मिली वह गलत है और अपने शहीदों की जो स्मृति हम में है वह भी गलत है।" एक तीसरे आदमी ने कुछ मसखरी में कहा।

स्तम्भकार को लगा वह जो मसखरी में कह रहा है वह ग़लत नहीं है। सार्व-जनिक और महत्त्वपूर्ण स्थलों पर भाषा की इस प्रकार की अशुद्धियाँ 'राष्ट्रीय शर्म' मानी जानी चाहिए। पिछले दिनों एक जापानी मित्र ने जो यह शहीद स्मारक देखने आये थे और हिन्दी अच्छी तरह जानते थे इसे देखकर अपना सिर पीट लिया और बोले

"यह भारतवर्ष में ही हो सकता है, दुनिया में और कहीं नहीं—कि भाषा

की इतनी मोटी अशुद्धियाँ सार्वजनिक स्थानों पर दिखायी दें। हमारे यहाँ या दुनिया के और किसी देश में ऐसी अशुद्धि एक दिन भी बरदाश्त नहीं की जा सकती थी। इस अशुद्धि पर सरकार हिल सकती थी। लोग या तो इस पत्थर का मुँह काला कर देते या खुद इसे निकालकर फेंक देते। प्रदर्शन करते। एक दिन से ज्यादा ऐसी ग़लती सार्वजनिक स्थल पर ठहर नहीं सकती थी। लेकिन आपका सहनशील देश है। यहाँ सबकुछ सह लिया जाता है—बड़े-से-बड़ा अपमान भी। फिर यह तो अशुद्धि ही है।"

यह स्तम्भकार मानता है कि ऐसी अशुद्धियाँ शुद्ध लापरवाही नहीं होतीं, अशुद्ध संस्कारों का परिणाम होती हैं। इन्हें गाली की तरह अश्लील माना जाना चाहिए। लेकिन ऐसी समझ अभी विकसित नहीं हुई है। यह इस देश का दुर्भाग्य है। सरकार ऐसी गलतियाँ करके एक विभाग से दूसरे विभाग तक फाइल घुमाती निश्चिन्त बैठी रह सकती है और लोग इसे देखकर भी अनदेखा कर सकते हैं। इसे ध्यान देने की बात नहीं समझते।

जिन साहब ने हिन्दी प्रदेश—उत्तर प्रदेश के हिन्दी न जानने का सवाल उठाया था उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहा—

"आप जानते हैं ऐसा क्यों होता है? क्योंकि ये सब काम खानापूरी के भाव से किये जाते हैं। एक पत्थर लगाना है, लग गया। किसी को फ़ुर्सत नहीं यह जानने की कि उस पर क्या लिखा जा रहा है। यदि 'स्वतन्त्रता' या 'स्मृति' से उनका कोई लगाव होता तो ये शब्द ग़लत न जाने पाते। जिन अधिकारियों की देखरेख में यह काम हुआ है वे अपनी माँ और अपने बच्चे का नाम ग़लत नहीं लिखते होंगे क्योंकि उनसे लगाव होता है। 'स्वतन्त्रता' माँ है—जननी है। 'स्मृति' शिशु-जैसा दुलार माँगती है। लेकिन लगाव नहीं है। इसीलिए ये दोनों शब्द ग़लत लिखे गये हैं। अन्यथा क्या लिखे जाने के बाद प्रदेश के अधिकारियों ने इसे देखा नहीं? यदि देखा तो क्या इतने बड़े स्मारक में पत्थर का खर्चा बचाने की उन्हें चिन्ता थी या दुबारा लिखाने पर पैसा खर्च होने की? मोहरों की लूट कोयलों पर छाप। सच तो यह है कि ये अधिकारी जिनकी देखरेख में यह काम हुआ है, अपने काम के प्रति गैरज़िम्मेदार ही नहीं थे बल्कि ऐसे काम के प्रति कहीं भीतर से एक वितृष्णा उनके मन में थी, इसीलिए ऐसी ग़लती उनसे हुई अन्यथा एक अपराध भाव उनमें होता और उसका तत्काल निराकरण उन्होंने किया होता। जहाँ तक आयी-गयी सरकारों का सवाल है, सरकारों की मुख्य चिन्ता, लगता है, कुर्सी बचाने की ही रही है। और आम आदमी? उसमें इतना दम नहीं है कि वह सरकार को चेतावनी दे दे कि यदि निश्चित अवधि के भीतर यह पत्थर नहीं बदला गया तो वे स्वयं यह पत्थर हटा देंगे जो भाषा के माथे पर ही नहीं राष्ट्र के माथे पर कलंक है। इससे लोगों के लगाव का पता चलता। पर यह लगाव कहाँ है?

अपराधों के छोर

राजधानी में दिन-दहाड़े चोरी, डकैती, छीना-झपटी बदस्तूर कायम देख आम नागरिक जो यह मानता था कि इन्दिराजी के आते ही सब ठीक हो जायेगा, कुछ निराश हो रहा है। उसके चेहरे पर एक ऐसा भाव दिखता है और बातचीत में ऐसा दर्द छलकता है जो किसी का बहुत बड़ा भरोसा टूट जाने पर होता है। उस दिन शर्माजी अंग्रेजी का एक राष्ट्रीय दैनिक पढ़ रहे थे, जिसमें लिखा था कि पहली जनवरी से 23 जनवरी तक डकैती की 32 वारदातें, चेन खींचने की 4 और हत्या की 12 पुलिस के खाते में दर्ज हैं। बोले—

"इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि चोरी-डकैती कितनी बढ़ी हैं। सभी मामले दर्ज होते भी नहीं, न कराये जाते हैं। जितनी वारदातें होती हैं उसकी आधी भी पुलिस तक नहीं पहुँचतीं। छोटी-मोटी तकलीफ़ लोग पी लेते हैं, निगल जाते हैं। पुलिस के सामने जाने से कतराते हैं। लेकिन जितनी दर्ज करायी गयी हैं, उतनी क्या कम भयावह है?"

"आप इसका क्या कारण समझते हैं?"

"बुनियादी कारण तो गरीबी और बेरोज़गारी ही है। यह चाहे अपराध करने-वाले की हो चाहे अपराध पकड़नेवाले की।"

शर्माजी कुछ आगे कहने जा ही रहे थे कि उनके एक और मित्र ने उन्हें टोक दिया, बोले—"आप बुनियाद को पकड़कर बैठे रहिए। साफ क्यों नहीं कहते कि पुलिस की अकर्मण्यता है, प्रशासन का ढीलापन है। यदि प्रशासन चुस्त हो और पुलिस चौकस तो क्या मजाल कि ऐसी वारदातें हों। ऐसा प्रशासन अंग्रेज़ों के जमाने में था। आप निश्चिन्त रहते थे। आधी रात को भी औरतों-बच्चों समेत शहर के एक कोने से दूसरे कोने तक जा सकते थे। औरतें गहनों से लदी-फदी घूम लेती थीं। अब असली लगनेवाले नकली जेवर पहनना भी खतरे से खाली नहीं। सोचा था इन्दिराजी आयेंगी कुछ राहत मिलेगी।"

'कुछ समय लगेगा ठीक होने में। काफी बड़ा रोग है यह?' स्तम्भकार ने कहना चाहा।

लेकिन शर्माजी ने कहने ही नहीं दिया, बोले—

"मैं जानता हूँ आप क्या कहने जा रहे हैं। समय वगैरह की बात कहने जा रहे होंगे। मन को दिलासा देने के लिए ऐसी बात हमेशा की जाती है। सच तो यह है कि अपराधी प्रशासन में ही अपराध बढ़ते हैं?"

"क्या मतलब?"

"मतलब यह कि प्रशासन अपराधी है। इसे अच्छी तरह समझ लीजिए कि

पुलिस या प्रशासन अकर्मण्य नहीं, अपराधी है। अपराध बिना पुलिस या प्रशासन की शह के नहीं होते। अपराधियों की पीठ पर जब प्रशासन का हाथ होता है तभी अपराध होते हैं?"

"आप कहना क्या चाहते हैं?"

"मैं कहना यह चाहता हूँ कि अपराध करवाये जाते हैं यानी अपराध करनेवालों की ओर से पुलिस अक्सर मुँह फेरकर बैठ जाती है। यदि ज्यादा अपराध होंगे तो पुलिस का सर्वोच्च अधिकारी बदनाम होगा, हटाया जायेगा। उसे हटाना है तो अपराधों को तरह दी जायेगी। और पुलिस ही यह तरह देगी। किसी क्षेत्र के दरोगा को दूसरे क्षेत्र का दरोगा हटाना चाहता है तो उस क्षेत्र में जुर्म ज्यादा बढ़ने लगेंगे। पुलिस के आपसी दन्द-फन्द के कारण भी अपराध बढ़ते हैं। पुलिस का छोटा कर्मचारी तो अपराधियों से मिला होता है, पैसा कमाने यानी उसकी लूट में हिस्सा बँटाने के उद्देश्य से। बड़े पुलिस कर्मचारी की और बड़ी राजनीति होती है। उनके ओहदे-तरक्की भी उससे जुड़े होते हैं और उनके ओहदे तरक्की किसी राजनेता से जुड़े होते हैं। इसीलिए कहता हूँ अपराध अपराधी प्रशासन में होते हैं। यदि अपराध दूर करने हैं तो प्रशासन को ऊपर से साफ होना होगा। अंग्रेज़ों के जमाने में आज की अपेक्षा ऊपर की यह सफाई ज्यादा थी। इसलिए अपराध कम थे। वह ज्यादा बड़ी लूट कर रहे थे। ज्यादा बड़ा अपराध कर रहे थे। पूरे देश को गुलाम कर रखा था। अब आज़ाद देश में उतनी बड़ी लूट सम्भव नहीं है। दूसरी तरह की लूट है अपेक्षाकृत छोटी। जिसकी सीधी मार आम नागरिक पर पड़ती है। वह मार दिखायी देती है। गुलामी में आम नागरिक पर जो मार पड़ती थी वह अप्रत्यक्ष थी, दिखायी नहीं देती थी। आज़ादी में जो मार पड़ रही है वह प्रत्यक्ष है, दिखायी देती है। इसलिए अंग्रेजी शासन से तुलना करना गलत है। लेकिन यह जरूर कहा जाना चाहिए कि यदि अपराध दूर करने हैं तो प्रशासन को ऊपर से स्वच्छ करना होगा। पुलिस कर्मचारी की आर्थिक स्थिति और बेहतर करनी होगी और पूरे ढाँचे में ही बदलाव लाना होगा—तन्त्र के ढाँचे में और सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे में। ग़रीबी और बेरोज़गारी दूर करनी होगी और नागरिक के जीवन को आशंकाओं और अनिश्चितताओं से मुक्त कर उसे हर तरह की सुविधा और सुरक्षा की गारण्टी देनी होगी।"

शर्माजी के मित्र बोले—

"आप ठीक कहते हैं। अभी उस दिन हेली रोड पर एक टेलीविजन की कलाकार को कुछ उचक्कों ने पिस्तौल दिखा जेवर उतरवा लिये। पास ही दूतावास पर तैनात पुलिस से जब उसने उनकी हुलिया, कपड़ों आदि का हवाला देकर पकड़ने को कहा तो वे भागे तो पर किन्हीं और दो आदमियों को पकड़कर उसके पास ले आये। वह औरत चिल्लाती रह गयी कि यह आप लोग किसे पकड़ लाये, मैंने तो

बताया था कि वह सफेद कपड़े पहने हुए थे। पुलिसवाले हँसने लगे। जाहिर है वे अपराधियों से मिले हुए थे।"

"हाँ, ऐसा ही होता है। पुलिसवाले को एक बँधी हुई रकम अपने अफसरों को भी देनी पड़ती है और अफसरों को और बड़े अफसरों को। इसीलिए कहता हूँ नीचे से गरीबी दूर करो, ऊपर से नैतिकता का वास्तविक दबाव हो, तभी स्थिति में फरक आयेगा। अन्यथा चोरी-डकैती ऐसे ही होती रहेगी और हम अखबारों से उसका अन्दाजा लगाते रहेंगे। कल अखबारों में इसकी कम खबरें आने लगेंगी, तो हम समझेंगे न्याय और व्यवस्था सुधर गयी है। आज ज्यादा आ रही हैं तो हम समझते हैं न्याय और व्यवस्था खराब है। कल को उनसे कहा जा सकता है कि इस तरह की खबरें कम छापें। बिना किसी सेंसर के भी, इशारा पाते ही अखबारवाले ऐसी खबरों को कम-से-कम छापना शुरू कर सकते हैं और लगने लग सकता है कि सबकुछ दुरुस्त हो गया।"

"यह आप कैसे कहते हैं?" शर्माजी के मित्र ने पूछा।

"यह सभी जानते हैं कि आप आपात्काल के तुरन्त पहले तमाम छोटे शहरों में—राजधानी ही कोई मानदण्ड नहीं है—न्याय और व्यवस्था की स्थिति आज से कहीं खराब थी। पर अखबारों से उनका कहीं पता नहीं चलता था। आपात्काल में और भी पता चलना बन्द हो गया। अब जनता-लोकदल शासन में फिर पता चलना शुरू हुआ। इस समय भी पता चल रहा है और अभी कुछ दिन पता चलेगा। कल यदि अखबारों में ऐसी खबरें आनी कम हो जायें तो यह न सोचा जाय कि न्याय और व्यवस्था स्थापित हो गयी। वैसे यह समस्या बड़े शहरों की है। छोटे शहरों में तो मुँह से बात फैलती है। जब तक मुँह बन्द नहीं होगा, बात फैलती रहेगी और न्याय-व्यवस्था की सही तस्वीर आती रहेगी। इसलिए जब तक बुनियादी परिवर्तन न हों तब तक अगर कुछ और फेर-बदल स्थिति में दिखायी भी दिया तो वह टिकाऊ नहीं होगा। और इस अस्थिरता का राजनैतिक फायदा उठाया जायेगा और न्याय-व्यवस्था गड़बड़ होने का दोष प्रतिपक्षी दलों पर लगाया जायेगा।"

"यह भी क्या इसी की शुरुआत नहीं है?" शर्माजी के मित्र ने पूछा।

शर्माजी चुप रहे।

संजय अखाड़ा

उस दिन एक व्यक्ति जिसकी उम्र तीस-पैंतीस के आसपास होगी, एक पत्रकार बड़े ही अनुनय कर रहा था कि वह उसके अखाड़े का उद्घाटन संजयजी से करवा

दें । उसे किसी तरह से पता चल गया था कि वह पत्रकार बन्धु संजय के अत्यन्त निकट हैं । देखने में वह सज्जन स्वयं सींकिया पहलवान थे—हड्डी-ही-हड्डी थीं, बदन पर कहीं गोश्त का नाम न था । पत्रकार बन्धु ने कहा—

"यह क्या मज़ाक है ?"

"मज़ाक नहीं पण्डितजी, सचमुच कह रहे हैं ।" उस व्यक्ति ने लगभग गिड़गिड़ाते हुए जवाब दिया । फिर हाथ जोड़कर बोला—

"आप ही का भरोसा है पण्डितजी । आप चाहेंगे तो यह काम हो जायेगा । दस-पन्द्रह लड़के अखाड़े पर सुबह-शाम आने भी लगे हैं, कसरत वगैरह करने लगे हैं । दण्ड-बैठक निकालते हैं । विधिवत अखाड़ा खुल जाये तो लाठी चलाने से लेकर आगे के और हुनर भी सिखाऊँ । बस आप ही का भरोसा है पण्डितजी । आप चाहेंगे तो काम बन जायेगा ।"

पत्रकार बन्धु सिर पकड़कर बैठे हुए थे । कुछ नाराजगी के स्वर में बोले—

"यह सब खुराफ़ात तुम लोगों के दिमाग में आती कैसे है ?"

"इसे खुराफ़ात न कहें पण्डितजी । यह तो समाज सेवा का काम है । युवा-शक्ति को अनुशासित और संगठित करने का काम है । संजयजी युवा नेता हैं, इसीसे उनसे उद्घाटन कराना चाहते हैं । हम वचन देते हैं कि यह अखाड़ा उन्हीं के नाम पर होगा और उन्हीं के इशारे पर चलेगा । 'संजय अखाड़ा' इसका नाम रखने का हम लोगों ने फ़ैसला किया है । यदि उनकी हम लोगों पर कृपादृष्टि करवा दें तो हम लोग खून की आखिरी बूंद तक उनके लिए बहाने को तैयार रहेंगे ।"

"अखाड़ा खोलने के सिवा और कोई काम क्यों नहीं करते ?" पत्रकार बन्धु ने कहा ।

"और क्या काम करें ? सब में नामा चाहिए, योग्यता चाहिए । फिर बड़ी प्रतियोगिता भी है । स्कूल खोल नहीं सकते । आप जानते ही हैं कि वह कितना कठिनकाम है । फिर मुझमें उसकी योग्यता भी नहीं । अखाड़ा आसान है । लालाजी ने अपने घर में बगल की खाली जमीन भी इसके लिए देने का वादा कर दिया है । बस उनकी भी शर्त यही है कि यह संजय अखाड़ा होगा और संजयजी उसका उद्घाटन करेंगे । हम भी यही चाहते हैं और अखाड़े के बच्चे भी यही चाहते हैं । यदि यह काम हो गया तो आगे भी कोई कठिनाई सामने नहीं आयेगी । आप लोगों का वरदहस्त होने से पुलिस भी चूं-चपड़ नहीं करेगी । आप लोगों की चीज होगी तो पैसे की भी कमी नहीं होगी । अब आप ही बताइए संजयजी का अखाड़ा है यह जानने पर किसकी हिम्मत होगी जो वक्त-जरूरत पैसे की मदद न करे ।"

"आप मानते हैं संजयजी आपको यह छूट न देंगे कि उनके नाम पर आप पैसा उगाहें ? इस भरोसे न रहियेगा । ऐसा करते यदि देखे गये तो सबसे पहले उनकी बिजली आप पर ही गिरेगी । आप उनको जानते नहीं हैं !" पत्रकार बन्धु ने ज़रा

डाँटकर कहा—

"हम खूब जानते हैं यह सब । उनके नाम पर आँच तक नहीं आयेगी । हमें तो पैसा माँगने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी । फिर उनका नाम लेकर पैसा माँगना ! छिः छिः, लानत है मुझ पर यदि कभी ऐसा विचार भी मन में आया हो । पण्डितजी, आप तो जानते ही हैं कि उनका नाम जुड़ा होने से पैसा अपने-आप आयेगा । उनके नाम से अखाड़ा हो, इतना काफी है । जनता अपने-आप पैसा देगी । और हम आप को यकीन दिलाते हैं कि हम जरूरत-भर को ही पैसे लेंगे—पट्ठों के दूध-बादाम और अखाड़े की देखभाल, साज-सामान-भर को । बाकी वापस कर देंगे । देश का पैसा है देश के काम में लगे । जनता की भलाई में लगे ।"

"ठीक है, पर संजयजी यह पसन्द नहीं करेंगे कि उनके नाम से अखाड़े चलें । कल से आप लोग 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ'-जैसी शाखाएँ संजयजी का नाम लेकर लगाने लगेंगे ! यह सब नहीं होगा ।"

"शाखाएँ लगाने को कौन कह रहा है ? हम जानते नहीं क्या ? हम तो अखाड़े की बात कह रहे हैं—युवाशक्ति को अनुशासित करने की बात । अब आप ही सोचिए जिस मोहल्ले में यह अखाड़ा होगा वहाँ अराजक तत्त्वों की सिर उठाने की हिम्मत पड़ेगी ? चोरी-चकारी, छीना-झपटी गुण्डागर्दी हो सकेगी···?"

पत्रकार के मन में आया कि कह दे कि तब गुण्डागर्दी आप लोग करेंगे, पर वह इन दोनों की बात में विघ्न नहीं डालना चाहता था । इसलिए चुप लगा गया । और वह व्यक्ति कहता गया—

"यह तो शान्ति-दस्ता होगा । शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में हम अपना योग देंगे । हम अपराधों की रोकथाम में पुलिस के मददगार होंगे । खाली कसरत ही नहीं करेंगे । हमसे जो काम कहा जायेगा, करेंगे । देश-हित में पीछे नहीं रहेंगे ।"

"आपके लिए तो युवा कांग्रेस है ही, आपकी क्या जरूरत है ?"

"युवा कांग्रेस तो बड़ी चीज है । हम तो छोटी बात कह रहे हैं । हम तो···हम तो सामाजिक अनुशासनयुक्त पट्ठे तैयार करके आपके हाथों में दे देंगे ताकि वे देश की सेवा कर सकें । आप यह प्रयोग करने का मौका तो दीजिए । सफल हो जाये तो मोहल्ले मोहल्ले में ऐसे अखाड़े खुल सकते हैं जो देश की प्रगति में हिस्सा लें । युवाशक्ति बने । संजयजी की युवा कांग्रेस के हाथ मजबूत करें ।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता । आप और पार्टियों से बात क्यों नहीं करते ?"

"और पार्टियों को मैं जानता हूँ । किसी में दम नहीं है । न उनकी अब कोई प्रतिष्ठा रह गयी है ।"

"फिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में चले जाइए ।"

"हम लोग साम्प्रदायिक नहीं हैं । राष्ट्रहित में काम करना चाहते हैं । गरीब और समाज के पिछड़े लोगों के साथ हैं । अपने अखाड़े का सपना हम किसी और

को नहीं दे सकते।" वह बोला।

फिर थोड़ी देर बाद पत्रकार बन्धु को चुप देख वह उनके पैर दबाकर गिड़-गिड़ाने लगा—"खुलवा दीजिए न पण्डितजी यह अखाड़ा। आपके गुन गायेंगे। आप पर मर-मिटने के लिए तैयार रहेंगे।"

पत्रकार बन्धु कुछ सोचते हुए बोले—"संजयजी इसके लिए राज़ी नहीं होंगे। ऐसे प्रचार से उन्हें सख्त नफ़रत है। उनकी कुछ नीतियाँ हैं, कुछ आदर्श हैं, कुछ कार्यक्रम हैं, उन पर चलिए, उन पर अमल कीजिए करवाइए। आप जानते हैं उनकी नीतियाँ ?"

"जानते क्यों नहीं पण्डितजी! कैसी बात करते हैं आप। बिना जाने ही अखाड़ा खोल रहे हैं! उनके पाँचसूत्री कार्यक्रम के लिए हम जी-जान से प्रतिबद्ध हैं। हमारे पट्ठों के होते हम देखेंगे कोई कैसे दहेज लेकर शादी करता है? बस एक दफ़े आप मन में तय कर लें, फिर सब ठीक हो जायेगा।" वह फिर पत्रकार बन्धु के पैर दबाने लगा।

पत्रकार बन्धु, इस स्तम्भकार को लगा, कुछ ढीले पड़ गये। उन्हें ढीला पड़ते देख वह व्यक्ति तुरन्त बोला—

"जरूरत हो तो हम आपके साथ चले चलें। हम अपनी बिनती कर लेंगे।"

पाठको! यह स्तम्भकार नहीं जानता कि आगे क्या होगा? पत्रकार बन्धु क्या करेंगे? इतना जरूर जानता है कि समाज में एक काफ़ी बड़ा वर्ग ऐसा पैदा हो गया है जो ऐसे सपने देखने लगा है, जिसका चरित्र बदलने लगा है। इस वर्ग से आप कैसे निपटेंगे ?

टिकटार्थी

जिस तरह बरसात में गाँव में हर जगह मेढक-ही-मेढक दिखायी देते हैं वैसे ही चुनावों के मौसम में राजधानी में हर जगह टिकटार्थी। मेढक की छलाँग से कम लम्बी टिकटार्थियों की छलाँग न मानी जाये, न उससे कम इनका आत्मविश्वास। इस आत्मविश्वास के बल पर ही तो मेढक आपकी झोंपड़ी के कोने में भी आकर बैठ जाता है कि एक छलाँग लगायी नहीं कि पानी में गुडुप्प। टिकटार्थी भी यही सोचता है कि एक बार नेता से बात हुई नहीं कि विधान सभा में गुडुप्प। सो पाठको, इस समय राजधानी में टिकटार्थी-ही-टिकटार्थी हैं। इन्हें आप कहीं भी देख सकते हैं—चाहे वह दलों के नेताओं का लान हो, चाहे संसद-सदस्यों का,

मन्त्रियों का, चाहे पार्टी-कार्यालयों का। खद्दर पहने, झोला लटकाये, तेज धूप में अँगोछा सिर पर रखे ये कहीं भी निर्विकल्प भाव से पड़े दिखायी दे सकते हैं।

उस दिन ऐसे ही एक टिकटार्थी अपने एक अखबारी मित्र का पता पूछते-पूछते इस स्तम्भकार के पास आ धमके। चिलचिलाती धूप सहते आये थे। बाल उड़ रहे थे। कन्धे पर झोला और अंगोछा। मुँह में पान भरे हुए। अखबारी मित्र जा चुके थे। स्तम्भकार ने उन्हें ठण्डी हवा में बैठाया, पूछा—

"कहाँ के रहनेवाले हैं?"

बड़े प्रेम से उन्होंने एक पूरबी जिले का नाम बताया।

"दिल्ली कैसे आना हुआ?"

"अरे यही दौड़ में।"

"टिकट के लिए?"

"और क्या? उसी के लिए दौड़ रहे हैं।"

"किस पार्टी के हैं?"

"देवीजी के···" फिर खी-खी करके हँसने लगे और उस हँसी के साथ कुर्सी पर उछलने लगे, मानो कुर्सी में स्प्रिंग लगी हो। स्तम्भकार उनके इस आधे वाक्य और हँसी का अर्थ समझने की कोशिश करने लगा। यदि वह इन्दिरा काँग्रेस के साथ हैं तो यह देवीजी कहने का क्या मतलब है? और फिर हँसने का? लेकिन तुरन्त ही समझ में आ गया कि वह देवीजी कहकर यह गुंजाइश रखना चाहता था कि यदि सुननेवाला इन्दिरा-समर्थक न हो तो कोई भी हर्ज नहीं। उसका कथन व्यंग्य माना जायेगा और उसकी हँसी उपेक्षा।

"इन्दिराजी से मिले हैं कभी?"

"नहीं, कभी नहीं?"

"संजयजी से?"

"नहीं, उनको भी नहीं जानते।"

"फिर टिकट कैसे मिलेगा?"

"···जी को जानता हूँ। बहुत अच्छी तरह। रोज का उठना-बैठना है। वह संजयजी को जानते हैं। ऐसा कर समझिए कि वह उन्हीं के आदमी हैं। उन्हीं के भरोसे आये हुए हैं।"

"उनसे मुलाकात हुई?"

उसकी हँसी एक क्षण के लिए गायब हो गयी।

"दे आर मर्डरर्स!" फिर तुरन्त शायद यह सोचकर कि सुननेवाले पर गलत असर पड़ेगा, गुस्सा दबाकर बोला—

"अभी तो नहीं हुई।"

"क्यों?"

इस 'गयी' पर लगता है वह तिलमिला गया। बोला—

"अरे! साला छः छः गुण्डे पाले हुए है—स्ट्रांगमैन—ऊ सब घुसने ही नहीं देता है।"

"कै दिन हो गये आये हुए?"

"छः दिन हो गये। बस टालता जाता है। ऊ सब मिलने ही नहीं देता। राजनीतिक हत्यारे हैं सब, पोलिटिकल मर्डरर्स।"

वह अंग्रेजी और हिन्दी साथ-साथ बोलता था। पहले हिन्दी में वाक्य कहता, फिर उसका अनुवाद अंग्रेजी में। उसको डर था कि कहीं वह पिछड़े हुए इलाके का पिछड़ा हुआ आदमी न मान लिया जाये। बात को दबंगई से कहता था, जो उसके हिसाब से नेतागिरी का गुण है भी। साथ-ही-साथ बेफिक्री की हँसी भी हँसता था। पर वह काफ़ी चिन्तित है यह इस स्तम्भकार से, उसकी लाख कोशिशों के बावजूद, छिपा न रह सका।

"आप वैसे करते क्या हैं?" स्तम्भकार ने पूछा।

"मैं···कालेज में लेक्चरार हूँ।"

"फिर राजनीति में क्यों आ रहे हैं?"

"शौक है—एम्बीशन। आप खद्दर पहनते हैं आपको भी पावर में जाने की एम्बीशन होगी। बस एम्बीशन है।" वह यह वाक्य कहकर हँसता रहा।

"आपको, क्या ख्याल है टिकट मिल जायेगा?"

"नहीं मिलेगा तो हम सी० पी० आई० में चले जायेंगे।"

"दल, बदल लेंगे?"

"आज तो सभी, दल बदल रहे हैं। यही तो पौलिटिक्स है।" और फिर इसी बात को बार-बार अंग्रेजी में कहकर वह ज़ोर-ज़ोर से हँसता रहा जैसे यह कितनी मामूली बात है और यह स्तम्भकार कितना अनाड़ी है कि इसे चिन्ता की बात मान रहा है।

"सी० पी० आई० छोड़ी क्यों?"

"जनता उसके साथ नहीं है। इधर वेव है, वेव। टिकट मिल जाये, समझिए जीत गये।" वह उठ खड़ा हुआ।

"बैठिए, कुछ चाय-वाय पीते जाइए।"

लेकिन वह इस तरह खड़ा हो गया था जैसे उसके बैठे रहने से टिकट 'गया' और जीत भी 'गयी'। लगता है अचानक उसे ख्याल आया हो कि कहीं वे 'स्ट्रांगमैन' हट गये हों और वह महज यहाँ बैठे रहने के कारण···जी को अपना चेहरा नहीं दिखा पा रहा हो।

"नहीं, चलेंगे, चाय पी है।" उसने कहा।

"कुछ खाते जाइए। यहाँ दिल्ली शहर में खाने-पीने की काफ़ी तकलीफ होगी।"

"नहीं, ऐसी तकलीफ़ नहीं है। चाय के साथ-साथ समोसा खाया है। हम लोग जनता के आदमी हैं भूख-प्यास असर नहीं करती।"

"ईश्वर करे आपको टिकट मिल जाये। आप विधानसभा में पहुँच जायें। जनता का भला हो। विधानसभा में चुने जाने पर क्या करेंगे?"

"अभी से क्या सोचें! पहले···जी के दर्शन तो हों।"

फिर अपने अखबारी मित्र के नाम एक चिट्ठी रखकर चले गये जिसमें लिखा था—"बहुत व्यस्त हूँ। अभी चार-पाँच दिन दिल्ली और रहूँगा। अब फिर गाँव आने पर ही मुलाकात होगी।"

"यदि टिकट नहीं मिला तो आपके इलाके की जनता को बड़ा क्षोभ होगा?" चलते-चलते स्तम्भकार ने पूछ लिया।

"जनता तो देवीजी की है। मुझे टिकट मिले या न मिले, क्या फ़र्क पड़ता है उससे। लेकिन इतना तय है कि यदि टिकट नहीं मिला तो मैं सी० पी० आई० में चला जाऊँगा।"

"सी० पी० आई० (एम) में क्यों नहीं?"

"एक ही बात है। सी० पी० आई० में पहले रहा हूँ···को जानता हूँ। अब वह भी टिकट देने के वक्त गुण्डे रखें तो बात दूसरी है। अच्छा चलते हैं।" फिर इसी बात को अंग्रेजी में कहकर वह चला गया।

लगा टिकट पाना, चुनाव लड़ना सब एक धन्धा हो गया है जिसके लिए किन्हीं सिद्धान्तों, जनसेवा आदि की जरूरत नहीं है। केवल जान-पहचान की जरूरत है। और सत्तालोलुप टिकटार्थी के लिए यह समझ पाना बहुत कठिन है कि जान-पहचानवाले इन दिनों मुँह क्यों चुराते हैं? क्या इसलिए कि भरोसेवाला आदमी सिद्ध करने के लिए जितनी निरीहता और कमअक्ली चाहिए वह यह नहीं दिखला पा रहा है? या और कुछ।

हमारे टिकटार्थी ने दरवाजे से लौटकर अपने अखबारी मित्र को लिखी वह दो लाइन की चिट्ठी फिर पढ़ी—शायद इसलिए कि जिस उथल-पुथल में वह था उसमें कहीं कुछ ऐसा न लिख गया हो जिससे कहीं मिलते-मिलते भी टिकट रह जाये···

जाँच-कमेटी बैठाओ और छुट्टी पाओ

दो आदमी सड़क पर खड़े बात कर रहे थे, बातचीत विषैली शराब पर थी जिसे पीकर बंगलूर में तीन सौ से अधिक व्यक्तियों की जानें गयीं।

"अब क्या होगा ?"

"जाँच-कमेटी बैठेगी।"

"यह तुमने ठीक कहा ! इस देश में प्रशासन का काम जांच-कमेटियाँ बैठाना ही है। अभी हम-तुम यहाँ खड़े हैं, यदि यहाँ की सड़क नीचे पाताल में चली जाये मय यातायात और दुकानों के, या वह सामने का पुल इस हवा में उड़कर दो मील दूर जा गिरे या यह बहुमंजिली इमारत उलटकर शीर्षासन करने लगे तो होगा कुछ नहीं; बस, जाँच-कमेटी बैठेगी। अब देखो ! पिछले दिनों इतनी बड़ी रेल दुर्घटना हो गयी—यूँ रोज होती रहती हैं—हुआ कुछ नहीं; बस, जांच-कमेटी ही बैठी है। बाढ़ आये सारा देश बह जाय, आग लगे सारा शहर जल जाये, दंगे हों, सारे आदमी मारे जायें, खानें फटें सब मजदूर रसातल जायें—कुछ भी हो बस जाँच-कमेटियाँ बैठती आयी हैं, बैठती रहेंगी। इस देश में प्रशासन का यही मूल मन्त्र है—जाँच-कमेटी बैठाओ, छुटी पाओ—"

"तो जहरीली शराब पीकर 331 आदमियों की छुट्टी हो गयी और कमेटी बैठाकर सरकार और प्रशासन को अपने काम से भी छुट्टी मिल गयी। आगे क्या होगा ? फिर जहरीली शराब बनेगी, फिर पी जायेगी, फिर आदमी मरेगा, फिर जाँच-कमेटी बैठेगी। अब तक कितने हादसे जहरीली शराब के हो चुके हैं ? याद है ? हर बार जाँच-कमेटी बैठी है। हुआ क्या ? यही कि और जहरीली शराब बनी, और लोग मरे। मरनेवालों की यह संख्या बढ़ती ही जा रही है। इतनी मौतें अब तक तो जहरीली शराब पीकर एक साथ इस देश में नहीं हुई थीं, सारी दुनिया में नहीं हुई होंगी ! इस बार की जाँच-कमेटी के बाद अगली बार मरनेवालों की संख्या और बढ़ जायेगी।"

अचानक एक तीसरा आदमी उनकी बातचीत में शामिल हो गया। उसने पूछा—"आखिर यह जाँच-कमेटियाँ रिपोर्ट तो देती होंगी, उन रिपोर्टों का क्या होता है ?"

"फाइलों के पेट में चली जाती हैं। इस देश में प्रशासन की फाइलें इस देश के आदमी से भी ज्यादा भूखी हैं। अब प्रशासन इस देश के आदमी की भूख के लिए तो कुछ कर नहीं पाता, पर फाइलों का पेट भरना खूब जानता है। इसमें वह बड़ा निपुण है। उन्हें एक क्षण भी भूखा नहीं रख सकता। फाइलें बढ़ती जा रही हैं। उनका पेट बढ़ता जा रहा है और सबकुछ उसीमें समाता जा रहा है।" एक ने कहा।

"मैं कहता हूँ जनसंख्या बढ़ने की चिन्ता न करो फाइल बढ़ने की चिन्ता करो। वह कम होने लगेंगी तो जनसंख्या भी कम होने लगेगी, दुर्घटनाएँ भी कम होने लगेंगी, जुल्म भी कम होने लगेगा। हर जाँच-कमेटी का मतलब एक और दफ्तर का और उसकी फाइलों का और फाइलों के पेट का बढ़ना शुरू होना है। सारी जहरीली शराब मय मरनेवालों के उनके पेट में समा जायेगी और वे डकार तक नहीं लेंगी।" दूसरे ने कहा।

"लेकिन जाँच-कमेटी जो रिपोर्ट देती है उस पर अमल तो होता होगा, होना चाहिए ?" तीसरे ने पूछा।

"'चाहिए' से इस देश के प्रशासन को कोई मतलब नहीं है। जाँच-कमेटी हाथी का दाँत है। कुछ न करने का बहाना और लोगों की जुबान बन्द करने का उपाय। कभी आपने देखा है कि जाँच-कमेटी की रिपोर्ट उसी तरह प्रसारित की गयी हो जैसी किसी जुल्म या दुर्घटना की रिपोर्ट ? और यदि थोड़ी-बहुत सामने लायी भी गयी तो उनके दोषियों को दण्ड दिये जाने की खबर आयी हो ! और यदि यह दोनों बातें कुछ हद तक हो भी गयी हों तो तीसरी बात जो जाँच-कमेटी का उद्देश्य होता है कि उन कारणों की पड़ताल करे जिनसे जुल्म या दुर्घटना हुई और उन कारणों के पीछे छिपी ताकतों की पहचान और उनसे लड़ाई के स्तर पर निपटने की कार्य-वाही सुझाये—यह तो न अभी तक हुआ है, न आगे कभी होगा। क्योंकि इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे से है। जहरीली शराब बेचनेवाला दूकानदार या एजेण्ट तो पकड़ा भी जा सकता है लेकिन वह पैसेवाला गिरोह (माफिया) जो यह शराब बनाने का धन्धा करता है, उसका बाल भी बाँका नहीं होगा क्योंकि वह आपकी राजनीति का पुर्जा है, उसके पैसे की नींव पर ही आप सत्ता और प्रशासन की इमारत खड़ी किये हुए हैं।"

"यानी आप ही जहरीली शराब बनाते हैं, पिलाकर मारते हैं और आप ही जाँच-कमेटी बैठाते हैं और आप ही उसकी रपट लिखते हैं और आप ही दिखावटी कार्यवाही करते हैं। और फिर आप ही अगली दुर्घटना तक के लिए फाइल को बन्द करके रख देते हैं।"

पहले की बात में अपनी बात जोड़ते हुए दूसरे ने कहा और तीसरा सिर झुका कर चला गया। उसे जाते देख दोनों गाने लगे—

क्या शान से बैठी हुई है जाँच-कमेटी
क्या जान के बैठी हुई है जाँच-कमेटी
क्या मान के बैठी हुई है जाँच-कमेटी
क्या ठान के बैठी हुई है जाँच-कमेटी
यह राज कभी भी नहीं तुम जान पाओगे
मरते रहोगे यूँ ही और मारे जाओगे।

एक जोरदार राष्ट्रपति से आप वंचित रह गये

"मैं भी राष्ट्रपति-पद के लिए खड़ा होना चाहता हूँ।"

"आप ?" स्तम्भकार शर्माजी को अवाक् देख रहा था।

"क्यों ? मैं राष्ट्रपति-भवन में रहना चाहता हूँ, बग्घी पर बैठना चाहता हूँ, साफ कहता हूँ झूठ नहीं बोलता। मैं उन लोगों में नहीं हूँ कि घोषणा कर दूँ कि मैं साधारण घर में रहूँगा, राष्ट्रपति-भवन में नहीं, फिर पूरे पाँच साल राष्ट्रपति-भवन में डटा रहूँ।"

"आपको राष्ट्रपति-भवन में रहना है तो आपको दरबान बनवा देता हूँ और बग्घी पर बैठना है तो सईस।"

शर्माजी इस मजाक पर आग-बबूला हो गये, बोले—

"मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ। कोई भी जागरूक नागरिक राष्ट्रपति-पद के लिए खड़ा हो सकता है। मेरा आचरण स्वच्छ है। मुझ पर कोई अभियोगपत्र अदालत में दाखिल नहीं हुआ और न ही मैं अभियुक्त हूँ। राष्ट्रपति-भवन में रहने की बात मैंने जानबूझकर कही थी क्योंकि सादगी, मितव्ययिता, निष्पक्षता की शेखी बघारना मैं गलत मानता हूँ। यदि ऐसी शेखी बघारनेवाले लोग राष्ट्रपति हो सकते हैं, ऐसे अभियोगसिद्ध लोग राष्ट्रपति पद के लिए खड़े हो सकते हैं तो मैं क्यों नहीं हो सकता ? मैं प्रगतिशील विचारों का अच्छा-खासा पढ़ा-लिखा, समाज और राष्ट्र की सेवा का उज्ज्वल रेकार्ड रखनेवाला, निष्पक्ष व्यक्ति हूँ। मैं क्यों नहीं खड़ा हो सकता ?"

वह 23 जून थी। सुबह की चाय पर इस स्तम्भकार के साथ प्रतिपक्ष के दो-तीन महापुरुष भी बैठे हुए थे। उन्होंने शर्माजी की गम्भीरता को तरजीह देते हुए कहा —

"जरूर खड़े हो सकते हैं। अभी तीन बजे तक का समय है। लेकिन आप यह तो बताइए कि आप राष्ट्रपति हो जाने के बाद करेंगे क्या ?"

"मैं राष्ट्रपति के अधिकारों का उपयोग करूँगा। अभी तक भारत के किसी भी राष्ट्रपति ने अपने अधिकारों का उपयोग नहीं किया। मैं करूँगा। भारत के राष्ट्रपति को दुनिया के किसी भी देश के राष्ट्रपति से अधिक अधिकार प्राप्त हैं। लेकिन हमारे राष्ट्रपति उनका उपयोग नहीं करते। प्रधानमन्त्री की मोहर बनकर रह जाते हैं। मैं मोहर बनकर नहीं रहूँगा। अपना कर्त्तव्य प्रधानमन्त्री के प्रति नहीं, राष्ट्र के प्रति निभाऊँगा।"

"संविधान के अनुसार आपको मन्त्रिपरिषद यानी प्रधानमन्त्री की राय पर चलना पड़ेगा।"

"हाँ, तब तक जब तक मन्त्रिपरिषद देश को कल्याण के रास्ते पर ले जा रही हो। यदि राष्ट्रपति को लगे कि देश की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है, वह लड़-खड़ा रही है तो वह संसद को भंग कर सकता है।"

"आप क्या संसद को भंग कर देंगे ?"

"हाँ, राष्ट्रपति होते ही मैं संसद को भंग कर दूँगा। जैसी आर्थिक विषमता, महँगाई, भ्रष्टाचार, लूटमार, हिंसा, प्रशासनिक अव्यवस्था, पुलिस की नृशंसता, सत्ताधारियों द्वारा अधिकारों के दुरुपयोग का काला अमानवीय रूप, बेरोजगारी, अर्थहीन शिक्षा का दारुण अभिशाप चारों ओर दीखता है, उसमें इसके अलावा और कोई चारा नहीं।"

"क्या आप समझते हैं संसद भंग करने से सब ठीक हो जायेगा।"

"हाँ, कुछ दिनों के लिए राष्ट्रपति के रूप में शासन मैं अपने हाथ में लूँगा। नौकरशाही को कसूँगा, उसका चरित्र बदलूँगा, उसे मन्त्रियों, संसद-सदस्यों, विधायकों के चंगुल से मुक्त करूँगा, सारे भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, लूटपाट के मूल में ये ही लोग हैं जिनके हाथ में सत्ता है। ये खुद को सत्ता में बनाये रखने के लिए कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। इनके हाथ से शासन छीनना होगा।"

"और क्या करेंगे आप ?"

"मैं सेना को सांस्कृतिक मोर्चे पर लगाऊँगा। गाँव-गाँव, शहर-शहर, राष्ट्र का चरित्र बदलने के लिए सेना काम करेगी। धर्म, अन्धविश्वास, अशिक्षा सबसे युद्ध के स्तर पर सेना निबटेगी। इधर स्वच्छ-सख्त प्रशासन, उधर चरित्र में संस्कृति की प्रतिष्ठा —मैं देश का कायाकल्प कर दूँगा। कोई भी राष्ट्रपति अपने अधिकारों का उपयोग करके यह काम कर सकता है। हमारी प्रशासनिक क्षमता कमजोर नहीं है लेकिन घटिया राजनीतिज्ञ उसका अपने निजी और दलगत स्वार्थों के लिए इस्तेमाल कर उसे जड़ से उखाड़े हुए हैं। उसकी पुनर्प्रतिष्ठा जरूरी है। राष्ट्रपति यह कर सकता है। मैं राष्ट्रपति हो जाने पर यह करूँगा। लाखों रुपये रोज विदेशी मेहमानों पर खर्च होते हैं, शान-शौकत, टीमटाम पर करोड़ों स्वाहा होता है। मैं सब रोकूँगा। तब तक के लिए जब तक हम आर्थिक रूप से सम्भल नहीं जाते, जिस घड़े के पेंदे में सैकड़ों छेद हों उसमें पानी भरने की प्रगति का छद्म मैं नहीं चलाऊँगा। मैं राष्ट्रपति हो-ची मिन्ह की तरह सादगी को, मितव्ययिता को, प्रगति के मूला-धारों को ठीक-ठीक अपने समाज में, अपने राष्ट्र के मन में प्रतिष्ठित करूँगा, और कुछ दिन के लिए वर्तमान सत्ता की काजल की कोठरी को बन्द कर दूँगा···"

स्तम्भकार ने देखा कि शर्माजी की बात से प्रतिपक्षी महापुरुषों के भी चेहरों पर कुटिल मुस्कान है—

"क्या आप शर्माजी के कार्यक्रम से सहमत नहीं हैं ?"

"संसद तो जरूरी है। यह तो तानाशाही हुई। राष्ट्रपति की तानाशाही हम

नहीं चाहते ।"

स्तम्भकार को लगा ये लोग वह ज़मीन छिन जाने की आशंका से पीड़ित हैं जहाँ अपने-अपने दलों के सिद्धान्तों के नाम पर ये भविष्य में कभी सत्ता में आने पर अपनी धाँधली चलाने के ख्वाब देख रहे हैं । "मैं संसद हमेशा के लिए तो भंग नहीं करूँगा, केवल वर्तमान संसद और मन्त्रिपरिषद को कुछ दिनों के लिए भंग कर देश को सम्हालूँगा । फिर हवा बदल जाने पर, एक नया सिलसिला शुरू हो जाने पर शायद सही सांसद आयें, सही मन्त्रिपरिषद बने, जिसकी राय से मुझे काम करने में किसी सार्थक कर्म करने का सन्तोष मिले !"

लेकिन महापुरुष लोग सिर हिला रहे थे । जब ये चार व्यक्ति उनकी बात से सहमत नहीं हो पा रहे थे तो यह आशा करना कि दस सांसद उनके नामांकन पत्र पर हस्ताक्षर कर देंगे, बेकार था । सो शर्माजी राष्ट्रपति पद के लिए अपना नामांकन पत्र नहीं दाखिल कर सके और आप एक जोरदार राष्ट्रपति की सेवाओं से वंचित रह गये ।

अखिल भारतीय बकरा-यूनियन

जब से अखबार में यह खबर छपी है कि बिहार के मुख्यमन्त्री जगन्नाथ मिश्र ने चारों ओर की विपत्तियाँ टालने के लिए किसी तान्त्रिक की सलाह से 108 बकरों के खून से स्नान किया है तब से इस देश के बकरों में काफी खलबली मच गयी है । अखबार में छपी बात सच ही मानी जाती है । झूठ-सच का पता लगाने के लिए कोई भागता नहीं फिरता । अतः इस खबर को सच मानकर और उससे चिन्तित होकर पिछले दिनों बकरों ने एक यूनियन बनायी है—'अखिल भारतीय बकरा-यूनियन' । उसके अध्यक्ष किसी जादूगर जैसी दाढ़ी फटकारते, गंधाते अभी दो दिन पहले सीढ़ियों पर उछलकर चढ़ते हुए इस स्तम्भकार के कमरे में घुस आये—

"कहिए, आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?" आये मेहमान से यह पूछना ही पड़ता है ।

"आप हमारी यूनियन के बारे में अपनी पत्रिका में छाप दीजिए ।"

"देखिए, हमारी पत्रिका से आपको उतना प्रचार नहीं मिलेगा, जितना अंग्रेजी पत्रिका से मिलेगा । आप **अरुण शौरी** के पास क्यों नहीं जाते ?"

"आप घर के आदमी हैं, आपको हम लोग जानते हैं । जब से आपने **बकरी** लिखी है तब से हम लोगों की जमात में आपके प्रति अपनत्व है । आपको हमारी

चिन्ता है । दूसरों को हमारी चिन्ता क्यों होने लगी ।"

"आपकी यूनियन रजिस्टर्ड हो गयी ?"

"अभी कहाँ ! कहाँ कैसे होता है यह हम लोग जानते नहीं । इसी के लिए आपकी मदद चाहिए ।"

"कितने सदस्य हैं आपके ?"

"बकरे-बकरी मिलाकर तो काफी हैं, करोड़ों में । लेकिन हमने सदस्यता खुली रखी है । उन आदमियों को भी हम लोग अपनी यूनियन में शामिल कर लेंगे, जिनकी बकरा-प्रकृति हो—हमारी तरह सीधे, निरीह, कम में गुजर करनेवाले हों और दूसरों के स्वाद के लिए अपने को कटा देने के खिलाफ सिवा मिमियाने के और कुछ न कर पाते हों । फिर तादाद और बढ़ जायेगी । काफी हो जायेगी ।"

"आपके यूनियन बनाने से क्या फायदा होगा ? लड़ेंगे आप लोग ? सींगों का इस्तेमाल करेंगे ?"

"देखिए, हम जंगली पशु तो हो नहीं सकते कि दूसरे को फाड़ खायें । हिंसा हमारी प्रकृति नहीं है । लेकिन किसी एक के कटने पर हम एक साथ शोर तो मचा सकते हैं, एक साथ मिमिया सकते हैं ।"

"इससे क्या होगा ?"

"इससे ? हमारी एकता देख दूसरे दौड़े आयेंगे । हमें बचायेंगे ।"

"देखिए, अजापति साहब ! कमजोरों की एकता का भी तभी कुछ मतलब होता है, जब वे लड़ने की कोशिश करें । लोग लड़ाई का साथ देते हैं । जो खुद नहीं लड़ता, खाली चिल्लाता है—अकेले या तमाम लोगों के साथ मिलकर भी, उसका साथ कोई नहीं देता । यूनियन का मतलब लड़ाई है । यदि आपने बकरा-यूनियन इसलिए बनायी है कि आप, आपके साथ जो अन्याय होता है उसके लिए लड़ेंगे, तब तो ठीक है, लोग आपका साथ देंगे, और यदि केवल चिल्लाने के लिए बनायी है तो सचमुच में साथ कोई नहीं देगा । आपको डरकर मिमियाते देख हमदर्दी भले दिखा दें ।"

"देखिए, आज एक मुख्यमन्त्री ने हमारे 108 भाइयों को काट डाला । इतने मुख्यमन्त्री हैं, कल को सब काटने लगें और हमारे खून से नहाने लगें तो हमारी जमात तो नाहक खत्म हो जायेगी । आप इन्सानों की सेवा का व्रत हमारे पूर्वजों ने लिया था । भगवान से न पंजे माँगे और न दाँत माँगे शेर और भेड़ियों की तरह, न सींग और ताकत माँगी जंगली भैंसों की तरह । हमने कुछ नहीं माँगा । खाने के लिए भी वही घास माँगी जो आपके लिए बेकार है, जिसे आप रौंदते रहते हैं ! इसीलिए कि चलो आप आदमी लोग अकलवाले हैं, दुनिया को बेहतर चला सकते हैं, आपके आश्रय से धरती हमारे लिए ज्यादा हरी-भरी रहेगी । अतः आपकी भूख के लिए, आपके स्वाद के लिए जब जरूरत हो हम खुद को चुपचाप अर्पित कर

देंगे। पर अब तो आप लोग हमारे खून से नहाने लगे। हमारा खून व्यर्थ बहाने लगे। इस व्यर्थ की खून खराबी से हम घबरा गये हैं। क्या करते! सोचा, यूनियन बना लें। यह रास्ता भी आप आदमी-लोगों ने ही दिखाया है।"

"देखिए, यदि हम यह खबर छाप भी दें कि अखिल भारतीय स्तर पर बकरों की यूनियन बन गयी है और उसमें बकरे ही नहीं उन्हीं की प्रकृति के सीधे-सादे करोड़ों आदमी भी हैं जो अपने प्रति अन्याय पर चिल्लायेंगे, तो भी सरकार के कान पर कोई जूँ नहीं रेंगेगी। उसे रत्ती-भर आपकी यूनियन की परवाह नहीं होगी। वह इसी तरह अपने मुख्यमन्त्रियों को छुट्टा छोड़े रहेगी कि वे आपको काटें, नहायें और हो सकता है कि कल को सत्ता पक्ष का हर मन्त्री, सांसद, विधायक आपके रक्त से स्नान कर विपत्तियों को मार गिराने की शक्ति हासिल करने की होड़ में लग जाये। अब जो स्थिति है उसमें आपका खून और ज्यादा बहेगा। नाहक बहेगा! यूनियन से कुछ नहीं होगा। हाँ, आप अपनी यूनियन के लिए राष्ट्र नेताओं की, सत्ता के महापुरुषों की शुभकामना वगैरह चाहते हों तो वह जरूर मिल जायेगी। आगे चलकर मन्त्री वगैरह बनना चाहें, विदेशों की घास का स्वाद लेना चाहें, वह सब भी हो जायेगा। सरकार को यूनियन बनाने से कोई एतराज नहीं है —हड़ताल और लड़ाई वगैरह से एतराज है। आप यदि यह सब नहीं करेंगे तो न आपको कुछ फायदा, न किसी को कुछ एतराज—बनाये रहिए। अखबार में छापने या न छापने से कोई फायदा नहीं।"

अजापति महोदय कुछ देर तक चुपचाप जुगाली करते रहे। उनकी पीली आँख का विराम चमकता रहा। फिर उठे और छोटी-सी पूँछ हिलाकर बोले—"हम लड़ेंगे। पहले हम विरोध प्रकट कर रहे हैं।"

"किस चीज का?"

"हमारे काटे जाने की खबर को लेकर यह जो बिहार के मुख्यमन्त्री ने काला प्रेस विधेयक पारित करवाया है उस पर। इसे तो छाप देंगे आप?"

"यह छाप देंगे।"

"तो हमारा बयान छाप दीजिए—"

'हम खून बहाने के आदी हैं। यदि यह विधेयक केन्द्र द्वारा स्वीकार किया गया और उन लोगों की लिखने की आजादी छीनी गयी जिन्होंने हम बेजबान लोगों के नाहक खून बहाने की बात को देश के सामने रखा है, रखते हैं, तो हम अपने करोड़ों सदस्यों के खून की बाढ़ में इसे और इसे लागू करनेवालों को बहा ले जायेंगे। देश को हमारे खून से लाल होने से बचाइए।'

सो पाठकगण! अखिल भारतीय बकरा-यूनियन के अध्यक्ष अजापतिजी का बयान हम छाप रहे हैं। आप में से जो इस यूनियन के सदस्य बनने के योग्य हों और बनना चाहते हों, उनसे सम्पर्क कर लें।

बाबाजी का टेप

इस स्तम्भकार को एक अखबारनवीस ने जो रायबरेली का दौरा करके लौटे हैं, बताया कि उन्हें मालूम हुआ है कि इन्दिराजी के खिलाफ़ चुनाव प्रचार में एक रहस्यमय टेप का इस्तेमाल किया जायेगा। इन्दिराजी हाल ही में कानपुर में जाकर जयगुरुदेव से मिली थीं और उनसे कोई अस्सी मिनट तक बातचीत की थी। इसी बातचीत के बारे में संवाददाताओं के यह पूछने पर कि क्या वह जयगुरुदेव से आशीर्वाद लेने गयी थीं, उन्होंने जवाब दिया था कि वह आशीर्वाद नहीं लेतीं। यह पूछने पर कि क्या वह जयगुरुदेव से राजनीतिक बातचीत करने गयी थीं, वह चुप रही थीं। अखबारनवीस का कहना है कि उसे पता चला है कि इन्दिराजी जयगुरुदेव का समर्थन प्राप्त करने गयी थीं, जिनका पिछड़ी जातियों में काफ़ी प्रभुत्व है। उन्होंने जयगुरुदेव से जब समर्थन के लिए कहा तो जयगुरुदेव ने साफ मना कर दिया और कहा कि 'आपने आपात्काल में मुझे गिरफ्तार किया था, अतः मैं आपको समर्थन नहीं दूँगा।' इन्दिराजी ने कहा कि उनको उनकी गिरफ्तारी के बारे में कुछ नहीं मालूम। जयगुरुदेव ने कहा—'यह कैसे हो सकता है कि बिना आपके आदेश के मुझे गिरफ्तार किया गया हो। मुझे गिरफ्तार करके कानपुर से बेंगलूर और फिर वहाँ से दिल्ली के तिहाड़ जेल ले जाया गया। यह कानपुर का जिलाधीश नहीं कर सकता था। यह केन्द्र के आदेश से किया गया।' कहते हैं इन्दिराजी ने समर्थन के लिए बड़ी मिन्नतें कीं पर जयगुरुदेव उन्हें समर्थन न देने के अपने निश्चय से टस-से-मस नहीं हुए। इन्दिराजी और जयगुरुदेव की यह सारी वार्ता टेप कर ली गयी है और समय आने पर चुनाव-प्रचार के दौरान उसे इन्दिराजी के खिलाफ इस्तेमाल किया जायेगा, रायबरेली के मतदाताओं को सुनाया जायेगा।

शर्माजी को इस स्तम्भकार ने जब यह सब बताया तो उन्होंने इस प्रवृत्ति की निन्दा की, बोले—'यह कोई अच्छी बात नहीं है। चुनाव में कौन समर्थन माँगने नही जाता। यदि वह सब टेप करके सुनाया जाने लगे तो कितनी गड़बड़ी फैल जायेगी। कौन पार्टी इस तरह के जोड़तोड़ नहीं कर रही है। आप विचार कीजिए इन्दिरा गाँधी-इमाम की बातचीत, इन्दिरा गाँधी-जगजीवनराम की बातचीत, राजनारायण-संजय की बातचीत, चरणसिंह और इन्दिरा गाँधी की बातचीत, तथा अन्य नेताओं के समाज के प्रभावशाली लोगों से बातचीत टेप करके एक साथ किसी चुनाव-क्षेत्र में सुनायी जाने लगें तो क्या हाल होगा? इतना ही नहीं, जयगुरुदेव से अन्य दलों के लोगों ने जो बातचीत की है या करेंगे, वह सब टेप कर लिया जाये तो किसकी कलई खुलेगी? और उससे क्या फायदा होगा? दरअसल

मतदाताओं को यह बताने की जरूरत नहीं है कि कौन कितना नकली है। मतदाता इसे अच्छी तरह जानता है, इन्दिरा गाँधी कितना झूठ बोलती हैं और दूसरे नेता कितना झूठ बोलते हैं यह भी उससे छिपा नहीं है। उसे तो यह बताना है कि किसका झूठ ज्यादा खतरनाक है। एक तानाशाह का झूठ ज्यादा खतरनाक है या एक गैर-तानाशाह का? एक तानाशाह का आश्वासन ज्यादा छलनेवाला होता है या एक गैर-तानाशाह का? एक तानाशाह की दोस्ती ज्यादा अवसरवादिता से भरी होती है या एक गैर-तानाशाह की? मतदाता को तो केवल यह बताना है कि किसका मुखौटा ज्यादा भ्रम उपजाता है, तानाशाह का या गैर-तानाशाह का? और इसके लिए टेप का इस्तेमाल नकारात्मक इस्तेमाल होगा, प्रचार को भोंडा बनायेगा, स्वस्थ नहीं। मतदाता को तो यह बताना है कि तानाशाही की परम्परा क्या है? दुनिया के तानाशाहों ने अपनी दोस्ती-आश्वासनों से क्या किया है और किस मुखौटे से? मतदाता इन्दिरा गाँधी को पहचानता है, आपात्काल की यातना को भी जानता है। लेकिन तानाशाह ताकत पाने पर किस हद तक जा सकता है, इसका उसे पता नहीं है, यह इतिहास उसे बताना है। एक बाबाजी का टेप सुनाकर क्या होगा?

अब काम लो

"किसको वोट दिया?"

"जो जीते साहब समझौ वही को वोट दिया।"

"कौन जीतेगा?"

"जेकरे ज़्यादा माया होगी।"

"किसके पास ज्यादा माया है?"

"ई का मालूम साहब। जहाँ गुड़ वहीं मक्खी। जहाँ ढेर मनई, वहीं ढेर माया।"

"किस पार्टी में ज्यादा कार्यकर्त्ता थे?"

"सबही के पास।"

इतना कहकर वह हँसने लगा। शायद वह इस बात पर हँसा कि उसने इस स्तम्भकार की चालाकी भाँप ली और जवाब नहीं दिया सो नहीं दिया। अब गाँव का आदमी ज्यादा होशियार हो गया है। यदि वह न चाहे तो आप उससे कुछ कबुलवा नहीं सकते। वह ऐसे शब्दों के पैंतरे दिखायेगा कि तथाकथित पढ़े-लिखों के छक्के छूट जायें।

"लेकिन इन्दिरा कांग्रेस के पास ज्यादा आदमी थे।"

"रहिन तो, पर जनता पार्टियो के कम नाही रहिन।"

"तुमने किसे वोट दिया?"

"अब जो जीते साहब…"

वह फिर हँसने लगा। बात वहीं-की-वहीं रह गयी। फिर थोड़ा सोचकर और गम्भीर होकर बोला—

"काहे पूछत हौ साहेब?"

"अरे! ऐसे ही जानने के लिए।"

"का किहा जाई जान के? अब हीं तो दुसमन लोग आपन दुसमनी निकरि हैं। जीतै वाले से कहि हैं ई सार वोट नाही दिहिस रहा।"

लगा यह डर उसे है कि जीतनेवाले की निगाहों से उसे गिराया जायेगा और उसके शत्रु लोग यानी जीतनेवाले के चापलूस लोग इस बात का प्रचार करेंगे कि उसके साथियों को छोड़कर और किसी ने उसे वोट नहीं दिया। और यह मतदाता फिर अकेला छूट जायेगा। उससे आगे बात करके पता चला कि हर बार यही होता है। हरिजन लोग वोट देते हैं और जीत जाने के बाद विजयी नेता के लोगों से यह भी सुनते हैं कि उन्होंने वोट नहीं दिया। प्रतिद्वन्द्वी को वोट दिया था। जो हार गया—'जिसे वोट दिया था उसी से काम कराओ।' काम न करने का एक स्थायी बहाना उनकी जबान पर रहता है।

"तब क्या करते हो?"

"अरे साहब! कउन ई सोच के वोट देत है कि ई कुछ करिहैं। ई सब जानत हैं कि ई कुछ नाही करत।"

उनकी बात से लगा कि हरिजन मतदाता इस नतीजे पर पहुँचकर वोट देता है कि कोई कुछ नहीं करेगा। किसी को कुछ करना भी नहीं है। वोट ले के गद्दी पर बैठना है। और उसे मात्र गद्दी तक पहुँचने में उनका साधन बनना है। उसे कोई खास फ़र्क भी नहीं पड़ता। एक के लिए साधन नहीं बना, दूसरे के लिए बन गया। कौन तानाशाह है, कौन साम्प्रदायिक, कौन धर्मात्मा, इससे उसे कोई मतलब नहीं। उसके लिए सब एक-जैसे हैं यानी उसके लिए कुछ न करनेवाले। अब इन कुछ न करनेवालों में से उसे किसी एक को वोट देना है, किसी एक को उसने वोट दिया है। क्यों दिया? इसका कारण उसके मन में साफ़ है—

"अरे! गाँव के पंच चार बार घरे आये। मुँह खोल कै, हाथ जोरि कै वोट माँगिन। अरे केऊ हाथ जोरि कै माँगै और हम न देई ई, कस होई सकत है। हम कौनो लाट साहब तो नहि ना।"

"पैसा भी दिया?"

"अब पता नहीं साहेब। हमका पाँच रुपया मिला। पंचन कै ढेर मिला होई। पर हम रुपया खातिर वोट नाहीं दिया।"

"फिर किसलिए दिया ?"

"अरे ! अब आपही कुछ करै के कहौ, न करब ? बड़मनई जौन कहैं, करै के पड़त है।"

"मुरव्वत में आ गये ?"

"इहै समझ लो। अब 'नाहीं' नाहीं करत बनत।"

"लेकिन अब वह तो तुम्हारे काम आवेंगे नहीं।"

"चलौ, अपने काम आवैं। हम आपन धर्म किहा, ऊ आपन धर्म करैं।"

और यह कहकर निष्काम कर्म की दीपशिखा उसमें जलने लगी। यह गीता सब जगह घुसी है। और जो जितना शोषित है, उसमें उतनी ही ज्यादा है। यह स्तम्भकार सोचने लगा कि उसमें यह भाव क्यों नहीं है कि हमारे वोट पर जीता आदमी काम कैसे नहीं करेगा ? गरदन पकड़कर उससे काम करायेंगे। वह कैसे यह कहकर छुट्टी पा गया कि हमने अपना धर्म किया, वह अपना धर्म करे या ना करे। उसके इस जवाब से स्तम्भकार तिलमिला गया। न करनेवाले की बदमाशी से ज्यादा न करने की छूट देनेवाली सज्जनता पर गुस्सा आया। इसने कहा—

'कैसे नहीं करेंगे ! जब वोट दिया है तो कान पकड़कर काम करवाना तुम्हारा हक बनता है। मतदाता को देखना चाहिए कि उसके मतों पर जीतनेवाले उसकी बेहतरी के लिए काम करें, उसका अँधेरा दूर करें।"

"अन्हेरा ऊ पहिले अपनै घर का दूर करिहैं।" वह व्यंग्य में बोला। इस बार हँसा या मुस्कराया नहीं। कुछ सोचने लगा।

यह स्तम्भकार चाहता है कि यह सोच ग्रामीण भाइयों में, पिछड़ी जातियों में शुरू हो। वह अपना हक समझें। यह भी समझें कि जो-जो वायदे चुनाव के वक्त उनसे किये गये हैं, उन्हें पूरा करवाना उनका फर्ज है। नेताओं को उनके धर्म पर न छोड़ दें। यदि वह किये गये वायदे पूरे नहीं करते हैं तो उनको अपने निर्वाचन क्षेत्र में घुसने न दें, उनका घेराव करें और उन्हें वापस बुलाने की माँग उठायें, जन अदालतें बनायें और उन पर मुकद्दमा चलायें। अन्यथा यह चुनाव-चक्र टूटेगा नहीं। गरीब आदमी के सामने हाथ जोड़कर उसकी शराफत का नाजायज फायदा उठाकर आप पैसे और ताक़त से उसका वोट हासिल करेंगे और जीत जाने पर अपना घर भरेंगे, उसे भूल जायेंगे।

इस बार जो भी दल सत्ता में आये, उससे कहना होगा कि वह अपने घोषणापत्र पर अमल करे। खाली अमल करने का वचन ही न दे, यह भी बताये कि कौन-सा काम कितने समय में पूरा करेगा। और देशों में घोषणापत्र में यह साफ बताया जाता है कि क्या करेंगे और कब तक करेंगे। यहाँ इसकी जरूरत लोग नहीं

समझते। बहुत छूट मिल गयी है नेताओं को इस देश में। न वह कुछ करना चाहते हैं और न हम उन्हें कुछ करने के लिए मजबूर करना चाहते हैं। इस चुनाव के बाद यह नहीं चलना चाहिए। लोक-प्रतिनिधियों से टकराना होगा और उन्हें बताना होगा कि अब वे बिना अपने घोषणापत्र के अनुरूप काम किये समाज में वापस नहीं लौट सकते, न स्वीकार किये जा सकते हैं। उन्हें काम के लिए मजबूर करने से ही लोककर्म की शुरुआत होगी जिधर से होकर क्रान्ति का रास्ता है।

असली जगजीवन राम की खोज

उस दिन एक संवाददाता इस स्तम्भकार के पास आये और बोले—"राजनीति में ऐयारी का युग आ गया है।"

फिर चारों ओर देखने लगे चौकन्नी नजर से।

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि असली जगजीवन राम को गायब कर दिया गया है और उनकी जगह कोई ऐयार जगजीवन राम बनकर आ गया है। अभी तक चन्द्रकान्ता और भूतनाथ में ही इस तरह के ऐयारों का जिक्र पढ़ते थे, अब आँखों के सामने देख भी रहे हैं। लेकिन, साहब, मानना पड़ेगा कि क्या सफाई से वेष बदला है—आप पहचान ही नहीं सकते कि यह कोई दूसरा आदमी है। वही आकार-प्रकार, वैसा ही मुखमण्डल, यहाँ तक कि वैसी ही हँसी भी। कोई भाँप नहीं सकता कि यह दूसरा आदमी है। सभी बाबूजी-बाबूजी उसे कह रहे हैं।"

"अंकल, आप लोग कैसे पहचान गये ?" पड़ोस के एक लड़के ने जो इस स्तम्भकार के पास बैठा था, उत्सुक होकर पूछा।

"मैं उड़ती चिड़िया भाँप लेता हूँ। बड़ी तीखी नजर चाहिए इसके लिए। मैं चेहरे पर नहीं जाता, उससे पकड़ पाना मुश्किल है। गौर से देखने पर मुस्कान में थोड़ा फर्क मिलता है। इसकी मुस्कान थोड़ी फीकी है। लेकिन उससे पकड़ पाना आसान नहीं। चलने-फिरने, उठने-बैठने का ढंग भी बिल्कुल वैसा है जैसा बाबूजी का था।"

"फिर कैसे पता चला यह ऐयार है, दूसरा आदमी है, बाबूजी नहीं हैं ?" लड़के ने और उत्सुक होकर पूछा।

"बातचीत से।"

"आवाज में फर्क है ?"

"नहीं, आवाज बिल्कुल बाबूजी की तरह बना रखी है।"

"फिर ?"

"सवालों का जवाब देने में इस बार वह चूक गया। बस उससे ही मैं समझ गया। मैंने किसी को बताया नहीं। ऐयार को पता चल जाये कि वह पहचान लिया गया है तो बड़ा खतरा होता है। लेकिन हम अखबारवालों को यह खतरा उठाना ही पड़ता है। अब असल में काम तो यह है कि अपने प्यारे बाबूजी की खोज की जाये। वह जाने कहाँ होंगे, किस मुसीबत में होंगे? यह पता लगाना ही होगा कि उन्हें कौन उड़ा ले गया है? और यह दूसरा आदमी कौन है, किसका है—बिना यह जाने हुए भारतीय राजनीति की सबसे अहम गुत्थी नहीं सुलझ सकती। अब देखिए जनता पार्टी से जब दोहरी सदस्यता के सवाल को लेकर राजनारायण और चरण-सिंह उसे छोड़कर चले आये थे, बाबूजी तो नहीं आये थे? बाबूजी तो जनता पार्टी को तोड़ने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन पिछले दिनों उसी दोहरी सदस्यता के मामले को उठाकर नकली बाबूजी ने जनता पार्टी तोड़ दी और असली जनता पार्टी बनायी। मेरा ख्याल है कि इसी बीच कुछ गड़बड़ हुआ है। बाबूजी सब काम सोच-समझकर करते थे, उतावली में नहीं करते थे। यह ऐसा नहीं करता। और गौर से देखो कि असली जनता पार्टी बनाने के ठीक दस दिन बाद उन्होंने ऐलान कर दिया कि वह कांग्रेस के साधारण सदस्य हो गये हैं। जिस दिन इन बाबूजी ने काँग्रेस में शामिल हो जाने की घोषणा की, उसके एक दिन पहले ही इन्होंने अपनी असली जनता पार्टी का मुख्य सचिव नामजद किया था जिसके ये अध्यक्ष थे। दूसरे दिन खुद काँग्रेस में। भला बताइए यह काम अपने बाबूजी कभी कर सकते थे? और इन बाबूजी ने किया। इससे यही नतीजा निकलता है कि कहीं कुछ गड़बड़ है। फिर इन बाबूजी ने यह भी घोषणा की कि वे काँग्रेस में साधारण सदस्य के रूप में शामिल हो रहे हैं। भला ऐसा अपने बाबूजी कभी करते?"

"आदमी बदल भी सकता है?" इस स्तम्भकार ने कहा।

"ऊपरी तौर-तरीका बदलता है, बुनियादी चरित्र थोड़े ही बदलता है। आप क्या समझते हैं, आज जिस तरह उन्होंने हम अखबारवालों से बातचीत की, उस तरह अपने बाबूजी कर सकते थे? वह कभी नाराज नहीं होते थे। वाक्पटुता, महीन चुटकी लेना, यह सब उनके गुण थे। उनसे बातचीत में मजा आता था और लगता था आप एक बुद्धिमान आदमी के सामने बैठे हुए हैं। आज क्या हुआ—जब हम लोगों ने पूछा कि 'अब आपकी असली जनता पार्टी का क्या होगा?' तो वह बिगड़ गये और बोले—'मैंने आप लोगों को बता दिया कि मैं एक साधारण सदस्य की हैसियत से काँग्रेस में शामिल हो गया हूँ। आप लोग अपना कामन सेंस इस्ते-माल कीजिए और समझदारी से सवाल पूछिए।' वह बाद में हम लोगों के सवाल का एक ही शब्द में एक ही उत्तर देते रहे कि 'हम साधारण सदस्य की हैसियत से

काँग्रेस में शामिल हो गये हैं।' अपने बाबूजी तो ऐसा कभी नहीं करते थे। वह नाराज नहीं होते थे और सवालों का विधिवत जवाब देते थे। बस उसी समय पकड़ में आ गया कि ये अपने बाबूजी नहीं हैं, कोई दूसरा आदमी है। इसी ने जनता तोड़-कर असली जनता बनायी, फिर वहाँ से भी भाग खड़ा हुआ और इसके पास इतनी होशियारी भी नहीं है कि बता सके कि इसने यह क्यों किया। यह समझ अपने बाबूजी में थी।"

"अंकल, ये किसका ऐयार होगा?" लड़के ने पूछा।

"तुम बताओ।"

"इन्दिराजी का हो सकता है।"

"और ?"

"राजनारायण का हो सकता है।"

"किसी का भी हो, वह तो बाद में देखा जायेगा। अभी तो यह देखना है कि असली जगजीवन राम जी कहाँ हैं? उनका पता चलते ही यह भी पता चल जायेगा कि यह किसकी हरकत है।"

फिर दोनों असली जगजीवन राम की खोज में चले गये। पाठको, यदि आप भी उनके साथ जाना चाहते हों तो जरूर जाइए। पता लगाइए।

चेहरे बता रहे थे

दिल्ली जुलूसों और प्रदर्शनों की नगरी है। एक-से-एक बड़े जुलूस यहाँ देखने में आये हैं लेकिन जैसा जुलूस इस स्तम्भकार ने चार नवम्बर को देखा वैसा जुलूस शायद ही कभी देखने को मिला हो। यही नहीं कि यह जुलूस बहुत बड़ा था—तिलक ब्रिज से लाल किले तक फैला हुआ—बल्कि बहुत अनुशासित और भव्य था। हर हाथ में लाल झण्डा या पट्टिकायें थीं। लाल-ही-लाल रंग शुरू से आखिर तक फैला हुआ था। देखने में अच्छा लगता था। सारा रास्ता रुक गया था। आदमी तक सड़क पार नहीं कर सकता था। अनुशासन और भव्यता जो प्रभाव डालते थे वह उल्लेखनीय न होता यदि इस जुलूस में देखनेवाले के अन्दर एक बेचैनी पैदा करने की क्षमता न होती। लोग महँगाई, भ्रष्टाचार, पुलिस-जुल्म के खिलाफ नारे लगा रहे थे। लेकिन इस बार आवाज़ बेधती थी। बड़े-से-बड़े जुलूस में इस स्तम्भकार ने हँसी-खुशी, चुहल देखी है जैसे पिकनिक मना रहे हों। उनके नारों में भी भीतरी तकलीफ कम, परस्पर होड़ ही दीखती रही है। लेकिन इस जुलूस में

ऐसा नहीं था। चेहरों में एक बेचैनी थी और नारे लगाती आवाज़ में एक चुभती हुई संजीदगी—झूठी लगनेवाली गलाफाड़ होड़ बदती चिल्लाहट नहीं। लग रहा था ये लोग जो जुलूस में शामिल हैं उन पर किन्हीं तकलीफों का बोझ है, वे परेशान और बेचैन हैं। इस स्तम्भकार ने जुलूस में चलते एक अनपढ़ जैसे दीखनेवाले आदमी से पूछा—

"किस पार्टी का जुलूस है ?"

"सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर आफ़ इण्डिया।"

साफ उच्चारित अंग्रेज़ी के ये शब्द सुनकर आश्चर्य हुआ। यह नाम अपनी भाषा में क्यों नहीं हो सकता था ? बाद में पूछने पर पता चला कि यह 'स्वर्गीय शिवदास घोष' की पार्टी है। विचारों में वामपन्थी है पर कम्युनिस्ट या मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से उसका वास्ता नहीं है। जुलूस बढ़ती महँगाई, बेरोजगारी, राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश, पुलिस-अत्याचार तथा केन्द्र और राज्य-सरकारों के गैर सामाजिक नीतियों के विरोध में निकाला गया है।

अपने ज्ञापन में—जिसे वे प्रधानमन्त्री को देना चाहते थे, उन्होंने बहुत-सी माँगें पेश की थीं जिनमें दाम कम करना, मुद्रास्फीति को रोकने के लिए कारगर कदम उठाना, बस, टैक्सी, स्कूटर, रिक्शा और रेलों का किराया कम करना, सबको रोजगार देना, बेरोजगारी भत्ता लागू करना, निःशुल्क शिक्षा देना, खेतिहर मजदूर को भूमि देना, साम्प्रदायिक ताकतों को नियन्त्रण में रखना, धार्मिक और जातीय अल्पसंख्यकों की हिफाजत करना, राष्ट्रीय एकता की भावना को बढ़ाना और चोर-बाजारियों को सबक सिखानेवाली सज़ा देना शामिल है।

यह स्तम्भकार हैरत में था कि दिल्ली की जनता पर इन माँगों को लेकर निकाले गये जुलूस को देखकर कोई असर नहीं पड़ रहा है। वह तटस्थ है, जबकि वह भी यह सारी तकलीफें भोगती है। ऐसा क्यों होता है कि जो तकलीफ हम सब भोगते हैं उन्हीं तकलीफों से दबा हुआ आदमी जब किसी पार्टी के जुलूस की शक्ल में आँखों के सामने से गुजरता है तो हम उसमें अपनी तकलीफ की प्रतिच्छवि नहीं देख पाते और उसे एक बेतुके तमाशे की तरह देखते हैं, असुविधा होने पर मन-ही-मन गालियाँ देते हैं या तटस्थ निकल जाते हैं ? फिर इन जुलूसों का असर किन पर पड़ता है ? लोगों पर पड़ता नहीं, अधिकारियों और सरकार पर पड़ता नहीं। देश के कोने-कोने से लोग आते हैं, अपनी तकलीफों पर जुलूस निकालते हैं और बिना किसी असर के थककर वापस लौट जाते हैं। हम उन्हें देखते रहते हैं। उनके नारों के साथ हम आवाज़ नहीं मिलाते जबकि वे नारे हमारी ही तकलीफों के होते हैं। न ही उनके साथ हम शामिल होते हैं। वे हमारे हमशक्ल होते हुए भी गैर आदमी की तरह आते हैं और चले जाते हैं। इसी को पास खड़े दिल्ली के एक दर्शक से जब पूछा तो उसने जवाब दिया—

"जुलूस तो रोज निकलते हैं। ये पार्टियों के लटके हैं। अपनी ताकत दिखाने के लिए निकालते हैं।"

"इन माँगों से यदि आप सहमत हैं तो आप इसमें शामिल क्यों नहीं होते ?"

"कहीं भी ये कह रहे हैं कि जो हमसे सहमत हों, हमारे साथ आयें ? यदि यह साथ आने का नारा दें तो देखिए जुलूस का ओर-छोर न दीखे। लेकिन इन्हें जनता की जरूरत नहीं है, अपनी पार्टी की इमेज बनानी है। यदि मैं शामिल होना भी चाहूँ तो ये हमें अपनी पंक्ति में घुसने नहीं देंगे, खदेड़ देंगे, क्योंकि मैं इनकी पार्टी का आदमी नहीं हूँ। यद्यपि उसी पीड़ा को भोग रहा हूँ जिसे ये भोग रहे हैं।"

इस स्तम्भकार ने देखा कि उस दर्शक के चेहरे पर वही बेचैनी थी जो जुलूस में शामिल लोगों के चेहरों पर थी। लेकिन दोनों के रास्ते अलग-अलग थे। एक खड़ा था, एक चल रहा था। दोनों एक-दूसरे से कदम नहीं मिला रहे थे, यद्यपि दोनों के चेहरे बता रहे थे कि अब तकलीफ हद से ज्यादा हो गयी है और बरदाश्त से बाहर है। जुलूस और दर्शक का रिश्ता खत्म होने का ज्वार कब आयेगा ?

भूख हड़ताल

"भूख हड़ताल के बारे में आपकी क्या राय है ?" उस दिन शर्माजी से एक मित्र ने पूछा।

"किस की भूख हड़ताल के बारे में ?"

"किसी की भी। आप नहीं देखते कि अब जिसे देखो वही भूख हड़ताल करने लगा है। शिक्षकों की भूख हड़ताल, डॉक्टरों की भूख हड़ताल, मजदूरों की भूख हड़ताल। अपनी माँगें मनवाने के लिए जिसे मौक़ा मिलता है, वही भूख हड़ताल का रास्ता अख्तियार करने लगा है। आज़ादी के बाद से यह रोग ज्यादा बढ़ गया है। जिसे देखो वही महात्मा गाँधी बन गया है। महात्मा गाँधी ने कोई माँग मनवाने के लिए भूख हड़ताल कभी नहीं की। कुछ गलत हो जाने पर केवल अपना दुख प्रकट करने के लिए अनशन किया या कुछ सही न हो पाने पर। उन्होंने कभी यह नहीं किया कि देश को आजाद करो या अमुक काम करो, नहीं तो मैं भूख हड़ताल करूँगा। महात्मा गाँधी की भूख हड़ताल और इन लोगों की भूख हड़ताल में फ़र्क है। आज भूख हड़ताल माँगों को लेकर हो रही है—वेतन बढ़ाओ, परीक्षा स्थगित करो ! किसी भी माँग को लेकर आज भूख हड़ताल की जा सकती है। आये दिन किसी-न-किसी माँग को ही लेकर भूख हड़तालें हो रही हैं···"

"क्या आप इसे गलत मानते हैं ?" स्तम्भकार ने शर्माजी की बात काटकर पूछा।

"हाँ, गलत मानता हूँ। वल्कि यह 'ब्लैकमेल' करना है। आपने बच्चे को मारा और वह दुख के कारण खाना नहीं खा रहा है, यह एक बात हुई। अपने दुख को व्यक्त करने के लिए उसके पास कोई रास्ता नहीं। अपने प्रति किये गये अन्याय से वह इसी तरह लड़ सकता है। बदले में आपको मारने की ताक़त उसमें नहीं है। फिर वह क्या करे ? वह खाना नहीं खाता और इस तरह अपने प्रति किये गये अन्याय पर क्षोभ प्रकट करता है। यह हड़ताल समझ में आती है। लेकिन यह उसी समाज में सम्भव है जहाँ इन्सानियत हो, पाशविक समाज में नहीं। आपका बच्चा मार खाने पर खाना नहीं खाता क्योंकि उसे यह यकीन है कि खाना न खाने पर कहीं कुछ आप भी उसके प्रति किये गये अन्याय को समझेंगे, क्योंकि मार खाने के बावजूद वह अपने और आपके बीच ममता का एक रिश्ता महसूस करता है। आपका नौकर मार खाने के बाद भी भूख हड़ताल नहीं करेगा, क्योंकि वह ममता का रिश्ता वहाँ नहीं देखता। जमींदार नौकरों को पीटते हैं तो वे भूख हड़ताल नहीं करते। बाप बच्चों को पीटते हैं तो वे भूख हड़ताल करते हैं। ममतामय समाज में भूख हड़ताल का कुछ अर्थ होता है, लेकिन पाशविक समाज में उसका कोई अर्थ नहीं, वह व्यर्थ है। हमारा समाज, हमारी व्यवस्था ममतामय नहीं है। यातना और शोषण पर हड़ताल करना यहाँ बेकार है।" शर्माजी ने कुछ चुप होकर फिर आगे जोड़ा—

"दूसरी तरफ एक बच्चा ब्लैकमेल करने के लिए भी हड़ताल कर सकता है। वह यह ऐलान कर सकता है कि उसके लिए यदि घड़ी नहीं आयी तो वह खाना नहीं खायेगा। समाज में अधिकतर हड़तालें इसी तरह का दबाव डालने के लिए हो रही हैं। इससे सहमति नहीं व्यक्त की जा सकती। भूख हड़ताल के जरिए गलत माँगों के लिए दबाव डालने का तरीका ही आजादी के बाद ज्यादा अख्तियार किया गया है। पराधीन काल में क्रान्तिकारी जेलों में भूख हड़ताल करते थे क्योंकि वहाँ उनके पास बम नहीं थे और वे अपने संकल्प को बम में बदलने की इच्छा रखते थे, वहाँ खुद न झुककर अन्यायी को झुकाने की इच्छा थी। क्रान्तिकारी उसके लिए मरते थे। लेकिन आज की उन भूख हड़तालों को आप क्या कहेंगे, जिनमें संकल्प नहीं है, एक दिखावा है। चोरी-छिपे खाया जाता है और नक्शे पर भूख हड़ताल की चाल रहती है। अतः एक तरफ पाशविक समाज में भूख हड़ताल व्यर्थ है, तो दूसरी तरफ भूख हड़ताल को चालबाजी के तहत इस्तेमाल करना भी घटिया है। यह घटिया काम आज बहुत हो रहा है।"

"लेकिन एक बच्चा पैसा चुराता है। बाद में पश्चाताप होता और वह खाना नहीं खाता। यानी अपने को सजा देता है अपने पश्चाताप को कर्म से जोड़ता है।

इस आत्मशुद्धि के लिए की गयी भूख हड़ताल के भी आप विरुद्ध हैं ?" स्तम्भकार ने पूछा।

"आत्मशुद्धि के लिए की गयी उसकी भुख हड़ताल विज्ञापन नहीं माँगती। यदि विज्ञापन है तो वह फ़रेब है। आज हर आदमी गाँधी बन रहा है। आत्मशुद्धि के लिए भूख हड़ताल कर रहा है। गाँधी की भूख हड़ताल सारे देश की भूख हड़ताल का प्रतीक थी। लेकिन राजनीतिक जोड़तोड़वालों की ऐसी हड़ताल विज्ञापन है। आत्मा ही नहीं है तो शुद्धि किसकी ! मैं चाहता हूँ भूख हड़ताल को आपसी राजनीति का शस्त्र न बनाया जाये, उसे माँगें मनवाने के लिए न इस्तेमाल किया जाये और जो लोग सचमुच अन्याय और शोषण के खिलाफ इसे इस्तेमाल करना चाहते हैं, वे इस ममताहीन समाज में उसकी व्यर्थता समझ लें।" शर्माजी ने कहा।

स्तम्भकार शर्माजी की बात पर गौर करने लगा। और सोचने लगा सचमुच आज भूख हड़ताल एक भोथरा अस्त्र हो गया है। उसे छोड़ो और नये अस्त्र की तलाश करो।

आँधी-आँधी की टक्कर

दिल्ली के राजनैतिक सम्मेलनों के इतिहास में पिछले दिनों एक ऐसी घटना हुई जिसका ऐतिहासिक महत्त्व आगे चलकर आँका जायेगा, यद्यपि राष्ट्रीय अखबारों ने इसकी ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। यह था रोटी, जनवाद और आजादी के नाम पर निरंकुशता-विरोधी राष्ट्रीय सम्मेलन जिसमें सारे देश के 200 जन-संगठनों के 1,500 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन 24, 25, 26 अप्रैल को हुआ— दो दिन प्रतिनिधियों की सभा और आखिरी दिन, 26 को खुला अधिवेशन। 26 को ही सारे देश के काफी शहरों और कस्बों में दिल्ली के इस सम्मेलन के समर्थन में स्थानीय जनसंगठनों—किसान-मजदूर-सभाओं—की ओर से रैलियाँ की गयीं और आगे हर 26 अप्रैल को तानाशाही-विरोधी दिवस के रूप में मनाने पर भी विचार किया गया। सम्मेलन में एक मोर्चे के गठन के मसविदे पर प्रतिनिधियों की बातचीत हुई जिसका नाम भारतीय जनमोर्चा (इण्डियन पीपुल्स फ्रण्ट) रखा गया। इसके अध्यक्ष बिहार के कवि, किसान-कार्यकर्त्ता और स्वाधीनता सेनानी रमताजी चुने गये, उपाध्यक्ष तमिलनाडु के मजदूर कार्यकर्त्ता एस. नटराजन तथा मुख्य सचिव बिहार के राजाराम। इस मोर्चे का उद्देश्य सामन्तवाद, साम्राज्यवाद और निरंकुश ताकतों के खिलाफ सतत संघर्ष घोषित किया गया। मोर्चा किसी

राजनीतिक दल के प्रत्यक्ष प्रभाव में नहीं है और न ही यह मानता है कि केवल चुनाव लड़नेवाली पार्टियाँ ही राष्ट्रीय विकल्प हो सकती हैं—इससे कुछ आशा बँधती है कि मोर्चा एक व्यापक और सार्थक राष्ट्रीय जन-समर्थन प्राप्त कर सकेगा। एक सही लोकतन्त्री समाज की स्थापना के लिए मोर्चा किसान और मजदूर संघर्ष के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार करता है और यह भी मानता है कि जिन राजनीतिक दलों ने सामन्तशाही के खिलाफ संघर्ष नहीं किया है, आगे चलकर उनका निरंकुश दलों का रूप ले लेना निश्चित ही है। मोर्चे के गठन के समय प्रतिनिधियों के समवेत स्वर में भारत के सभी प्रान्तों के अलावा, मेघालय, मिजोरम, असम, अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह जैसे सुदूर प्रान्तों के स्वर भी थे।

यह स्तम्भकार पहले और दूसरे दिन की उनकी बैठकों की कार्यवाही को एकाध घण्टे देख सका और इसने पाया कि प्रतिनिधियों की चिन्ता लड़ाई के आकार को छोटा करके देखने की नहीं है, चाहे वह रूसी और अमरीकी साम्राज्य-वाद के खिलाफ हो, चाहे भारतीय सामन्तवाद के, चाहे वर्तमान निरंकुशता और कालान्तर में आनेवाले शासकों की निरंकुशता के। उसका मानना है कि यह लड़ाई व्यापक है और पूरे जन के साथ लचीले और खुले रूप में ही लड़ी जा सकती है, जिसमें किसान-मजदूर ही नहीं देश का बुद्धिजीवी भी शामिल होगा।

लेकिन यह स्तम्भकार फिरोजशाह कोटला ग्राउण्ड के विशाल शामियाने में जहाँ डेढ़ हजार प्रतिनिधि ठहरे थे मय औरतों और बच्चों के, उनका सांस्कृतिक कार्यक्रम थोड़ा-बहुत देख सका, जिसमें बिहार, बंगाल तथा अन्य प्रान्तों के कार्य-कर्त्ताओं ने जनवादी गीत और जनवादी नुक्कड़ नाटक प्रस्तुत किये। उनको सम्भ्रान्त कला से जोड़कर देखना उनके साथ अन्याय है, लेकिन ये लोक कला के, बिना समय के लम्बे प्रवाह में कटे-छटे, खूबसूरत कच्चे नमूने थे, जिनमें आज के जनमानस की आँच देखी जा सकती थी। क्या होगा इन मोर्चों से, राजनीतिक दलों की आज की हालत देखकर यह सवाल मन में उठना स्वाभाविक था और उठ भी रहा था। मन कुछ थमा था, पर कुछ निराशा से भी भरा था कि अचानक आँधी आ गयी। यह 24 अप्रैल की शाम थी। इतनी जबर्दस्त आँधी कि शामि-याना जोर-जोर से हिलने और उड़ने लगा। क्या देखते हैं कि सैकड़ों बाँस आठ-आठ दस-दस प्रतिनिधियों ने पकड़ रखे हैं। जमीन पर टिके उन बाँसों को कोई टस-से-मस नहीं होने दे रहा है। आँधी शामियाने को ऊपर खींच रही है, वह फूल रहा है, पर जनप्रतिनिधि बाँसों को नीचे रोके हुए हैं और सांस्कृतिक कार्यक्रम गाना-बजाना चल रहा है—'समाजवाद बबुआ धीरे-धीरे आयी।' आँधी के साथ फिर जोरदार बारिश भी—चारों ओर से बौछारें, बिजली भकभकाने लगी, फिर अँधेरा, आग लगने के डर से बिजली के तार काट दिये गये—डेढ़ घण्टे अँधेरे में उस मूसलाधार वर्षा और आँधी से ये लड़ते रहे। अँधेरे में केवल इन्कलाब जिन्दा-

बाद की आवाजें आती रहीं। जब आँधी-पानी रुका तो सब भीग गये थे पर शामियाना उन्होंने उड़ने नहीं दिया था। केवल एक कोने में वह कुछ लटककर सहम गया था। अँधेरे में ये आवाजें सबकुछ बचाये रखने के संगठित संकल्प के साथ जब-जब भी तेज आँधी-तूफान आता है इस स्तम्भकार को सुनायी देने लगती हैं और ऐसे समाचारों के बीच जैसे—चण्डीगढ़ में विरोधी राजनीतिक दलों की एकता-वार्ता-सम्मेलन का पण्डाल उड़ गया—कुछ आशा जगाती हैं कि जो पेशेवर राजनीतिक दलों के लोग नहीं हैं, आम किसानों और मजदूरों के बीच से आये लोग हैं, अपने संकल्प और एकता से किसी भी आँधी को टक्कर दे सकेंगे, उसकी निरंकुशता नहीं चलने देंगे। यह स्तम्भकार आँधी-से-आँधी की ऐसी टक्कर का स्वागत करता है।

पश्चात्ताप का यह नाटक

यह वाकया पिछले महीने का है।

मेरे घर के पास एक शरीफ परिवार रहता है। एक दिन उनके यहाँ रोने-चिल्लाने की आवाज सुन जब उनके यहाँ पहुँचा तो देखता क्या हूं कि वह अजीब पेशोपेश में खड़े हैं और उनका नौकर, जो हमेशा पूछने पर खुद को उनका 'सेवक' बताता था, उनके पैर पकड़े रोता जा रहा है और कहता जा रहा है—"मारिए साहब। और मारिए ! मेरी चमड़ी उधेड़ दीजिए। मैं हूँ ही इस लायक। मैं नीच हूँ, कमीना हूँ सर ! मैं खराब सोहबत में बिगड़ गया हूँ। आपने मुझे मारकर सही रास्ता दिखा दिया है। आप जैसे देवता-पुरुष के साथ मैंने यह किया ? मैं इसी लायक हूँ। मुझे और मारिए साहब, बड़ी इनायत होगी। यह शरीर आपके नमक से बना है। मैंने नमकहरामी की है, आप मेरी हड्डी-पसली तोड़ दीजिए। मुझे फाँसी पर लगा दीजिए साहब ! बड़ी मेहरबानी होगी। मैं ईश्वर को क्या जवाब दूँगा। अपने माँ-बाप को क्या मुंह दिखाऊँगा। आप देवता हैं साहब, दयालु हैं, मुझे मारिए, और मारिए !" वह उनका पैर पकड़कर चिल्ला रहा था, फिर खुद ही उनका हाथ पकड़कर अपने मुंह पर मारने लगा। पड़ोसी मित्र किसी तरह हाथ छुड़ाकर बैठकखाने में भागे। मैं उनके पीछे-पीछे। लेकिन उसकी आवाज पीछा कर रही थी। उसने दरवाजा बन्द कर लिया। मित्र कुछ देर निढाल कुर्सी पर पड़े रहे। थोड़ी देर बाद साहस जुटा कर मैंने पूछा—"क्या हुआ !"

"होना क्या था। चोरी की साले ने। ट्रांजिस्टर, घड़ी उठाकर बेच आया।

जिसे बेचा उसने खुद मुझे बता दिया। उसने सोचा शायद मैंने नौकर के हाथ उन चीजों को निकलवाने को भेजा है। गुस्सा आया तो मैंने इसे मार दिया। अब यह नाटक कर रहा है। अजीब मुसीबत है! पुराना नौकर है। बचपन से पालकर बड़ा किया है। अब ऐसी हरकतें करने लगा है।"

"शायद सचमुच पछता रहा हो।" मैंने कहा।

मित्र कुछ सोच नहीं पा रहे थे। चार दिन बाद पता चला कि मित्र ने उसके रोने-धोने से उसे माफ कर दिया। पुलिस में नहीं दिया और वह घर का और तमाम माल-मता, रुपया-पैसा, जेवर लेकर भाग गया।

यह घटना इसलिए याद आ रही है कि इसी सेवक की तरह आज ज्यादातर जनसेवकों का हाल हो रहा है। चाहे ये जनसेवक राजनैतिक दलों में हों, चाहे विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं में। पिछले दिनों मुझे एक साहित्यिक संस्था में मुख्य अतिथि के रूप में जाने का मौका मिला। मैंने अपने भाषण में संस्था की चरित्रहीनता पर प्रहार किया और साफ-साफ कहा कि 'संस्था का उद्देश्य साहित्य और हिन्दी-भाषा की सेवा नहीं बल्कि खाने-कमाने का है। उसके पदाधिकारी सरकारी अनुदानों की ओर मुँह बाये खड़े हैं। सरकारी आदमियों के पीछे लार टपकाते, दुम हिलाते, उनकी वाहवाही करते घूमते हैं और भाषण, साहित्य और भाषा के लिए लड़ने का करते हैं।' मुझे आश्चर्य हुआ यह देखकर कि मेरे कटु, खरे भाषण का सभी ने समर्थन किया। उन पदाधिकारियों ने भी जिन पर कटाक्ष था और मेरे बाद उनमें से जो भी बोला, यह कहता रहा—

"आपने बहुत सही बात कही है। आपके साहस के सामने हम नतशिर हैं, कौन हिम्मत करता है आज खरी-सही बात कहने की, बिरले ही होते हैं। आपने हमें जो मार्गदर्शन कराया है उसके लिए हम आपके ऋणी हैं। सचमुच बिना त्याग और तपस्या के हिन्दी-साहित्य और भाषा की सेवा नहीं हो सकती। हम निजी स्वार्थों के दलदल में फँस गये हैं, आपने सही जगह चोट की है। इसके लिए हम आपके उपकृत हैं। हम आपको वचन देते हैं कि अब यह शिकायत आपको हमारी संस्था से नहीं रहेगी। आपके आशीर्वाद से हम साहित्य और भाषा की सही लड़ाई लड़ेंगे। और यह लड़ाई जीतकर दिखायेंगे। हम आपको एक बार फिर यकीन दिलाते हैं। सही रास्ता दिखाने के लिए हम आपके बहुत-बहुत कृतज्ञ हैं। आप जैसे साहित्यकार, मनीषी को इसीलिए हमने बुलाया था। हम आपके आगमन से कृतकृत्य हैं। आशा है आपकी कृपा हम पर बनी रहेगी।"

लगभग सभी ने इन्हीं शब्दों के हेरफेर से मेरे प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। अपने कर्म पर पश्चात्ताप प्रकट किया और ऐसा दिखाया कि उनका सारा कलुष धुल गया है और वे सोना हो गये हैं। पर क्या यह वास्तविकता है? नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। भ्रष्टाचार के रास्ते पर चलने के उनके अन्दाज वही हैं।

इसी तरह युवा राजनीतिकों के बीच जाने का मौका मिला। उन्होंने भी यही कहा—

"हम अँधेरे में भटक रहे हैं, आपने हमें रोशनी दी। हमें आप-जैसे रहबरों की जरूरत है। इतिहास गवाह है कि देश युवाशक्ति के बल पर आगे बढ़ता है। हम देश के लिए मर-मिटने को तैयार हैं। पर खुद को अकेला पाते हैं। आज आपने हमारा संशय दूर कर दिया है। हमारा संकल्प जगा दिया है। आपने ठीक कहा कि हम राजपुरुषों और सत्ता-पुरुषों के पीछे दुम हिलाते हैं। हमारी कोई नैतिकता नहीं है। हम अवसरवादी और चाटुकार होते जा रहे हैं। लेकिन जब तक आप जैसे साहसी, विवेकवान लोग हमारे बीच हैं, हम भटक नहीं सकते। इतना यकीन हम आपको दिलाते हैं। हमें आप जैसे प्रबुद्ध, बुद्धिजीवी और साहित्यकार का मार्गदर्शन चाहिए। आपके आगमन से हमारी संस्था के युवा सदस्य धन्य हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं···"

पाठकगण! सभी जगह यही हाल है। 'हमने गलतियाँ कीं, हमने ठोकरें खायीं।' कहते-कहते सब और गलतियाँ करने और ठोकरें खाने का हक पा जाते हैं। फिर और अधिक भ्रष्ट होकर हमारे सामने बने रहते हैं। ट्रांजिस्टर, घड़ी के बाद सारा पैसा, जेवरात, मालमता लेकर उड़ जाते हैं। चाहे सेवक हों या जनसेवक। पश्चात्ताप का यह नाटक हर कोई कर रहा है। सुधरने के लिए नहीं और अधिक लूटने के लिए। क्या विडम्बना है कि हमारा विरोध भी ये भ्रष्टाचारी ओट लेते हैं और उसी को अपना हथियार बना लेते हैं। अब और अधिक इनके झाँसे में न आना ही विवेक है और देशभक्ति भी।

कार्यक्रम नहीं, समारोह चाहिए

संजय गांधी की बरसी के दिन शाम को शर्माजी का किसी ने दरवाजा खटखटाया।

"इतने थके-थके लग रहे हो, कहाँ से आ रहे हो?" शर्माजी ने दरवाजा खोलते हुए पूछा।

"खून देकर आ रहा हूँ। रास्ते में सोचा थोड़ा आपके यहाँ आराम कर लूँ।"

वह कोई तीस साल का बुझा-बुझा-सा युवक था। सामान्य स्वास्थ्य। उसे ग्लूकोज देकर इत्मीनान से आराम कुर्सी पर बैठकर शर्माजी ने पूछा—

"तुम भी युवा कांग्रेस में हो?"

"नहीं, युवा कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं को जानता हूँ। खून देना अच्छा काम है,

इसीलिए चला गया था। आप तो जानते ही हैं मैं बेकारी के कांग्रेस में हूँ। सोचा इन लोगों से बनाकर रखो। अगर फायदा नहीं करेंगे तो नुकसान तो नहीं करेंगे। बोले—"बीस लोग इस मोहल्ले से खून देंगे, तय हुआ है। तुम जाओगे? अच्छा काम, न कैसे करता। गाड़ी से ले गये। अब पैदल चला आ रहा हूँ। थोड़ी ही दूर तो घर था। सोचा आपके पास थोड़ा बैठ लूँ।"

"युवा कांग्रेस में शामिल क्यों नहीं हो जाते?"

"कुछ करें तो शामिल हो जाऊँ। मैं कोई हर्ज नहीं देखता। ज्यादातर दौड़ लेकिन वहाँ भी सत्ता और ताकत की है। जो युवा कांग्रेस में है वह चाहता यही है कि उसमें होने के कारण रोब-दाब उसका बना रहे। सब लोग उससे रेड-धमके रहें। सरकार, पुलिस और नौकरशाहों के बीच का आदमी वह माना जाये। अपने लोगों का काम करा दे। पैसा जमा कर ले। अब इस झूठी दौड़-भाग में अपनी रुचि नहीं।"

"अब तो तुम उनके आदमी हो, खून देकर आये हो, शायद कहीं हीले से लग जाओ।"

वह फीकी हँसी हँसा—"बस, इसी शायद की सलीब पर इतने दिनों से लटका हूँ, लटका रहूँगा, झूठ नहीं बोलता। मन में कहीं यह भाव भी था, पर वैसी उम्मीद नहीं थी, न है।"

"यह अच्छी बात है कि इस तरह की उम्मीद नहीं है। तुमने खून देकर एक अच्छा काम किया। बस इसका सन्तोष होना चाहिए।" शर्माजी ने कहा।

वह चुप रहा। शर्माजी फिर बोले—"संजय गाँधी के नाम पर और जो पंच-सूत्रीय कार्यक्रम हैं उनमें भी साथ देने को कहें, तो दो।"

"कार्यक्रम में किसे दिलचस्पी है? कार्यक्रम कौन चाहता है? सब कार्यक्रम का समारोह चाहते हैं। यदि युवा कांग्रेस में दरअसल कार्यक्रम के प्रति गहरा लगाव होता तो मैं उनके साथ उसमें कूद पड़ता। जी-जान से लग जाता। लेकिन शर्मा-जी, मैं तो इन लोगों को जानता हूँ। कार्यक्रम में इनका लगाव नहीं है, प्रचार में और समारोह में हैं। अब देखिए, ये कहते हैं सारे देश में युवा कांग्रेस के ढाई करोड़ लोग हैं। कम होते हैं इतने लोग? कमर कस के जुट जायें तो साल-भर में सारे देश की हुलिया बदलकर रख दें। माओ के रेड गार्ड्स थे। माओ ने कहा—'बंबार्ड द हेड क्वार्टर्स' और भ्रष्ट नौकरशाही थरथरा गयी। सब ठीक हो गये। ये चाहें तो इस देश की भ्रष्ट पुलिस, नौकरशाही सीधी हो जाये, काम करने लगे। लेकिन ये तो उसी भ्रष्ट पुलिस और भ्रष्ट नौकरशाही को अपने काम करा लेने के लिए इस्तेमाल करते हैं। उनका हिस्सा बने हुए हैं। शर्माजी, कार्यक्रम तब किये जाते हैं, जब उनके पीछे गहरा सैद्धान्तिक विश्वास हो, एक बड़ा उद्देश्य हो, यदि उद्देश्य अपना ही उल्लू सीधा करने का है तो कार्यक्रम नहीं चलते, समारोह होते

हैं। यहाँ तो लोलुपता है सत्ता की ताकत की; लगन, उत्साह और इच्छा नहीं है देश को बदलने की···?"

थका युवक कुछ हाँफ गया था।

"उनमें यह इच्छा जगायी जा सकती है।" शर्माजी ने कहा।

"कौन जगायेगा? युवा कांग्रेस के नेता? या उन नेताओं के नेता? सब कार्य-कर्त्ता को अपनी ताकत के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं, अपने चुनाव के लिए, अपनी असफलताओं के महिमामण्डित प्रचार के लिए। खून देने का कार्यक्रम अच्छा होते हुए भी संजय गाँधी के पंचसूत्री कार्यक्रम में नहीं है। लेकिन उनकी बरसी पर यह अपनाया गया जिससे कि थोड़े में ज्यादा हल्ला हो सके! चलिए, इस बहाने एक अच्छा काम हो गया। आगे क्या होगा? संजय गाँधी का एक कार्यक्रम था: दहेज प्रथा के खिलाफ। अब आप देखिए, आपकी दिल्ली में ही दहेज को लेकर कितनी आत्महत्याएँ होती हैं, कितना दहेज लिया-दिया जाता है। युवा कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं की चिन्ता कहीं दिखायी दी? किसी भी आत्महत्या को लेकर उन्होंने जनमत संगठित किया, आन्दोलन किया, प्रदर्शन किया, विवाहोत्सवों में जहाँ दहेज लिया-दिया जा रहा हो ऐन मौके पर खड़े होकर उसे रोका? क्योंकि यह कार्यक्रम है, इसमें जूझना पड़ेगा···"

"दहेज के खिलाफ़ लड़ाई जरूरी है। इसमें जी-जान से लगना होगा।" शर्माजी ने कहा।

"लेकिन लगेगा कोई? आतंक फैल जाना चाहिए था अब तक सारे देश में युवा कांग्रेस के ढाई करोड़ लोगों का। दहेज की कुप्रथा अब तक खत्म हो गयी होती। इसी तरह दूसरा कार्यक्रम है साक्षरता का। ढाई करोड़ आदमी साल में एक-एक आदमी को भी साक्षर करें तो पौबारह! देखते-देखते सारे देश में निरक्षरता गायब? आप उन्हें यही सिखाइए कि इन्दिरा गाँधी देवी है और संजय गाँधी देवता। लेकिन सिखाइए तो। पर सिखायेंगे तो तभी न जब आपका कहीं भीतरी विश्वास हो, कहीं भीतर से जुड़े हों। ऊपरी दिखावे से वह तड़प नहीं आयेगी, वह संकल्प नहीं घर करेगा कि आप साल-भर में एक आदमी को यह सिखाने के लिए ही सही, साक्षर कर दें। विएतनाम ने किया था। एक आदमी दस को पढ़ायेगा। अशिक्षा गायब। इसी तरह पेड़ लगाने के कार्यक्रम हैं। समारोह के लिए पेड़ लगेंगे, फिर उनकी चिन्ता नहीं होगी। सूख जायेंगे। यह भी देखना है कि सूखें नहीं और यह भी कि पेड़ बेकार में काटे न जायें। पर यह देखने की किसे पड़ी है। जंगल-का-जंगल काट के पैसेवाले उद्योग खड़ा कर रहे हैं और आप पेड़ लगाकर सूखने को छोड़ रहे हैं! एक कार्यक्रम है गन्दी बस्ती की सफाई का। एक और, परिवार नियोजन का। उनके बारे में कुछ कहना बाकी रहता है! फोटो खिंचाने के लिए गन्दी बस्ती में जाना हो तो चाहे चले जायें वैसे कोई पैर नहीं रखेगा उधर! शर्माजी, यहाँ मैं

आपके सामने उस कृत्रिम समाज-संरचना का जिक्र करने की धृष्टता नहीं कर रहा जिसके कारण जंगल कटेंगे ही, गन्दी बस्तियाँ बढ़ेंगी ही, गरीब ज्यादा बच्चे पैदा करेगा ही, लोग निरक्षर रखे ही जायेंगे और नव धनिक वर्ग दहेज लुटायेगा ही। मैं तो केवल यह कह रहा हूँ कि ये सभी कार्यक्रम वर्तमान समाज-व्यवस्था में भी करने योग्य हैं। इनको जी-जान से किया जाये तो कुछ तो फरक पड़ेगा ही। पर उसे करने का संकल्प, उसके लिए लगन किसी में नहीं है। क्योंकि सारी नींव सत्ता लोलुपता पर ही टिकी है। इसीलिए खून देना अपने बस में था, दे आया। यूँ भी सुखा ही रहा हूँ…"

"यह सब तुम युवा कांग्रेसवालों से कहते क्यों नहीं?" शर्माजी ने कहा।

"आप सोचते हैं इतनी फुर्सत, इतना धैर्य, इतना विवेक उनके पास है कि वे इसे सुनें और यह भी समझें कि मैं सच्चे मन से उनके साथ इन कार्यक्रमों के लिए जी-जान से काम करने की भीतरी इच्छा से यह कह रहा हूँ। नहीं शर्माजी नहीं, यदि यही यकीन होता तो बेरोजगारी खलती नहीं। हम यह मानकर भूखे रह लेते, हर संकट झेल लेते कि पाँच साल बाद हम अपने मन का देश बना लेंगे।"

किससे शिकायत करें

राजधानी के एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक में खबर छपी है कि कर्नाटक के चिकमंगलूर, हसन और तुमकुर जिलों के कोई चार सौ गाँवों के लगभग एक लाख आदमी पिछले दो महीनों से भय से त्रस्त हैं। रात में कुछ अज्ञात लोग आकर घरों पर पत्थर बरसाते हैं, चोरियाँ होती हैं और औरतों की इज्जत लूटने की कोशिश की जाती है। परिणामस्वरूप अनेक गाँवों में बूढ़े और जवान ग्रामीण रात को आठ बजे से सुबह चार बजे तक पहरेदारी करते हैं। जबकि औरतें, बच्चे और बीमार घरों में जागते रहते हैं। इसके बावजूद पत्थर बरसते हैं। अनेक गाँबों में गाँववालों ने इन हमलावरों का सामना करने की तैयारियाँ भी कीं—मिर्च की बुकनी, लाठी, चाकू आदि से लैस हुए कि यदि कोई दरवाजा तोड़कर या खपरैल हटाकर घर में घुसने की कोशिश करे तो उससे निपटा जा सके।

मिर्च का पाउडर हर हफ्ते कूटा जाता है, जिससे कि उसका असर कम न हो जाये। तिपतुर तालुका का एक ग्रामीण बतौर विशेष सावधानी के एक लोहे की छड़ दरवाजे के पीछे रखता है जिससे कि जरा भी दरवाजा हिले तो वह छड़ गिरे और उसकी आवाज से वह चौकस हो जाये। अखबारवालों को एक ग्रामीण औरत

ने एक बड़ा पत्थर दिखाया और कहा, 'ऐसे पत्थर रोज घरों पर फेंके जाते हैं। हम किस तरह सोयें, किससे शिकायत करें।' संथावली गाँव नारियल के झुरमुटों से भरा है। गाँववाले कहते हैं कि रोजाना पत्थर ही नहीं बरसते औरतों पर भी हमला होता है। बेचारे गाँववाले औरतों को घरों में बन्द कर रात-भर पहरा देते हैं।

एक ग्रामीण एक गाँव में जब चोर-चोर चिल्लाया तो हमलावर उसके ऊपर बम फेंककर भाग गये जिससे वह बेहोश हो गया। उसके कन्धों पर घाव हो गया, पट्टियाँ बंधीं और वह अस्पताल में है। अक्सर ग्रामीणों को रात के वक्त घरों पर फेंकी जा रही तेज रोशनी दिखायी देती है। यह रोशनी रात में दो बार फेंकी जाती है। फिर उसके बाद मोटर, जीप या ट्रक की आवाज आती है। वे इन वाहनों के करीब जाते डरते हैं क्योंकि उनके ख्याल से इनमें हथियारबन्द लोग हो सकते हैं। उन्होंने इन कारों और जीपों के नम्बर भी नोट कर पुलिस को दिये हैं। गाँववाले चोरी-डकैती से ज्यादा औरतों की इज्जत लूटी जाने के भय से परेशान हैं। मारे डर के लड़कियाँ दिन में भी घर से बाहर नहीं निकलतीं। काम पर वह झुण्डों में आदमियों के साथ जाती हैं। गाँववालों में रतजगा करते इतना गुस्सा भर गया है कि वे हमलावर समझ किसी भी यात्री से कोई बदसलूकी कर सकते हैं। और यदि वह गाड़ी पर हुआ तो उसकी खैर नहीं। गाँवों में रात के वक्त गाड़ी आप खड़ी नहीं कर सकते। गलत समझे जाने का डर है, क्योंकि उन्हें मालूम है कि हमलावर गाड़ियों में घूमते हैं।

खबर पढ़कर लगता है कि यह हालत केवल एक प्रदेश के कुछ गाँवों की है। लेकिन यह हालत कमोबेश, इस सीमा तक न सही, देश के सभी गाँवों की है। उत्तर प्रदेश और बिहार के छोटे जिलों और गाँवों में रात-बिरात निकलना सुरक्षित नहीं है। देश का गरीब आदमी भय में जी रहा है। जब देश की राजधानी और प्रान्तों की राजधानियों का यह हाल है कि वहाँ रात में निकलते आदमी डरता है तो छोटी जगहों का क्या कहा जाये! इस स्तम्भकार का ख्याल है कि यदि सर्वेक्षण किया जाये तो भय की और अधिक जीती-जागती तस्वीर इस अभागे देश के अभागे नागरिकों के मन में मिलेगी। एक जमाना था जब आधी रात रामलीला देखकर गहनों से लदी औरतें सुरक्षित अपने घर पहुँच जाती थीं। आज नकली जेवर पहनकर भी नहीं लौट सकतीं। यह असुरक्षा इस देश को कहाँ ले जायेगी? आये दिन इस बड़े देश में तमाम लोग लूटे जाते हैं। ये साधारण लोग होते हैं। उनकी खबरें अखबारों में कहाँ आती हैं। कितनी आ सकती हैं?

कर्नाटक की यह खबर पढ़कर उस दिन यह स्तम्भकार अपने कुछ साथियों के साथ जो साहित्यकार हैं बैठा सिर पीट रहा था कि एक लेखक ने कहा—

"आपको पता नहीं, अभी मन्नू भण्डारी को जयपुर से दिल्ली एक डीलक्स

बस में आते समय लूट लिया गया। डाकू बस में ही सवार थे। पूरी बस उन्होंने लूट ली। मन्नूजी के पास जितने रुपये-पैसे थे वह तो ले ही लिये, सारी साड़ियाँ, पशमीने का शाल, सोने की दो चूड़ियाँ, मंगलसूत्र सब ले लिया। वह जयपुर से किसी साहित्यिक गोष्ठी से लौट रही थीं।" फिर विस्तार से जैसा उसने सुना था उस लूट का किस्सा बताया।

उसके किस्से पर लोग आश्चर्य प्रकट ही कर रहे थे कि दूसरे ने कहा—

"आपको मालूम है कि पिछले मार्च में वात्स्यायनजी को भी लूटने की कोशिश की गयी थी। वह गोमती एक्सप्रेस से कसिया के लिए लखनऊ जा रहे थे कि डाकुओं ने उनके डिब्बे में प्रवेश किया और चाकू दिखाकर घड़ी पैसे सब निकालने को कहने लगे। उनके साथ भवानीप्रसाद मिश्र भी थे। वात्स्यायनजी पर जब वह लुटेरा चाकू से वार करने लगा तो भवानी भाई ने उसका चाकू पकड़ लिया। शोर मचा। लुटेरे चूँकि सारा डिब्बा लूट चुके थे और इन लोगों को अन्तिम शिकार बनाना चाहते थे इसलिए जंजीर खींचकर भाग खड़े हुए।"

पहले ने कहा—

"मन्नू भण्डारी की बस में आठ डाकू यात्रियों के रूप में पहले से ही सवार थे। एकान्त अँधेरी जगह देखकर उन्होंने बस रुकवा ली और हर यात्री का सब-कुछ ले लिया। मन्नू भण्डारी मंगलसूत्र किसी तरह बचा ले जाना चाहती थीं, पर उनकी निगाह हर एक चीज़ पर इस तरह गड़ी थी कि वह ऐसा नहीं कर सकीं।"

फिर काफी देर तक अन्य नाटककारों और कलाकारों के किस्से चलते रहे कि कैसे उन्हें लुटेरों का सामना करना पड़ा। यह स्तम्भकार यहाँ वह सब दोहराना नहीं चाहता। वह केवल यह कहना चाहता है कि अब कहीं कोई सुरक्षा नहीं है।

मन्नू भण्डारी और वात्स्यायनजी का उल्लेख करके वह यह नहीं कहना चाहता कि सारा देश असुरक्षित रहे लेकिन साहित्यकार, कलाकार, नाटककार सुरक्षित रहें। बल्कि उनकी असुरक्षा और एक साधारण ग्रामीण की असुरक्षा में यह कोई अन्तर नहीं मानता। असुरक्षा असुरक्षा है। लुटेरों के लिए सभी बराबर होते हैं। वह किसी को इसलिए नहीं बख्श सकते कि वह साहित्यकार है और हमारे युग और हमारे समाज की प्रतिष्ठा है। उसकी जान की कीमत भी केवल घड़ी, पैसे, सोने की चूड़ियाँ और मंगलसूत्र है। यह स्तम्भकार केवल यह कह रहा है कि आज कोई भी सुरक्षित नहीं। चाहे भोला-भाला गाँव का गरीब आदमी हो चाहे समाज का बड़े-से-बड़ा प्रतिष्ठित व्यक्ति। चोरी, ठगी, डकैती, लुटेरी, छीना-झपटी, हत्या, बलात्कार की घटनाएँ चारों तरफ फैल रही हैं। गुण्डों का राज है। मनमानी हो रही है। अक्सर आदमी यही पूछता है "किससे शिकायत करें, कौन सुनेगा।" कर्नाटक की वह गरीब बूढ़ी औरत भी यही कहती है। मन्नू भण्डारी अपनी फीकी मुस्कान से यही कहती हैं और वात्स्यायनजी अपनी खामोशी से।

पाठकगण अपने-अपने क्षेत्र में इस असुरक्षा का लेखा-जोखा लें और सोचें कि इससे मुक्त होने का कौन-सा रास्ता है? या उस कलाकार की तरह जो उस शाम कह रहा था कि दिल्ली की सड़क पर चार बदमाशों द्वारा अपना स्कूटर रोक दिये जाने पर उसने चारों को ललकार दिया था क्योंकि वह मारपीट में पक्का है और चाकू, छुरा, घूसेबाजी सब उसे आती है और निहत्था भी वह चार हथियारबन्द लोगों से भिड़ सकता है, यह फैसला करें कि वे भी यही सब सीखेंगे और मरने-मारने को तैयार रहेंगे। फिर किस संस्कृति का जन्म होगा?

दीये मत जलाओ

इन्हीं दिनों एक मित्र से मुलाकात हुई जो राजस्थान के आदिवासी भीलों के इलाके में काम करते हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं। उस धुर बीहड़ क्षेत्र में टापरा डालकर रहते हैं। दिल्ली कुछ दवाएँ आदि लेने आये थे। कुछ दिन रुकने को कहा तो बोले, "जल्दी पहुँचना है।"

"क्या दीवाली घर पर मनाना चाहते हैं?" इस स्तम्भकार ने पूछा।

"नहीं, और काम हैं। हम दीवाली नहीं मनाते।" उन्होंने बड़े सहज भाव से जवाब दिया।

"क्यों? दीवाली क्यों नहीं मनाते?"

"क्यों दीवाली मनायें? दीवाली खुशी का त्योहार है। लेकिन कोई खुशी, किसी भी क्षेत्र में इस समाज में बाकी रह गयी है? व्यवस्था ने किस खुशी को मनाने लायक आपको छोड़ा है। है कोई खुशी? दीपावली, यदि पौराणिक कथा मान भी लें, राम की विजय के बाद उनके स्वागत में खुशियों का त्योहार था, आज हम किस विजय का स्वागत करें? महँगाई की विजय का? भ्रष्टाचार, चोर-बजारी, लूटपाट, छीना-झपटी की विजय का? चारों ओर फैले जोर-जुल्म, अनैतिकता और दुर्नीति की विजय का? हिंसा और बलात्कार की विजय का? दीवाली असद् पर सद् की विजय के रूप में मनायी जाती थी। आज क्या उसे सद् पर असद् की विजय के रूप में मनायें? सच पूछो तो यह हमारी बेहयाई है जो हम दीवाली मनाते हैं। जिस इलाके में मैं काम करता हूँ वहाँ साल-भर अँधेरा रहता है। वहीं क्यों, देश के तमाम गाँवों में रहता है। शाम होते ही लोग, मिला तो कुछ खा-पीकर, नहीं तो खाली पेट अपने अँधेरे दड़बे में घुस जाते हैं। साल के एक दिन यदि एक-दो दीये उनकी झोंपड़ी के आगे टिमटिमाते हैं तो यही अहसास जगाने के लिए कि

कितना अँधेरा साल-भर उन्होंने ढोया है। मैं दीवाली नहीं मनाता। अपने को दीवाली मनाने योग्य नहीं मानता। जब मन के भीतर इतना अँधेरा हो तो बाहर थोड़ी देर रोशनी जलाकर क्या होगा?"

"दीये नहीं जलाते न सही, लक्ष्मीपूजन तो करते होंगे?" स्तम्भकार ने पूछा।

इस पर उनकी आवाज कुछ तेज हो गयी, बोले—

"गरीब आदमी के पास लक्ष्मी है कहाँ जो उसका पूजन करे। लक्ष्मी तो दूसरे लोग उड़ा ले गये। वह तो लक्ष्मी का वाहन ही बना बैठा है—उसे ही चारों तरफ पंख फड़फड़ाते देखता हूँ। यूँ भी लक्ष्मीपूजा का अधिकार आज लक्ष्मीपतियों को भी नहीं है। बल्कि उनके लिए लक्ष्मीपूजा अनैतिक है क्योंकि उन्हें लक्ष्मी पाने के साधन की चिन्ता नहीं है। भ्रष्टाचार, शोषण और चोरबाजारी से इकट्ठे किये हुए धन की इन धनपतियों या कहें धनउचक्कों द्वारा पूजा! कैसी विडम्बना है। चारों ओर फैली इस विपन्नता में लक्ष्मी की पूजा! उस लक्ष्मी की क्या पूजा जो विपन्नता ही बाँट रही हो और इतनी अशक्त हो कि चाहे जो उसे बुलाये, उसकी पूजा करे। चाहे वह जो पुरुषार्थ करता हो, श्रम करता हो या वह जो चोरी-डकैती करता हो, अकाल और इन्सान की मौत दिखाकर उसे बुलाता हो। लक्ष्मी-पूजा से बढ़कर धोखा और कुछ नहीं है। चाहे पैसेवाला करता हो चाहे गरीब, चाहे धनउचक्का, चाहे धनलूटा। मैं लक्ष्मी-पूजा नहीं करता।"

"तो क्या आपके लिए दीवाली का कोई मतलब नहीं है?" इस स्तम्भकार ने पूछा।

"मेरे लिए अब दीवाली का कोई मतलब नहीं है। यह विपन्नता को ढँकने का त्योहार है और समृद्धि को उजागर करने का। सारा देश—विपन्न आदमी चन्द दीये जलाकर, थोड़ी खुशी मनाकर अपनी गरीबी को ढँकने की कोशिश करता है। पर क्या उसकी गरीबी ढँकती है? जिस समय वह दीवाली के लिए अपनी रोज-मर्रा की जरूरतों को नजरअन्दाज कर फिजूलखर्ची कर रहा होता है वह कल की चिन्ता से भी झुक रहा होता है। विपन्नता की रोशनी क्षणिक और मद्धिम होती है और आदमी को और विपन्न करती है। कुछ लोग अपनी समृद्धि को उजागर करने के लिए दीवाली मनाते हैं। आपके महानगरों में करोड़ों रुपये के पटाखे दीवाली के सारे-दिन, सारी-रात छूटते रहते हैं। मुझे यह शोर, यह रोशनी, गरीब आदमी की बुझी आँखों और कराहों पर चाँदी के वर्क जैसी लगती है—कब्र पर उगे फूल-जैसी।"

"लेकिन दीवाली तो गरीब आदमी भी मनाता है।" स्तम्भकार ने कहा।

"देखा-देखी। उसे दीवाली न मनाने का औचित्य समझना होगा।"

"आप उससे एक दिन की खुशी भी छीनना चाहते हैं?"

"नहीं, उसे एक दिन के विरोध का सुख देना चाहता हूँ। उस विरोध का सुख

जो आज की व्यवस्था को लेकर है। मैं एक दिन की दीवाली की जगह उसके सारे जीवन की दीवाली चाहता हूँ। इसकी शुरुआत इस विरोध से ही होगी। गरीब आदमी का दीवाली मनाना रूखी रोटी खाने-जैसा है, जबकि अमीर आदमी का अशोक होटल में भोज-जैसा। मैं चाहता हूँ कि गरीब इसका विरोध करे। मैं एक सामाजिक कार्यकर्त्ता हूँ और चाहता हूँ कि दीवाली का बहिष्कार किया जाये। सारे देश में दीये न जलाकर इस व्यवस्था का विरोध किया जाये। गरीब आदमी दीया न जलाये और बताये कि उसके जीवन में इस समय जो अँधेरा भरा है उसके लिए एक दिन की दीये की रोशनी नाकाफ़ी है।"

स्तम्भकार काफी देर तक सोचता रहा कि इसका प्रतिवाद कैसे किया जाये। चुप हो गया। फिर उस सामाजिक कार्यकर्त्ता ने स्वयं ही कहा—

"यह मूल्यों का सवाल है। जिन मूल्यों की रक्षा के लिए दीवाली-जैसे त्योहार थे वे मूल्य खत्म हो चुके हैं। आज समाज में उनकी कद्र नहीं है, बल्कि गलत मूल्यों पर, उनके पनपने की खुशी पर दीवाली मनायी जा रही है। दीवाली मनाकर आप किससे जुड़ते हैं? अपने मन की खुशी से भी नहीं, क्योंकि वह नहीं है। क्या पटाखे के लिए ज़िद करते समय गरीब बच्चे के गाल पर उसके बाप के चपत की आवाज आपने सुनी है। यदि सुनी होती तो महानगरों की फुलझड़ियों, आतिश-बाजी और पटाखों का मतलब आप समझ जाते। यह देश की गरीबी के गाल पर चपत है। मैं जहाँ रहता हूँ वहाँ से यह साफ दिखायी देता है। साल-भर अँधेरे में बैठा आदमी एक दिन के दीये के तेल के लिए, पूरे पेट खाने के लिए, कुछ खुशियाँ मनाने के लिए कितने दिन पहले से हिसाब लगाने लगता है। यह दिल्ली की सरकारी इमारतों पर जगमगाती रोशनी नहीं समझेगी। वह उधार लेता है, पीता है, जुआ खेलता है और किस्मत को कोसकर बैठ जाता है। उन्हें नहीं कोसता जिन्हें कोसना चाहिए। जो उसके दैन्य के कारण हैं। अमीर आदमी भी पीता है, जुआ खेलता है और फिर अपनी किस्मत को ललकारता है; क्योंकि उसके पास बहुत है और बहुत आने का रास्ता खुला हुआ है जबकि विपन्न आदमी के पास कुछ नहीं है और कुछ आने का रास्ता भी बन्द है। बन्द रास्तों की दीवाली का इसी-लिए उसे विरोध करना चाहिए।"

"फिर आप कब दीवाली मनायेंगे?" स्तम्भकार ने पूछा।

सामाजिक कार्यकर्त्ता ने जवाब दिया—"जब यह व्यवस्था बदल जायेगी। जब देश के करोड़ों आदमियों की आँखों में रोशनी होगी, वे बुझे चिरागों-सी नहीं दीखेंगी। अभी उनमें संकल्प की रोशनी पैदा करनी होगी—सबकुछ बदलने के संकल्प की रोशनी। दीवाली पर यदि जला सकते हो तो यह संकल्प का दीया जलाओ। यही सही रोशनी है—नैतिक रोशनी—अन्यथा दीये मत जलाओ।"

जब्बर चोर सेंध में गावे

यह स्तम्भकार पिछले दो सप्ताह छुट्टी पर था, फिर शर्माजी क्यों चूकते ? उनका भी पता नहीं था। लौटकर आया तो वह खीझे हुए बैठे थे। पता चला इतने दिनों वह जनता पार्टी और लोकदल के हर महत्त्वपूर्ण नेता से मिल रहे थे और इस बात की पैरवी कर रहे थे कि वे यदि एक नहीं हो सकते तो कम-से-कम अपने दलों को और अधिक न तोड़ें। उनका कहना है कि हर नेता से उन्हें एक जैसा ही जवाब सुनने को मिला। उनका सवाल और सभी के एक जैसे जवाब यहाँ दिये जा रहे हैं—

"आप पार्टी तोड़ने पर क्यों तुले हुए हैं ?"

"मैं कहाँ तुला हुआ हूँ, मैं तो एकता चाहता हूँ।"

"फिर कोई रास्ता निकालिए ?"

"आप···से क्यों नहीं कहते ?"

"उनसे भी कहूँगा, थोड़ा आप झुकिए।"

"मैं क्यों झुकूँ ? यह सिद्धान्त का प्रश्न है।"

"यही बात सब कहते हैं।"

"झूठ बोलते हैं। उनके यहाँ कोई सिद्धान्त-विद्धान्त नहीं है। सत्ता की राजनीति कर रहे हैं। लेकिन अब इस देश में सिद्धान्तों को ताक में रखकर कोई सत्ता में नहीं आ सकता।"

"क्या सिद्धान्त है आपका ?"

"सभी जानते हैं। पहला तो यही कि अपने स्वार्थ से ऊपर उठो और राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानो।"

"फिर आप थोड़ा त्याग क्यों नहीं करते ? स्वार्थ से ऊपर उठने के लिए त्याग करना पड़ता है।"

"मैं ही फालतू हूँ ? दूसरे उठें तो मैं भी उठ जाऊँगा। इतने दिन राजनीति की है कोई भाड़ नहीं झोंका है। जनता और पार्टी के कार्यकर्त्ता सब हमारे साथ हैं।"

"यह तो···भी कहते हैं।"

"धोखे में हैं। आज जो कुछ भी वह हैं मेरी बदौलत। मैंने ही उन्हें बनाया है। मेरे सामने अभी वह बच्चे हैं। राजनीति करना अभी मैं उनको सिखा सकता हूँ।"

"राजनीति करना या जनसेवा करना।"

"मैं बुद्धू नहीं हूँ कि जनसेवा के नाम पर अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार लूँ।

जनसेवा अपना पैर काटना नहीं, दूसरे की टाँग तोड़ना भी होता है।"

"और राष्ट्रहित ?"

"राष्ट्रहित सिद्धान्तहीनता में सम्भव नहीं है।"

"और सिद्धान्तहीनता ?"

"उसका खात्मा अपना अस्तित्व बनाये रखने से ही हो सकता है।"

"अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए···"

"जी हाँ, बनाये रखने के लिए अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहना होगा।"

"यानी अपने स्वार्थों पर।"

"स्वार्थ नहीं सिद्धान्त कहिए।"

शर्माजी ने कहा—"इन सबके सिद्धान्तों और स्वार्थों में कोई भेद नहीं है। लेकिन सिद्धान्तों का गाना सभी गा रहे हैं।"

बड़ी मछली छोटी मछली

"मैं कुछ कहना चाहता हूँ।"

"आप किस पार्टी के हैं ?"

"मैं किसी पार्टी का नहीं हूँ।"

"आप जुलूस में कितने आदमी लायेंगे ?"

"कोई चालीस-पचास।"

"फिर बैठ जाइए।"

"लेकिन मुझे कुछ खास सुझाव···"

"बैठ जाइए, बैठ जाइए, बाद में दीजियेगा।"

यह बातचीत एक प्रेस कान्फ्रेंस में स्वघोषित संयोजक और एक युवा सामाजिक कार्यकर्ता के बीच हुई। बात यह थी कि दहेज-विरोधी प्रदर्शन के लिए जुलाई के पहले सप्ताह में राजधानी के अनेक स्त्री-संगठनों और युवा-संगठनों ने एक बैठक कर तैयारी समिति बनाने का फैसला किया था। इसमें **महिला दक्षता समिति, स्त्री बल, नारी लोकदल, नारी उपभोक्ता संघ, युवा जनता, मानुषी, समता युवजन सभा** जैसे अनेक युवा संगठन तथा **भाकपा** और **माकपा** के स्त्री संगठन, सभी शामिल थे। लेकिन जब बैठक के लिए इन संगठनों के लोग पहुँचे तो देखते क्या हैं, वहाँ पहले से ही प्रेस कान्फ्रेंस बुला ली गयी है और भाषण चल रहे हैं। तालाब में जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी तरह बड़े

राजनीतिक दल छोटे संगठनों और संस्थाओं को निगल जाते हैं। सो उस दिन की बैठक में उन तमाम छोटे संगठनों, समाजसेवी संस्थाओं को माकपा-भाकपा के संगठन निगल गये !

"बताइए, बताइए आप कितने लोग लायेंगे ?" हर एक से जो बोलने खड़ा होता ये बड़े राजनीतिक संगठन के स्वघोषित संयोजक सवाल करते और उन्हें बोलने नहीं देते और अपने दल के लोगों के भाषण जारी रखते, क्योंकि बड़े राजनीतिक संगठन होने के नाते भारी तादाद में लोगों को इकट्ठा तो वे ही कर सकते थे।

"हम कोई दलाल नहीं। न भीड़ इकट्ठा करने का पेशा करते हैं। हम इस समस्या से चिन्तित और दुःखी हैं। दहेज के नाम पर आग लगाकर मरती औरतों की आग हमारे कलेजे में लगी हुई है। उस आग में हम जल रही हैं। हमारा कोई संगठन नहीं है। हमारी एक छोटी-सी संस्था है। हम उस लड़ाई में जी-जान से शामिल होना चाहती हैं। हमें कुछ कहना है। आप हमें बोलने क्यों नहीं देते···"

एक प्रौढ़ औरत इन्हीं शब्दों में पीछे से उठकर कुछ कहने की कोशिश कर रही थी, लेकिन इन बड़े राजनीतिक दलों के लोगों ने उसे बोलने नहीं दिया।

"बहनजी, आपको जो कहना है बाद में कहियेगा, अभी नहीं।" उस औरत को जबरदस्ती बैठा दिया गया और इन बड़े संगठनों के भाषण जारी रहे।

जब भाषण खत्म हो गये और ये बड़े राजनीतिक संगठन एक व्यापक मंच को हथियाने में सफल हो गये तो बैठक बरखास्त हो गयी और तैयारी समिति तथा प्रदर्शन की रूपरेखा की इजारेदारी उनकी हो गयी !

"अब आप क्या करेंगी ?" स्तम्भकार ने छोटी संस्थाओं और संगठनों की कुछ स्त्रियों से पूछा।

"हमें इस प्रदर्शन से कोई राजनीतिक पूँजी नहीं बनानी है। हम लाशों का राजनीतिक व्यापार नहीं करतीं। हमारी शक्ति, हमारे साधन भले ही सीमित हों पर हमारी तकलीफ़ की कोई सीमा नहीं है। हम जायेंगी चाहे हमारे साथ दस-पाँच औरतें और लड़कियाँ ही क्यों न हों। और 3 अगस्त के दहेज-विरोधी प्रदर्शन में शामिल होंगी। हमें अपना नाम नहीं चाहिए। न अपना, न अपनी संस्था का। हमारे भाइयों के छोटे-मोटे संगठन भी हमारे साथ होंगे। क्या फ़र्क पड़ता है यदि इसका नेतृत्व उनके हाथों में रहता है जिनके पास तादाद है।"

स्तम्भकार सोचने लगा—ठीक ही है, क्या फ़र्क पड़ता है। अक्सर तादाद के पीछे थोड़े लोगों का संकल्प ही होता है, जान की बाजी लगा देने का हौसला होता है। ऐसे थोड़े लोग ही तादाद की ताकत होते हैं। मशाल उस थोड़े-से तेल और कपड़े से रोशन होती है जिसे एक बड़ी-सी छड़ी उठाये रहती है। तादाद तो उस छड़ी की तरह है। जलते तो थोड़े ही लोग हैं।

वे औरतें अलग बैठकर इस प्रदर्शन में अपने हिस्से की तैयारी कर रही थीं, जिसे जानने के लिए वहाँ कोई अखबार का रिपोर्टर नहीं था। उनके व्यक्तिगत और संस्थागत छोटे प्रयासों को कोई जान नहीं पायेगा। उनकी अलग से कोई पहचान नहीं होगी, न उनका कोई खास झण्डा होगा। लेकिन उनके संकल्प की आँच से इस प्रदर्शन में रोशनी होगी। यह वह देख सकेगा जिसकी आँख पर किसी बड़ी पार्टी का चश्मा नहीं होगा।

दो अगस्त को भाजपा ने दहेज-विरोध में और दहेज की मौतों पर अलग जुलूस निकाला। तीन अगस्त को दहेज-विरोधी चेतना मंच की ओर से इन लोगों का प्रदर्शन होगा।

उसमें बड़े राजनीतिक दलों के झण्डे नहीं होने चाहिए। ऐसा बाद में तय हुआ। पर पता नहीं। दुर्भाग्य की बात है कि इतने बड़े सामाजिक मसले पर भी राजनीतिक दल एक साथ नहीं हो सकते। लगता है, इन्हें समस्या की नहीं अपनी राजनीति की ही चिन्ता है।

होली का कालपात्र

सन् 1981।

भारत का स्वर्णयुग है। चारों ओर सुख, शान्ति और सम्पन्नता है। रात-दिन हर घर से मधुर संगीत प्रवाहित होता रहता है। लगता है जैसे सारा देश गा रहा है। शहरों, गाँवों, सुदूर एकान्त स्थानों, महलों, झोंपड़ियों सभी जगह संगीत गूँजता रहता है। इस देश में लोग इतने सुख में हैं कि संगीत उनकी रग-रग में समाया हुआ है। हल चलाते समय बैलों की सींग में ट्रांजिस्टर लटका हुआ मिलता है। ट्रांजिस्टर [illegible] का आजादी के बाद विकसित किया गया यन्त्र है, जो ज़रा-सा छूते ही गाने लगता है। शान्ति इतनी है जितनी रामराज्य में भी नहीं रही होगी। हजारों भगवान, योगी, बाबा, सन्त निर्विघ्न अपना यज्ञ करते रहते हैं। सारे संसार में पुष्पक विमानों [illegible] भक्तजन इन महायज्ञों में शामिल होने, अपनी समिधा डालने और भजन कीर्तन की पावन तरंगों में निमज्जित होने के लिए आते हैं। धर्म का सुनहरा आलोक चारों तरफ फैला हुआ है। बूढ़ा या जवान उसके नशे में विभोर है। वसुधैव कुटुम्बकम् सही अर्थों में ही चरितार्थ है।

अपने देश से अधिक यहाँ लोगों को विदेशों की चिन्ता रहती है। सारे अखबार-[illegible] वहाँ की खबरों से भरे रहते हैं और उनकी समस्याएँ सुलझाने में जी-जान

से लगे रहते हैं। सम्पन्नता बेमिसाल है। शायद भारत कभी भी इतना सम्पन्न नहीं रहा होगा, जितना कि अब है। लोगों के पास अथाह धन है। हर समय लोग मनाते रहते हैं कि चीजें और महँगी हों ताकि उनका धन किसी तरह निकले। सरकार पर दबाव डालकर महँगाई बढ़वायी जाती है और सरकार इतनी सहृदय और जनप्रेमी है कि उनकी इच्छा पूरी करने में कोई कसर नहीं उठा रखती। यह लोगों की सम्पन्नता ही है कि कुछ दिन पहले सरकार हटा दी गयी जो लोगों की माँग पर महँगाई बढ़ाने के लिए तैयार नहीं हुई। घर-घर में सम्पन्नता हिलोरें ले रही है। जितने वजन का सामान नही आता, उससे अधिक वजन के सिक्के लोग बाजारों में फेंक आते हैं। दूकानें हर तरह के समान से भरी रहती हैं और उनके सामने खरीददारों की भीड़ लगी रहती है। महँगी-से-महँगी चीज़ खरीदने में लोग गर्व करते हैं। जो जितनी ही महँगी चीज खरीदकर लाता है समाज में वह उतने ही आदर की दृष्टि से देखा जाता है। अक्सर लोग सड़कों पर महँगाई की खुशी में जुलूस निकालते और सरकार के प्रति कृतज्ञता के नारे लगाते देखे जाते हैं। यह खुशी दिन-पर-दिन बढ़ रही है। सारे देश के, गाँव-गाँव के लाखों किसान, मजदूर, औरतें और छात्र सरकार को बधाई देने राजधानी आते रहते हैं और उनके दर्शनार्थ सरकारी नेताओं का हँसता हुआ चेहरा शहरों की दीवारों पर चिपका रहता है।

लोगों के स्वास्थ्य का क्या कहना ! हर तरफ लोग प्रसन्नचित्त झूमते हुए दीखते हैं। खाने-पीने में किसी तरह का परहेज कोई नहीं करता। अपने सुन्दर स्वास्थ्य के कारण वे भूख और लीद तक पचा लेने की सामर्थ्य रखते हैं। सरकार भी उनकी रोग-प्रतिरोध-क्षमता नष्ट न होने देने के लिए प्रयत्नशील रहती है। उसने मिलावट की खुली छूट दे रखी है। कोई भी आदमी किसी भी चीज़ में कुछ भी मिला सकता है और बेच सकता है। और लोग मगन हो खा सकते हैं। दवाओं और इंजेक्शनों तक में मिलावट की जाती है और सरकार यह देखकर खुश होती है कि उसे भी झेलने का स्वास्थ्य देश के नागरिकों में विद्यमान है। पूरे देश के विक्रेताओं में मिलावट की होड़ लगी हुई है और उसे चुटकी बजाते लात मार देने की उपभोक्ता में। यह 'स्वस्थ प्रतिस्पर्धा' इस स्वस्थ देश में चारों ओर देखने में आती है। आदमी इस बात पर गर्व महसूस करता है कि उसने जहर खा लिया और उसका कुछ नहीं हुआ।

लोग निश्चिन्त होकर घूमते हैं। औरतें जेवर पहनकर निकलती हैं और चाहती हैं कोई उचक्का उसे झपटकर ले जाये। ऐसा न होने पर दुःखी होती हैं। समाज में यह गर्व की बात मानी जाती है कि घर में चोरी हुई, डाका पड़ा। लोग इसे गर्व से बताते घूमते हैं। अखबारों में ऐसी घटनाएँ धूम से छापी जाती हैं। राह चलते लूट लिया जाना बड़े सौभाग्य का विषय माना जाता है। लोग रेलगाड़ियों में, बसों में

कीमती सामान लेकर चलते हैं और यदि बिना लुटे आ गये तो खुद को धिक्कारते हैं और ईश्वर को गालियाँ देते हैं। सरकार ने इस बात की पूरी व्यवस्था कर रखी है कि लोग बचने न पायें, जहाँ तक सम्भव हो अवश्य लूटे जायें। लूटपाट में मारे जाने को लोग शहीद होना या वीरगति पाना कहते हैं। ऐसा आदमी बड़ा नसीब-वाला माना जाता है। पुलिस जनता का ऐसा कोई भी मनोरथ पूरा होने देने में कहीं आड़े नहीं आती। जनता पुलिस को बड़ा स्नेह करती है। वह कभी किसी भी घर में घुस सकती है। हर घर के दरवाजे उसके लिए खुले रहते हैं। वह जो चाहे, जनता उसे खुशी-खुशी दे देती है। अक्सर अपनी बहू-बेटियाँ तक वह उनके लिए मुहैया कर देती है। यह प्रथा शहरों में ही नहीं गाँवों तक फैली हुई है, सवर्णों से लेकर पिछड़े वर्ग और हरिजन तक पुलिस का मान करते हैं। हरिजन, पुलिस को अधिक प्रिय हैं जो सदा से दलित रहे हैं। अब पुलिस दलितोद्धार का काम भी कर रही है। हरिजन स्त्रियों के साथ अब पुलिस के सम्बन्धों की खबरें समाज में चर्चा का विषय हैं। अखबारों में उनकी लम्बी-लम्बी रिपोर्टें आती हैं। हरिजन औरतों के साथ पुलिस जबर्दस्ती यह सम्बन्ध बनाती भी है। उसकी साख बढ़ती जा रही है।

चोर, डाकू, हत्यारे, बड़े-बड़े अपराधी सब पुलिस को अपना भाई मानते हैं और उसकी जानकारी के बिना कुछ नहीं करते। पुलिस और अपराधियों का तथा पुलिस और जनता का ऐसा सुमधुर रिश्ता कभी नहीं रहा। विश्व-विकलांग वर्ष के अवसर पर जनता खुद पुलिस के पास जाकर आँखें निकलवाती है, हाथ-पैर तुड़वाती है ताकि विकलांगों में कहीं भारत पीछे न रह जाये। पुलिस और जनता का यह अमूल्य सहयोग संसार के इतिहास में बेमिसाल है।

जहरीली शराब पीकर मरना शुभ माना जाता है। अक्सर स्त्रियाँ और पुरुष ऐसी मौत से मरते पाये जाते हैं। समाज में गरीब वर्ग को सबसे अधिक सम्मान प्राप्त है। यह सुविधा भी उन्हीं को दी जाती है। आमतौर से लोग नंगे बदन रहना पसन्द करते हैं। तीन चौथाई देश को सरकार की ओर से नंगे-बूचे रहने की छूट मिली हुई है। अँधेरा यहाँ लोगों को पसन्द है। सरकार उसे बढ़ाने में उनकी मदद कर रही है। पानी को लोग आखेट की तरह लेते हैं और सरकार ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि देश के गाँवों में मीलों का इलाका इस आखेट के लिए हो। देश में जरूरत से ज्यादा अन्न है फिर भी यहाँ के गाँवों का धर्मपरायण आदमी एक वक़्त खाकर रहने में ही सन्तुष्ट रहता है। दो वक़्त खाने की कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती सरकार की ओर से नहीं है।

संस्कृति के क्षेत्र में इस नैतिक और शारीरिक स्वास्थ्य का बोलबाला है। साहित्य, संगीत, कला सभी क्षेत्रों में स्वनामधन्य लोगों के अखाड़े हैं। कोई-न-कोई पहलवान आगे चलता है, पीछे-पीछे चेले। यह दृश्य हर कहीं देखा जा सकता है।

बुद्धिजीवी का समाज में बड़ा सम्मान है। हर आदमी को खुद को बुद्धिजीवी कहने और यह सम्मान पाने का अधिकार है। शिक्षा अपने सर्वोच्च शिखर पर है। पैदा होते ही बच्चों की दृष्टि उदार बनाने की कोशिश की जाती है। उन्हें अपनी भाषा के संकीर्ण दायरे से निकाला जाता है और शिशुगीत और लोरियाँ भी उन्हें अंग्रेज़ी में सुनायी और रटायी जाती हैं। इसका सारे राष्ट्र के जीवन पर वह प्रभाव है जो वेदकालीन भारत से लेकर मध्ययुगीन भारत तक में नहीं था।

वस्तुतः यह भारत-जीवन का स्वर्णयुग है। इतना खुश और सन्तुष्ट भारत का आदमी कभी नहीं रहा, जितना आज है। सत्ता बेहद लोकप्रिय है। उसके नेता की फोटो घर-घर में दिखायी देती है। यह विवरण मैं अष्टधातु, कबीर चौरा, वाराणसी में लिखकर होली पर कालपात्र के हवाले करता हूँ ताकि सनद रहे और आगे आनेवाली पीढ़ियों के काम आये।

भोंथरा चाकू

पिछले दिनों प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने निवास पर एकत्र कोई पाँच-सौ बुद्धिजीवियों से जिनमें शिक्षक, डाक्टर, इन्जीनियर, वकील, अर्थशास्त्री, लेखक सभी शामिल थे, कहा गया कि—'राष्ट्र की एकता को यदि खतरा हो तो बुद्धिजीवी, उदासीनता और खामोशी की मुद्रा नहीं अख्तियार कर सकता।'

शर्माजी इस खबर को पढ़कर उत्तेजित थे। बोले, "उदासीनता और खामोशी की मुद्रा न अख्तियार करना तो बुद्धिजीवी का लक्षण ही है। समाज में हर स्थिति में जो खामोश टुकुर-टुकुर देखता रहे वह काहे का बुद्धिजीवी? इतनी मोटी बात जानने के लिए उन्हें प्रधानमन्त्री का दरवाजा क्यों खटखटाना पड़ा? किसी भी गति-शील देश की ओर नजर उठा लेते तो बुद्धिजीवियों का क्या फ़र्ज़ है यह उन्हें मालूम हो जाता। सच बात तो यह है कि अपने यहाँ के बुद्धिजीवी, बुद्धिजीवी हैं ही नहीं। बड़ी-से-बड़ी बात हो जाये उनके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। राजनीति और समाज में कुछ भी घटित हो रहा हो, कोई भी इमारत गिर रही हो, कहीं भी जमीन दरक रही हो, कहीं पता चलता है कि देश के बुद्धिजीवी क्या सोच रहे हैं? यदि कुछ सोचते होते तो उन्हें इन्दिराजी के यहाँ जाने की जरूरत नहीं थी और न ही इन्दिराजी को उन्हें उनका फर्ज समझाने की जरूरत थी। इस देश का आम आदमी फिर भी बेहतर है। बुद्धिजीवी पोच और लचर है, बिना रीढ़ का है। कायर और डरपोक है। इतिहास की गति में अपने योग को नहीं पहचानता। सोचने-विचारने,

और उसके लिए जूझने में असमर्थ और सुविधाजीवी है।"

शर्माजी का बुद्धिजीवियों पर इतना क्रोध देखकर इस स्तम्भकार से नहीं रहा गया। इसने कहा—

"इतना बुद्धिजीवियों को मत कोसिए। कुछ करने की इच्छा थी तभी तो अपनी नेता इन्दिराजी के पास गये।"

"बुद्धिजीवी का कोई नेता नहीं होता। उसका नेता उसका विवेक, उसकी दृष्टि होती है। उसे लेकर वह किसी का साथ दे यह दूसरी बात है। बुद्धिजीवी को सत्ता का रास्ता दिखाने योग्य होना चाहिए, न कि सत्ता बुद्धिजीवी को उँगली पकड़कर चलाये। यह इस देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ ऐसा बुद्धिजीवीवर्ग नहीं है। इसलिए उसकी समाज में कोई आवाज नहीं है। उसका कोई प्रभाव नहीं है। वह भोंथरे चाकू की तरह है। उसे इन्दिराजी या सत्ता में आने पर कोई भी पहँट-पहँट कर कितना तेज कर लेगा?" शर्माजी ने कहा।

"यह आप 'अति' में बोल रहे हैं। वकीलों, डाक्टरों, इन्जीनियरों, लेखकों, पत्रकारों, शिक्षकों की कुछ तो आवाज समाज में है ही।"

"कुछ भी नहीं। इनमें से किसी पर भी समाज को यकीन नहीं है सब अपने व्यवसाय में लगे हुए हैं। राजनीति से अपना व्यवसाय चलाने-भर का इनका सरोकार होता है, चाहे शिक्षक हो चाहे वकील। पत्रकार अधिकतर अपना माल बेचता है—अपने मालिक के इशारे पर। समाज को बदलने की उसकी भूमिका नहीं होती। पार्टियों की आपसी उठा-पटक में वह शामिल रहता है। यही उसकी भूमिका होती है। सामाजिक सड़न के बुनियादी तत्वों को पहचानने, उसकी विसंगतियों को बताने का जो काम उसे करना चाहिए वह, वही नहीं करता। इसलिए नहीं कि वह कर नहीं सकता बल्कि इसलिए कि वह मानता है इसमें उसका निजी तात्कालिक लाभ नहीं है। लेखक और कलाकार जरूर इससे मुक्त हो सकते थे पर उनमें से अधिकतर सुविधाजीवी होते जा रहे हैं और जो हैं वे बोलते नहीं। क्योंकि मानते हैं कि उनकी आवाज के रास्ते सत्ता से अधिक उनके सहधर्मियों ने ही बन्द कर रखे हैं।"

"ऐसी दयनीय स्थिति है तो फिर सत्ता बुद्धिजीवियों को क्यों सेंटती है?"

"बिल्कुल नहीं सेंटती। उसे बुद्धिजीवियों की कोई जरूरत नहीं है। न उसे उनका कोई डर है। वे उसके पास जाते हैं तो वह उनको सम्बोधित कर देती है। [illegible] वह जानती है कि जो वह चाहेगी, इस समाज के बुद्धिजीवी वही करेंगे। जो नहीं करना चाहते हैं या जो उसका समर्थन नहीं करते वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।"

"क्या ऐसे थोड़े-से बुद्धिजीवियों ने ही व्यवस्था की चूलें हिलाकर नहीं रख दी?" स्तम्भकार ने पूछा।

"इस देश में ऐसा कोई नहीं दीखता। ऐसा बुद्धिजीवी जो अँधेरे में मशाल हो। जिसकी आवाज इस शोरगुल में भी अलग सुनायी देती हो—इतनी समर्थ, इतनी अलग कि उसके सहारे देश खड़ा हो सके। ऐसा कोई नहीं है। सब टुकड़े तलाशते घूमते हैं। या अपनी आत्मा की रक्षा के लिए अपनी रचना के सीमित दायरे में डूबे रहते हैं। वे उन लपटों का सृजन नहीं कर सकते जो विप्लवकारी हों। यह व्यवस्था अच्छी तरह जानती है—उसके सामने कोई 'समानान्तर सरकार' नहीं है जो बुद्धिजीवियों के लिए कहा जाता है कि वे एक समानान्तर सरकार होते हैं। इसीलिए राष्ट्र को आगे ले जाने का जो भी सही-गलत तरीका जिस भी सत्ताधारी के पास होता है वह बुद्धिजीवी को अपने साथ चलने को कहता है। जैसे रस्साकशी में सबसे पीछे एक मोटा आदमी बाँध दिया जाता है, जिसमें वजन होता है, ताकत नहीं। यही उपयोग है बुद्धिजीवियों का।"

चोर-चोर

इन्हीं दिनों नयी दिल्ली के अखिल भारतीय स्तर के एक अस्पताल के एक नामी मनोचिकित्सक से भेंट हुई। वह कुछ हैरान-से थे। पूछा क्या बात है तो पता चला कि अस्पताल में इन दिनों उनकी देख-रेख में एक अजीबोगरीब मरीज आया हुआ है।

"क्या मतलब ?"

"भई पहली दफा ऐसा मरीज मेरे पास आया है जिसने मुझे चक्कर में डाल रखा है। वह कहता है कि 'उसके कान में हर समय जोर-जोर से चोर-चोर की आवाज आती रहती है।' उसे लगता है कि उसके कान में कोई जोर-जोर से चीखता रहता है—चोर-चोर। इसे लेकर वह बेहद परेशान है—उसके चेहरे पर एक अजीब तरह का तनाव, भय और आतंक हर समय दीखता रहता है।"

"कितने दिनों से यह मरीज है ?"

"यही पिछले दस-बारह दिनों से। वह उठ-उठकर 'पकड़ो-पकड़ो' कहकर भागता है फिर पकड़कर लाया जाता है और कानों में उँगलियाँ डालकर निढाल हो पड़ रहता है, एकदम लस्त।"

"वह क्या कहता है ? यह बीमारी एकदम से हुई है उसे ?"

"नहीं, विचित्र है उसकी केस-हिस्ट्री। उसकी उम्र कोई पचास के लगभग है। आजादी मिलने के वक्त वह सत्रह साल का था। उस समय बिल्कुल ठीक था। वह कहता है कि 1950 तक आते-आते उसके कानों में कुछ भारीपन रहने लगा। वह कड़वा तेल, सुदर्शन का रस, हाइड्रोजन पेरासाइड वगैरह सब डालता रहा। कभी-कभी कुछ राहत लगने लगती पर भारीपन गया नहीं। 1955 के बाद से उसके कानों में धीरे-धीरे 'चोर-चोर' की फुसफुसाहट आनी शुरू हो गयी। उसे दबाने के लिए वह संगीत वगैरह सुनता रहा। जो भी दवा कोई बता देता, डालता रहा, पर चोर-चोर की यह फुसफुसाहट बजाय कम होने के धीरे-धीरे बढ़ती ही गयी और अब आलम यह है कि वह 'चोर-चोर' की फुसफुसाहट बढ़ते-बढ़ते चोर-चोर की जोरदार चीखो-पुकार में बदल गयी है।"

"यह आवाज किस समय उसके कानों में आती है ?"

"किस समय का क्या मतलब ? अरे भाई रात-दिन बनी रहती है।"

"वह क्या राजनीतिक व्यक्ति है ?"

"बिल्कुल नहीं।"

"फिर क्या लेखक, कलाकार या कोई बुद्धिजीवी टाइप है ?"

"क्या बात करते हो। वह बिल्कुल साधारण पढ़ा-लिखा है। सीधा-सादा गाँव-कस्बे का संघर्ष करता गरीब आदमी लगता है।"

"अपने बारे में कुछ और बताता है।"

"नहीं। बस बीच-बीच में परेशान होकर 'पकड़ो-पकड़ो' चिल्लाता है। उसके बाद उसे फिट आ जाता है।"

"उसके खानदान में भी क्या कोई इस तरह के मनोरोग से पीड़ित था ?"

"नहीं, जहाँ तक उसकी जानकारी है। वह कहता है, सभी पूरी तरह दिल-दिमाग से दुरुस्त थे। आजादी की लड़ाई में जरूर उसके माँ-बाप, पितामह वगैरह सब शामिल हुए थे और उसका परिवार कुर्बानी देनेवाला परिवार था और आजादी के लिए अपनी कुर्बानियों का कोई मोआवज़ा उन्होंने आजादी के बाद न सरकार से चाहा था, न माँगा था। कहता है अब तक यह आवाज किसी तरह बरदाश्त करता रहा पर अब असह्य हो गया है। इसीलिए न चाह कर भी उसे इलाज के लिए अस्पताल आना पड़ा।"

"वह अखबार वगैरह पढ़ता है ?"

"हाँ, इस मामले में वह जागरूक आदमी है। पढ़ता है और सोचता-समझता है।"

"क्या उसकी हालत अन्तुले-काण्ड के बाद से ज्यादा खराब हुई ?"

"हो सकता है, लेकिन वह इसे खास अहमियत नहीं देता। कहता है वह आवाज तो बहुत दिनों से आ रही है और अब इतनी बढ़ गयी है कि लगता है कान के परदे फट जायेंगे।"

"फिर आप उसे क्या सुझा रहे हैं ?"

"समझ में नहीं आता क्या करूँ ?"

"आपने यह नहीं बताया कि जितनी जोर की आवाज चोर-चोर की कान में आती है, उससे ज्यादा जोर से वह खुद चोर-चोर चिल्लाये। वह आवाज दब जायेगी।"

"वह कहता है कि वह कितनी जोर से क्यों न चिल्लाये यह आवाज दबती नहीं। उस अकेले की आवाज से कहीं ज्यादा जोर की यह आवाज है।"

"फिर उससे कहिए कि उसके घरवाले, पास-पड़ोस वाले, उसके साथी सभी एक साथ जोर से चोर-चोर चिल्लायें तो वह आवाज दब जायेगी।"

"हाँ, हो सकता है। पर किसको पड़ी है दूसरे के लिए इतना करने की ? सब अपने में मगन हैं, एक साथ मिलकर सब चिल्लाएँ तो उस पर जरूर असर पड़ेगा।"

पाठको ! क्या आप इस बेचारे को मुक्त करना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो कम-से-कम सब मिलकर चोर-चोर कहकर चिल्लाइए। शायद उसके कानों में आती वह यातनादायक आवाज दब जाये। और वह इस तनाव, भय और आतंक से मुक्त हो जाये। क्या आपको ऐसा नहीं करना चाहिए ? सोचिए। जब आप सब मिलकर चिल्लाइयेगा तभी सब मिलकर चोरों को पकड़ने और उससे मुक्त होने की कोशिश भी कीजियेगा।

मण्डी गाँव के हरिजन

उस दिन शर्माजी एक परचा लिये हुए बैठे थे। जिसमें लिखा था कि दिल्ली की तहसील मेहरौली के गाँव मण्डी में इस बार हरिजनों ने दीवाली नहीं मनायी—न दिये जले, न खाना पका, न पटाखे छुड़ाये गये। वह अपनी जमीन चाहते थे, जिस पर उनका हक़ था। परचा पढ़ने पर पता चला कि 1974 में ग्राम-सभा की कोई 80 एकड़ जमीन 80 भूमिहीन हरिजन परिवारों को बाँट दी गयी थी। यह जमीन उन्हें पाँच साल के लिए लीज़ पर दी गयी थी। इसके लिए प्रति एकड़ उन्होंने साढ़े-नौ रुपये दो साल के लिए दिये थे, जिसकी रसीद भी उन्हें मिली थी। लेकिन उन्हें जमीन जोतने-बोने नहीं दी गयी क्योंकि उस पर गाँव के गूजरों ने अवैध कब्जा कर रखा है। बाद में सरकार ने भी चकबन्दी कार्यक्रम लागू करने तक रोक लगा दी। यद्यपि ऊँचा तबका उसी जमीन में जोताई-बोआई करता रहा। केवल गाँव के हरिजनों को ही मनाही कर दी गयी कि जब तक चकबन्दी का काम पूरा नहीं हो जाता, वे उसे जोत-बो नहीं सकते। लेकिन चकबन्दी में दसियों साल लग सकते थे। हरिजनों ने जब इसका विरोध किया तो ग्राम-पंचायत इस बात पर राजी हो गयी कि जिस दिन उन्हें जमीन दी जायेगी उस दिन से ही पाँच साल की लीज़ लागू होगी। हरिजन यह आश्वासन पाकर फिर अपना सामान्य काम, गाँव की सफाई और पत्थर तोड़ने का, करने लगे। पिछले साल पंचायत के चुनाव के पहले ग्राम-प्रधान ने फिर जमीन हरिजनों को बाँट देने का निश्चय किया और हरिजनों ने यह सोचकर अन्ततः खेती उन्हें ही करनी है तुरन्त रबी की फसल बो दी। यह बात गाँव के ऊँचे तबके को नहीं सोहायी। चुनाव में पुराने ग्राम-प्रधान को गूजरों के समर्थन से हटा दिया गया और नये ग्राम-प्रधान ने, जो इस बल पर चुनाव जीते थे कि हरिजनों को जमीन नहीं देने दी जायेगी, पख लगाने शुरू किये।

इस पर गाँव में तनाव बढ़ा, दिल्ली-प्रशासन कुछ झुका। उसने अखबारों द्वारा ऐलान किया कि 'आपसी समझौता' हो गया है और जमीन 80 हरिजन परिवारों को शुरू में एक साल के लिए दी जाती है, बाद में छः महीने के भीतर ही चकबन्दी का काम पूरा कर दिया जायेगा। पर हुआ नहीं। न कोई 'पक्का बन्दोबस्त' ही हुआ। अधिकारीगण फिर सो गये। इस 29 जुलाई को गूजरों ने हरिजनों की बाजरे की खड़ी फसल में मवेशी हाँक दिये और हल चला दिया। हरिजनों की बीस हजार रुपये की लागत चौपट हो गयी। जिस समय यह हादसा हुआ उस समय हरिजनों के अगुआ थे नहीं, हादसे से सब भौंचक रह गये। शोरशराबा हुआ। पुलिस, सी. आर. पी. पहुँची। पुलिस चौकी बनी। हरिजनों को बचाने के नेक इरादे व्यक्त किये गये और उन्हें आश्वासन दिये गये। 2 अगस्त को सब डिविजनल मजिस्ट्रेट और चकबन्दी अधिकारी ने यकीन दिलाया कि चकबन्दी 30 अगस्त तक पूरी हो जायेगी और जमीन हमेशा-हमेशा के लिए हरिजनों की हो जायेगी लेकिन अक्तूबर मध्य तक कुछ न होने पर उन्होंने दीवाली न मनाकर अपना दुख और गुस्सा जाहिर किया और ऐलान किया कि यदि 28 अक्तूबर तक प्रशासन ने कुछ नहीं किया तो वे उस जमीन को जोत लेंगे जो आधिकारिक रूप से उनकी है और यदि उन्हें रोका गया तो अपनी जान तक दे देंगे।

उनकी यह अपील और उनके इस फैसले की विज्ञप्ति प्रधान-मन्त्री, लेफ्टीनेण्ट गवर्नर तथा सभी सम्बन्धित अधिकारियों को भेज दी गयी। 28 अक्तूबर को लेफ्टीनेण्ट गवर्नर की सलाह पर डिप्टी कमिश्नर, सब डिविजनल मजिस्ट्रेट, चकबन्दी अधिकारी, पटवारी और अन्य अधिकारियों के साथ बातचीत हुई। डिप्टी-कमिश्नर ने साफ कह दिया कि ग्राम-सभा की जमीन देने का अधिकार प्रशासन को नहीं है, ग्राम-सभा को ही है। पर चकबन्दी का काम जल्दी क्यों नहीं हो सकता इसका कारण उन्हें नहीं दीखता। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि हरिजनों की जमीन भी, जिसे वह जोत रहे थे, चकबन्दी किसी व्यक्ति के मालिकाना हक के अधीन नहीं

की जायेगी, वह ग्राम-सभा की ही रहेगी। उन्होंने यह भी कहा कि कोई कारण नहीं है कि हरिजन अपनी जमीन नहीं जोत सकते जिसे फसल बरबाद किये जाने के पहले तक उन्होंने जोती थी। उन्होंने सभी अधिकारियों को तुरन्त इस मामले में फैसला लेने का आदेश दिया। हरिजन-नेताओं और अधिकारियों के बीच काफी बहस-मुबाहसे के बाद चकबन्दी-अधिकारी ने ज़बानी यह आश्वासन दिया है कि चकबन्दी का काम तीन महीने में पूरा हो जायेगा और हरिजनों की जमीन जिसे वह जोत रहे थे, ग्राम-सभा के पास रहेगी और उसका मालिकाना हक किसी व्यक्ति को नहीं दिया जायेगा। इस जबानी आश्वासन के बदले उन्होंने हरिजन-नेताओं से यह लिखित आश्वासन लिया है कि वे इस बीच कोई झगड़ा-फसाद नहीं करेंगे और 28 अक्तूबर के बाद से तीन महीने तक इन्तजार करेंगे।

अब सवाल यह है कि चकबन्दी हो जाने पर जमीन कौन जोतेगा? हरिजन यह समझते हैं कि वे जोतते रहे हैं अतः ज़मीन उनकी होगी, न्याय और कानून यही कहता है। लेकिन देखना यह है कि क्या गूजर यह होने देंगे? और ग्राम-सभा और दिल्ली-प्रशासन अपना वचन निभायेंगे? यदि नहीं तो 3 महीने बाद वह दुखद घटना घट सकती है जो 28 अक्तूबर को टल गयी।

स्तम्भकार ने शर्माजी से पूछा—"आप क्या समझते हैं, ऐसे मामलों में दोष किसका होता है?"

"जाहिर है राजनेताओं का और सरकारी अधिकारियों का। सरकारी अधिकारी राजनेताओं के हित में और कुछ अपने प्रमादवश देर लगाते हैं। असल में हरिजनों को छोड़कर किसी को भी जमीन के जुतने, न जुतने से कोई सरोकार नहीं है। वह इस स्थिति में राजनैतिक पूँजी बनाना चाहते हैं और उस पूँजी का इस्तेमाल चुनाव के लिए किया जाता है। यह दुर्भाग्य की बात है। अधिकार और न्याय की बात इस व्यवस्था में धरी रह जाती है और राजनेता हर स्थिति को घटना बनाता और उसे नोंच-नोंचकर खाता है। यह सीधी-सी स्थिति भी इसका शिकार है। ग्राम-सभा की जमीन हरिजनों को दे दिये जाने के बावजूद इसीलिए खटाई में पड़ी है और शायद आगे भी पड़ी रहेगी। इस देश में प्रशासन का काम गुत्थियाँ सुलझाना नहीं उलझाना है। या थोड़ा सुलझाकर और उलझा देना है। ऐसी घटनाएँ सारे देश में बिखरी पड़ी हैं।"

"आप क्या समझते हैं प्रशासन अपना वचन पूरा करेगा?"

"उसका चरित्र देखकर यकीन नहीं होता। वह कोई और चाल चल देगा और हरिजन लड़ भी मरेगा तो क्या होगा? चलेगी तो ताकतवाले की।"

"फिर ऐसी स्थितियों में पीड़ित वर्ग क्या करे? कानून तो वह तोड़ नहीं सकता?"

"कानून तो ताकतवालों के लिए हैं। उस वर्ग के लिए है जिन्होंने उसे बनाया

है। इसीलिए ताकतवाला कानून तोड़ भी देता है और उसका कुछ होता भी नहीं।"

"फिर गरीबवर्ग क्या करे?"

"व्यवस्था बदलने की तैयारी, जो अपना अधिकार समझने और उसके लिए लड़ने से बदलेगी। हो सकता है शुरू-शुरू में ऐसी मुठभेड़ों का कोई परिणाम हाथ न आये पर अन्त में उसका परिणाम निकलेगा, निकलता है। तमाम छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हारकर भी एक बड़ी लड़ाई जीती जाती है। हर मुठभेड़ जीती नहीं जाती, वह केवल लड़ाई जीतने का एक सिलसिला है।"

"यह कुछ अटपटा नहीं लगता कि एक जमीन पाकर भी उससे वंचित रहे और दूसरा अपनी मनमानी करने में कामयाब रहे?"

"जबरदस्त का ठेंगा सिर पर। पूरा समाज छोटे-छोटे स्वार्थों में बाँट दिया गया है। कहीं बड़े स्वार्थ रहे नहीं जिसके लिए सब एकजुट हो सकें···उम्मीद की जानी चाहिए कि इस देश में कुछ बड़े स्वार्थ भी कभी होंगे, जिनके लिए सब मिलकर लड़ेंगे। हरिजनों के अस्तित्व की लड़ाई को एक बड़ा स्वार्थ बनाया जाना चाहिए और इसके लिए सबको लड़ना चाहिए।"

क्या हिन्दू क्या मुसलमान !

इस 31 जुलाई को लाल किले के मैदान की तरफ कुछ ग्रामीण दिखायी दिये। उनकी संख्या साठ-सत्तर के करीब होगी। ये लोग उसी दिन सुबह हरिजन से मुसलमान बने थे। पास जाकर एक से पूछा—

"सुना है आप लोग···"

"हम नहीं जानते।"

"आखिर क्यों मुसलमान बन गये?"

उनमें से एक युवा सामने आ गया। हरियाणा की बोली में बोला, "हो गये तो? आदमी हो गये हम। बेइज्जती खत्म अब। गाँव में एक लड़के को कुए से पानी लेने पर मारा। बहुत मारा। अधमरा कर दिया ठाकुरों ने। अस्पताल ले गये। साथ गया कोई? बस मुल्लाजी गये। हर मुसीबत में साथ दिया। देते हैं, देंगे, भरोसा है उन पर। बेइज्जत नहीं करते। दुत्कारते नहीं। अपने लोटे में पानी पिलाते हैं। अपने साथ खिलाते हैं। बराबरी रखते हैं। छोटा-बड़ा नहीं समझते। बहुत दुःख सहा हमने। बहुत जूता-लात खाया। आग लगाया घर में। कई बार।

अलग हैं गाँव से हम। फिर भी चैन नहीं लेने देते···"

"चुपकर-चुपकर।" एक सयाने ने समझाया। पर वह बोलता गया।

"पाप कट गये अपने। तर गये हम। अलग् राम से इलाबख्श हो गये। नमाज पढ़ेंगे अब बस। सबके साथ ईद को। बराबरी से रहेंगे। आदमी की तरह। जानवर से भी बदतर थे हम। कर दिया था। बहुत जुल्म सहा अब तक।"

उसको चुप कराता हुआ सयाना बोला—

"हम क्या हो गये। यह नहीं जानते साहब। बस इतना जानते हैं कि जो हो गये हैं उससे हर वक्त की बेइज्जती से पीछा छूट गया। कुत्ते के मुँह पर भी बार-बार थूको तो वह आपको चाटेगा नहीं। आखिर हाथ, पैर, नाक, कान, मुँह वही है। अपना कुछ बदला नहीं। बस भगवान बदल गया—खुदा हो गया। उसके दरबार में ऊँच-नीच नहीं। सो साहब उसी की इबादत करेंगे। बड़ा भाईचारा है यहाँ। यहाँ सब गले लगते हैं, कीचड़ से निकल आये साहब कीचड़ से। गरीब हैं, गरीब रहेंगे पर इज्जत से रहेंगे। दुख-सुख में साथ देनेवाले, माया-ममतावाले, अपना समझनेवाले अब मिल गये। हम तो यही चाहते थे—हिन्दू-मुसलमान से हमें क्या मतलब? खुदा के घर में अब जाने को मिल गया। वरना ठोकरें खाते थे। उसके दरबार में भी पहुँच नहीं थी। अब समझिए उसके दरबार में पहुँच हो गयी बस। क्या हिन्दू क्या मुसलमान!"

दुःस्वप्नेर नगरी

पिछले दिनों एक अख़बारनसीब मिले जो चरणसिंह के उस संवाददाता सम्मेलन में थे, जिसमें चरणसिंह ने अपने आगमन पर संवाददाताओं को खड़े न होने पर डाँटा था और विरोध में सारे संवाददाता उठकर चले गये थे। इस अख़बारनवीस का चेहरा धुआँ-धुआँ था। कारण पूछने पर उसने बताया—"इधर उसे बड़े बुरे-बुरे सपने आ रहे हैं।"

"कैसे सपने?" स्तम्भकार ने पूछा।

"कुछ मत पूछो। बहुत बुरे-बुरे सपने। रात में मैं चीखकर उठ बैठता हूँ। घण्टों थरथराता, काँपता रहता हूँ। समझ में नहीं आता इन सपनों का मतलब क्या है? क्या होनेवाला है?"

पहले तो वह सपने बताने से कतरा रहे थे। फिर स्तम्भकार के बहुत आग्रह करने पर बोले—

"पाँच दिन हो गये। रोज़ एक दहला देनेवाला सपना रात में देखता हूँ। पहले दिन देखा चरणसिंह मुकुट लगाये सिंहासन पर बैठे हैं। दरबार लगा हुआ है। चोबदार खड़े हुए हैं। अचानक मेरा नाम पुकारा जाता है। मैं खुश-खुश जाता हूँ कि ज़रूर राजा कुछ इनाम-इकराम देने के लिए मुझे बुलवा रहा है। मेरी योग्यता और सेवाओं से प्रसन्न है।"

"स्वप्न में राजा के यहाँ क्या काम करते आपने खुद को पाया?" स्तम्भकार ने पूछा।

"यही अख़बारनवीसी। हर सपने में मैं अखबारनवीस ही रहता हूँ। अपना यही धन्धा है।"

"फिर क्या हुआ?"

"मैं राजा के सामने ले जाया जाता हूँ। हाथ जोड़कर खड़ा होता हूँ कि राजा की ओर से फ़रमान सुनाया जाता है कि चूँकि मैं राजा के दरबार में आने पर खड़ा नहीं हुआ था, अतः इस बेअदबी के लिए मुझे कारावास का दण्ड दिया गया है। फिर दो सिपाही मुझे बाँधकर ले जाते हैं और एक अँधेरी कोठरी में मुझे डाल देते हैं, जहाँ फर्श पर साँप-बिच्छू चारों तरफ रेंग रहे हैं। मेरे हाथ बँधे हुए हैं। वे सब मेरे ऊपर चढ़ने लगते हैं। मुझे काटते हैं। मैं चीख पड़ता हूँ, मेरी नींद खुल जाती है।"

"राजा चरणसिंह ही हैं?" स्तम्भकार ने पूछा।

"हाँ, बहुत देर तक मुकुट लगा, गुस्से में भरा चेहरा मेरी आँखों के सामने खिंचा रहता है।"

"फिर?"

"दूसरे दिन दूसरा सपना दिखायी देता है कि एक सामन्त मय ढाल-तलवार और जिरह-बख्तर के घोड़े पर सवार अपनी टुकड़ी के साथ मेरे सामने आकर रुक जाता है। मैं अपनी मेज़ पर बैठा समाचार टाइप कर रहा हूँ कि वह कड़ककर पूछता है—'तुम उठकर खड़े क्यों नहीं हुए?'

"'मैं काम में लगा था, उधर ध्यान ही नहीं गया।'

"'ध्यान नहीं गया' फिर दस गालियाँ दी जाती हैं। 'अभी ध्यान जाता है।' मुझे टाइपराइटर से खींचकर गिरा दिया जाता है। मैं चिल्लाता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ पर लोग मुझे उसके घोड़े के पैर से बाँध देते हैं। मैं गिड़गिड़ाता सामन्त के चेहरे की ओर देखता हूँ। वहाँ भी लोहे की टोपी लगाये चेहरा चरणसिंह का ही है। वह ज़ोर से अट्टहास करते घोड़े को चाबुक मारते हैं। और घोड़ा मुझे पत्थर पर घसीटता हुआ भागता है। मैं अपना ही खून देखकर दर्द से चीख पड़ता हूँ। मेरी आँख खुल जाती है। बहुत देर तक चरणसिंह का वह लोहे का टोपवाला चेहरा और जिस्म का दर्द बना रहता है।"

पत्रकार महोदय का चेहरा उस समय भी दर्द भरा लग रहा था। स्तम्भकार ने पूछा—

"फिर ?"

बोले—

"तीसरे दिन चरणसिंह का यही चेहरा ज़मींदार के चेहरे में बदला हुआ था। भारी पगड़ी, बड़ी-बड़ी मूँछें, बार-बार मूँछें उतरती थीं, लग जाती थीं। सादा चेहरा डरावना हो जाता था। मैं चौपाल में बैठा हुआ हूँ। गाँव के किसी आदमी का बयान लिख रहा हूँ कि अचानक कड़कदार ज़मींदार ठाकुर की आवाज़ आयी :

" 'क्यों बे ? उठकर खड़ा क्यों नहीं हुआ ?'

" 'मैंने देखा नहीं ठाकुर साहब। इन लोगों में···'

" 'देखा नहीं ! इसे अच्छी तरह दिखाओ।' हुक्म होता है और मुझे चार आदमी पकड़कर एक पेड़ से बाँध देते हैं और फिर मुझ पर कोड़े बरसाने लगते हैं। मैं चिल्लाता हूँ, दर्द से चीखता हूँ और आँख खुल जाती है।"

" फिर ?" स्तम्भकार ने पूछा।

"फिर क्या ? चौथे दिन मैं एक मठ में होता हूँ। चन्दन के तख्त पर छत्र लगा हुआ है। चँवर लिये गैरिक वसनों में भक्त खड़े हैं। कीर्त्तन हो रहा है। भक्तगणों की भीड़ बैठी हुई है। मैं मठ के हिसाब-किताब की रपट तैयार करने के लिए बातचीत कर रहा हूँ कि मठाधीश भगवान आते हैं। सिर घुटा हुआ है पर चेहरा उनका भी चरणसिंह का है। सब लोग जय-जयकार करके उठ खड़े होते हैं। मैं लिखता रह जाता हूँ। अचानक चरणसिंह के चेहरेवाले मठाधीश की आवाज़ आती है। यह आवाज़ उतनी मीठी नहीं है जितनी चरणसिंह की है। भारी है, पर शान्त है—

" 'भक्त तुम कौन हो ?'

" 'मैं अखबारनवीस हूँ।'

" 'ईश्वर के दरबार के नियम नहीं जानते ?'

" 'मैं मठ के खर्च का ब्यौरा समझ रहा था।'

" 'खर्च का ब्यौरा समझने में और भगवान के दरबार में खड़े होने में क्या खर्च होता है ?'

" 'कुछ नहीं।'

" 'अभी भी तुम बैठे हो। धर्म-विरोधी, नास्तिक !' मठाधीश भगवान चीखे। उनकी आवाज़ सुनते ही चार मुस्टण्डों ने मुझे उठाकर टाँगकर खड़ा कर दिया और तड़ातड़ खड़ाऊँ पड़ने लगीं —'नास्तिक, भगवान के दरबार में खड़ा नहीं होता।' मार खाते-खाते मेरी आँख खुल जाती है। बहुत देर तक चरणसिंह का सौम्य चेहरा मठाधीश भगवान के रुद्र चेहरे की तरह खिंचा रहता है। लेकिन आज पाँचवें दिन

का हाल निराला था। मैं थाने में कुछ अपराधियों से बात कर रहा था कि अचानक चरणसिंह का चेहरा दिखायी देता है, पुलिस की टोपी लगाये दरोगा के वेष में। मैं उस चेहरे को देखते ही जाने कैसे एक गरीब फटेहाल आदमी में बदल जाता हूँ। 'क्यों बे !खड़ा क्यों नहीं हुआ ? चोरी करता है, मगरूर बनता है। लगाओ दस जूते इसे।' और बिना मेरी बात सुने तड़ातड़ मुझ पर जूते पड़ने लगते हैं। मेरी आँख खुल जाती है। मैं अपने को पसीने-पसीने पाता हूँ।"

अखबारनवीस ने कहा और चुप हो गये, फिर बोले—

"क्या मुझ पर कोई मुसीबत आनेवाली है ? वही न खड़े होने की घटना और वही चरणसिंह का चेहरा ! फ़र्क इतना ही है कि चरणसिंह ने खाली डाँटा और कहा कि उनकी उम्र का लिहाज करके लोगों को खड़ा होना चाहिए था। पुराने ज़माने में होते या सत्ता में होते तो न खड़े होने पर···"

"तब आपकी न खड़े होने की हिम्मत ही नहीं पड़ती।" स्तम्भकार ने कहा।

"नहीं, तब तो न खड़े होने की ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता शायद। सत्ता में न होने पर ही इधर ध्यान गया। लगता है सत्ता न होने की कचोट और अतीत के हर रूप का बहुत कुछ अभी भी बहुतों में बचा हुआ है। लेकिन मुझे ये बुरे सपने क्यों दिखायी दे रहे हैं ?"

स्तम्भकार अखबारनवीस के इस सवाल का क्या जवाब दे ?

कलेण्डर कलाकार

उस दिन शर्माजी के पास उनके एक मित्र बैठे हुए थे—ढलती उम्र, पर स्वस्थ शरीर, वह कलेण्डर बनाते हैं। और कभी-कभी अच्छा कमा भी लेते हैं। उन्हें देखकर इस स्तम्भकार को अपने बचपन की याद आती है जब घर में नया कलेण्डर आने का अर्थ एक नयी स्फूर्ति से भर जाना होता था। हर कमरे में एकाध कलेण्डर जरूर होता था। कभी-कभी तो दीवार भरी होती थी। कलेण्डर का लाना और लगाना मध्यवर्गीय शौक था। यह जरूरी नहीं था कि कलेण्डर तारीखवाले हों। अधिकतर तारीखवाले नहीं ही होते थे। ये कलेण्डर दीवाली के मौके पर आते थे और सजावट का साधन बनते थे। अब इनका चलन खत्म होता जा रहा है। तारीखवाले व्यवसायी कलेण्डर ही अब दीखते हैं, वे भी घर की दीवारों पर एकाध ही। उन दिनों राजनीतिक नेताओं के कलेण्डर, देवी-देवताओं के कलेण्डर, धार्मिक पुरुषों के कलेण्डर की बाढ़ रहती थी।

"अब राजनीतिक नेताओं के कलेण्डर देखने को नहीं मिलते ? क्या उनका बनना बन्द हो गया है ?"

"हाँ, अब नहीं चलते।" कलेण्डर कलाकार ने उत्तर दिया।

इस स्तम्भकार को वे दिन याद आये—आजादी के पहले स्वाधीनता संग्राम के दिन—जबकि देश के नेताओं के कलेण्डर बाजारों और घरों में भरे होते थे—गाँधी, तिलक, नेहरू, पटेल, सुभाष, राजेन्द्र बाबू, मौलाना आज़ाद से लेकर भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, दत्त, शायद ही कोई नेता ऐसा हो जिसका कलेण्डर बाजार में न मिलता हो। सच तो यह है कि सारे समाज में देशभक्ति की लहर जगाने में इन राष्ट्रीय नेताओं के कलेण्डरों का बड़ा हाथ था जो घर-घर में पहुँचे हुए थे। हम बच्चे घर की दीवारों पर उन्हें टँगे देख उनके बारे में पूछते थे और इस तरह स्वाधीनता संग्राम के इतिहास से खुद को जुड़ा महसूस करते थे और देश की आजादी के लिए बड़े होकर लड़ने के स्वप्न देखा करते थे।

"अब नेताओं के कलेण्डर क्यों नहीं चलते ?" स्तम्भकार ने पूछा।

इसके पहले कि कलेण्डर कलाकार कुछ कहें शर्माजी बोल उठे—

"है कोई नेता ऐसा जिसका कलेण्डर आप लगा सकते हों ? अब किसी नेता का कलेण्डर लगाने, बनाने या बेचने का मतलब उस पार्टी का होना है और पार्टी के होने का मतलब उस पार्टी की गन्दगी को ढोना है। एक भी नेता ऐसा आज नहीं है जो देश का नेता हो। सब पार्टी के नेता हैं। आजादी पूर्व के राष्ट्रीय नेताओं जैसा व्यक्तित्व आज किसी का नहीं है। आज हर नेता की कहानी त्याग, तपस्या और बलिदान की कहानी नहीं है छल, फरेब और जोड़तोड़ की कहानी है। उनके बारे में आप अपने बच्चों को क्या बता सकते हैं और क्या बनने को उकसा सकते हैं ?"

इस स्तम्भकार को बचपन का देखा एक कलेण्डर याद आया जिसमें गाँधी और कृष्ण का साथ-साथ चित्र था और उनके चित्रों के नीचे कविता में विरुदावली लिखकर दोनों में साम्य दिखाया गया था, जैसे—"वह माखन चोर कहाते थे, ये नमक चोर कहलाते हैं।"

"क्या इसीलिए नेताओं के कलेण्डर नहीं बनते ?" स्तम्भकार ने कलेण्डर कलाकार से पूछा।

"मालूम नहीं, पर अब उनकी माँग नहीं है। हमने भी नेताओं के बहुत कलेण्डर बनाये थे। पर अब कोई बनाने को कहता नहीं। कोई पार्टी कहती है तो उसके हिसाब से बना देते हैं। वैसे बाजार में नेता लोग अब नहीं चलते।"

"देवी-देवता ?"

"वह भी अब नहीं चलते।"

स्तम्भकार को लक्ष्मी, गणेश, शिव-पार्वती, सीता-राम, राधा-कृष्ण, दुर्गा आदि के तमाम कलेण्डर याद आने लगे जो उसने बचपन में देखे थे, जो हर घर में

कम-से-कम पूजा की कोठरी में जरूर होते थे। लेकिन राष्ट्रीय नेताओं के बाद इनका नम्बर आता था। घरों में राष्ट्रीय नेताओं के मुकाबले संख्या में भी ये कलेण्डर कम होते थे। कम-से-कम इस स्तम्भकार के तमाम परिचित घरों का हाल ऐसा ही था।

"वह क्यों नहीं चलते, धर्म तो समाज से अभी गया नहीं ?"

शर्माजी बोले—"गया नहीं, पर उसका सूरज ढल रहा है। अब धर्म में उतनी रोशनी नहीं। धर्मपरायण मध्यवर्ग का दिल अब धर्म के नाम से दमकता नहीं, बुझा-बुझा रहता है।"

"इसका क्या कारण है ?"

"आदमी में विवेक जागृत हो रहा है। धर्म और कर्मकाण्ड से वह भीतर से उदासीन हो रहा है। यद्यपि अनेक कारणों से वह ऊपरी खानापूरी किये रहता है। दीवाली पर गणेश-लक्ष्मी शायद इसीलिए कुछ घरों में आ जाते हैं, पर उस पुरानी आस्था के कारण नहीं।"

"महापुरुषों और सन्तों के कलेण्डर का क्या हाल है ?" स्तम्भकार ने कलेण्डर कलाकार से पूछा।

"वह तो और भी नहीं चलते।" जवाब मिला।

स्तम्भकार को विवेकानन्द, रामतीर्थ, राणा प्रताप, शिवाजी, दयानन्द आदि तमाम लोगों की याद आयी जो घरों की दीवारों पर जरूर टँगे होते थे, जहाँ अब क्रिकेट के खिलाड़ी और फिल्मी चेहरे चिपके होते हैं।

"महापुरुष तो अब खिलाड़ी और फिल्मी हीरो बन गये हैं। जब तक उनका बाजार रहता है घर की दीवारों पर यह चिपके रहते हैं फिर उन पर उन्हीं के क्षेत्र के दूसरे चेहरे चिपक जाते हैं।" शर्माजी ने कहा।

"फिर तो फिल्मी चेहरों और खिलाड़ियों के कलेण्डर बनते होंगे ?" स्तम्भकार ने कलेण्डर कलाकार से पूछा।

"नहीं, वह भी नहीं बनते। वह रंगीन पत्रिकाओं के माध्यम से घर-घर पहुँचते हैं और काटकर दीवारों पर चिपका लिये जाते हैं।" कलाकार ने जवाब दिया।

"प्रकृति और जीव-जन्तुओं के ?"

"वह तो और भी नहीं।"

"फिर किस तरह के कलेण्डर बनते हैं ?"

"सेक्स के।"

"मतलब ?"

"औरत की देह के। वही बनते हैं, वही बिकते हैं। लक्ष्मी और सरस्वती भी देह उभारने और नंगी करने पर बिकती हैं। उसी रूप में उन्हें चित्रित किया जाता है।"

स्तम्भकार सोचने लगा कितना पतन हो गया है हमारे समाज का कि राजनीतिक नेता, सन्त, महापुरुष, पौराणिक चरित्र, प्रकृति, देवी-देवता सब दीवारों पर से उतर गये और एक नंगी औरत की तस्वीर उन पर चढ़ गयी। त्याग, तपस्या, प्रेम, करुणा, बलिदान, देशभक्ति सब पर वासना चढ़ बैठी और वही हर समय आँखों के सामने लटकी है। कामुकता कमजोरी का लक्षण है। क्या यह समाज इतना कमजोर हो गया है।

"फिर आप क्या बनाते हैं अब ?" कलेण्डर कलाकार से स्तम्भकार ने पूछा।

वह काफ़ी देर चुप रहा। फिर बोला—

"छिटपुट कोई पार्टी जो कह देती है वह बना देता हूँ। इस क्षेत्र में भी काफ़ी प्रतियोगिता हो गयी है। सौ से लेकर दो हजार रुपये तक में कलेण्डर बनानेवाले मिल जायेंगे। मैं तो सेठों-साहूकारों के यहाँ, उनके घरों और मन्दिरों में दीवारों पर काम करने लगा हूँ। उसी पर उनकी मर्जी से कुछ बना देता हूँ।"

"यानी अब कुछ दीवार पर फड़फड़ाता नहीं उससे चिपका रहता है और पपड़ों के साथ गिर जाता है।" शर्माजी ने कहा।

स्तम्भकार को लगा कि सचमुच समाज की यही हालत हो गयी है। यह कलेण्डर कलाकार भी फड़फड़ाना भूल गया है। सिमटते-सिमटते अपने व्यवसाय में वहाँ आकर चिपक गया है जहाँ नैतिक रूप से गिरने के सिवा और कोई चारा नहीं है।

दृष्टि और कुदृष्टि

गाँव के बालक को जब घर से निकलने की मनाही करनी होती है तब उसके मन में 'धोकरकसवा' का (जो बच्चों को पकड़कर ले जाता है) एक अज्ञात भय बैठा दिया जाता है। वह अपनी कल्पना से उस भय को नाना रूपों में बुनता रहता है और ड्योढ़ी के बाहर कदम नहीं रखता। सी. आई. ए. का धोकरकसवा इसी तरह लोगों के मन में घूम रहा है। अपने-अपने ढंग से हर आदमी जो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता चाहता है उसकी कल्पना करने लगा है। इस अज्ञात धोकरकसवा को जनता के मन से जल्द-से-जल्द निकालना होगा।

इसे सबसे आसानी से तो वे ही निकाल सकते हैं जो इस भय को बैठा रहे हैं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के सवाल को, जिसके साथ बड़ी तेज़ी से भय जुड़ता जा रहा है, अलग-अलग सोचने और बुनने से बेहतर है कि समाज का जागरूक तबका

लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी सब एक साथ बैठकर सोचें और जुड़ें। जब उस पर संकट देखें तो जूझें, नहीं तो आम आदमी का मन साफ करें।

अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर एक छोटा-सा आघात राजधानी में देखने में आया। एक पत्रिका निकलती है—साप्ताहिक, विचार प्रधान पत्रिका 'प्वाइण्ट ऑफ़ व्यू'—अंग्रेज़ी में। पन्द्रह-बीस पृष्ठों की ठोस, ठस, बेबाक, निर्भीक और वैचारिक स्तर पर गलत को गलत कहने के लिए समर्पित। हम इस पत्रिका की बुनियाद के बारे में ज्यादा नहीं जानते। जानने की ज़रूरत भी नहीं समझते। दृष्टि सही है तो बुनियाद भी सही होगी ही यह मानकर चलते हैं बल्कि आज चलना ज़रूरी है। हर देश के जीवन में, जब वह आन्तरिक संकटों के ऐसे मोड़ पर हो जैसे कि अपना देश है तो इस बात का महत्त्व नहीं रह जाता कि सत्य कौन कह रहा है, महत्त्व इसी बात का होता है कि सत्य कहा जा रहा है। हम सत्य सुनना चाहते हैं। यदि सत्ता अपना प्रतिपक्ष खड़ा करके भी सत्य कहे तो हम किराये के टट्टुओं की हिनहिनाहट सुनेंगे। उससे काफ़िले की आवाज़ बढ़ती है रास्ता नहीं मुड़ता। 'प्वाइण्ट ऑफ़ व्यू' में मणिपुर पर एक लेख छपा, जिसमें वहाँ की दुर्व्यवस्था का, राज्य की विस्फोटक स्थिति का, भारत विरोधी भावनाओं का तथा अन्य सामाजिक-प्रशासनिक पहलुओं का कच्चा चिट्ठा था --तथ्यों, आँकड़ों सहित गम्भीर विचार-प्रधान लेख। लेख में सारे विश्लेषण के बाद इस नतीजे पर पहुँचा गया था कि वहाँ राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया जाये। हम मानते हैं इस निष्कर्ष से कोई भी समझदार व्यक्ति सहमत नहीं होगा। हर स्थिति का एकमात्र समाधान राष्ट्रपति शासन होना बहुत अच्छी बात नहीं है। पर यह लेखक की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। इसका जवाब दिया जा सकता है, इसके लिए उसे गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। पर लेखक को पंजाब सुरक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार कर लिया गया। लेख को राजद्रोही माना गया, प्रतियाँ ज़ब्त कर ली गयीं। एक विशेष गजट में इस प्रकाशन को दण्ड संहिता की 153ए और 124ए धारा के अधीन दण्डनीय ठहराया गया। पत्रिका के सम्पादक के घर पर पुलिस ने छापा मारा, तलाशी ली। यह सब क्यों ? महज इसलिए कि वह देश के एक राज्य की स्थिति का विश्लेषण करके इस नतीजे पर पहुँचा था कि उसे राष्ट्रपति शासन के अधीन कर दिया जाये। देश के किसी राज्य को राष्ट्रपति के शासन के अधीन करने की बात कहना गलत हो भी सकता है, पर राजद्रोह कैसे हुआ ? पर इस पर बिचार करने की, इस पर बोलने की किसी ने ज़रूरत नहीं समझी। उस पत्रिका को उसकी नियति पर छोड़ दिया गया।

कहाँ हैं लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी, समाज के प्रतिष्ठित खेमों के लोग ? वे क्यों नहीं पूछते कि क्यों एक सामान्य नागरिक अधिकार से भी किसी को वंचित किया जा रहा है ? क्या इतनी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी नहीं है कि हम किसी

स्थिति का आकलन कर सकें ? हम नहीं जानते वह लेखक कौन है सिवा इसके कि वह एक भारतीय विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर है। वह इस नतीजे पर तो नहीं पहुँचा था कि राज्य को चीन या अमेरिका के हवाले कर दिया जाये ? उसका हल संविधान के बाहर नहीं था। फिर वह क्यों गिरफ्तार है ? क्या किसी राज्य के मन्त्रियों को बदलने की माँग करना राजद्रोह है ? कोई बात अगर किसी प्रान्त के मौजूदा शासकों के विरुद्ध पड़ती है, यदि राजद्रोह की संज्ञा पा जाये तो इससे बड़ा मज़ाक लोकतन्त्र में क्या होगा ? आपकी कोई बात किसी मुख्यमन्त्री के खिलाफ़ गयी नहीं कि आप राजद्रोही हो गये। लोकतन्त्र में दृष्टि की लड़ाई दृष्टि से होती है। किसी भी स्थिति के आकलन में एक दृष्टि रखी गयी, उसका जवाब है दूसरी दृष्टि, जो या तो उसका अधूरापन दिखाये, उसे पूरा करे या दूसरा आकलन प्रस्तुत करे। लेकिन जब दृष्टि की लड़ाई कुदृष्टि से हो तो वह तानाशाही है—तुमने एक स्थिति का आकलन मेरी दृष्टि से न करके दूसरी दृष्टि से किया तो चलो जेल में, चलो स्वर्ग में। एक बार यदि इस रास्ते पर कदम पड़ गये तो वे आगे और आगे फिसलते जाते हैं। कृपा कर देश को इससे बचाइए। यदि जनता का नागरिक अधिकारों का कोई मोर्चा होता, यदि लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी लोकतन्त्रीय अधिकारों की सुरक्षा के लिए चिन्तित, संगठित होते तो आज एक छोटे से अखबार के एक छोटे से लेख को राजद्रोह की संज्ञा न मिलती और उसके लेखक और सम्पादक की आवाज़ इस तरह अनसुनी न रह गयी होती। क्या सही अधिकारों के लिए सही आवाज़ उठानेवाले लोग अब नहीं रहे या वे यह सोचने लग गये हैं कि इस देश में लोकतन्त्र नहीं है ? यह भय है या उदासीनता ? लोकतन्त्र के स्वास्थ्य के लिए दोनों ही ज़हर हैं। यह बात जितनी समझ ली जाये उतना ही अच्छा है।

रजिस्टर्ड लिफाफे में इन्दिरा-टोपी

नवम्बर 1982 के पहले सप्ताह में मुझे एक रजिस्टर्ड लिफाफा मिला जिसके ऊपर लिखा था—'जन्मदिवस 19-11-82 के उपलब्ध में—प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के 20 सूत्री कार्यक्रम के प्रतीक का चिह्न—इन्दिरा-टोपी—प्रेषक डा. सतीशचन्द्र वर्मा, कानपुर।' लिफाफा खोलकर देखा तो सचमुच उसमें एक टोपी थी। पूरे सिर के नाप की। एक तरफ की पट्टी गेरुए रंग की है, दूसरी तरफ की हरी और ऊपर का चन्दोवा सफेद—तिरंगे झण्डे की तरह तिरंगी टोपी, जिसे प्रेषक ने इन्दिरा-टोपी की संज्ञा दी और शायद वे चाहते होंगे कि इस टोपी का प्रचलन हो और यह बीस सूत्री कार्यक्रम का समर्थन करनेवाले या सक्रिय रूप में उसके लिए काम करनेवाले लगायें, पता नहीं। चिट्ठी कोई साथ नहीं थी।

आज जब गणतन्त्र अंक के लिए लिखने बैठा तो उस टोपी की याद आयी और अपनी एक पुरानी कविता भी—'कितने भी जंगल साफ करते जाओ/और रास्ता बनाते जाओ/मील के पत्थरों की जगह/लगाते जाओ दलों की टोपियाँ/पर कोई रास्ता कहीं नहीं ले जाता/वापस लौट आता है उन्हीं तहखानों में/जहाँ हर एक के अपने-अपने चरखों का अम्बार है/चारों ओर लगी हुई दीमकों की कतार है/सीलन है, चूहे हैं, जाले हैं···' टोपी कभी प्रतीक थी। अब कहीं प्रतीक नहीं रह गयी है। गाँधी-टोपी लगाने पर कभी लोग जेल जाते थे, आज गाँधी-टोपी तस्करी और चोर-बाजारी का धन्धा करनेवाले, ठग, बेईमान, उचक्के लगाने लगे हैं। अब किसी के सिर पर गाँधी-टोपी देखकर उसके देशभक्त, भले और नेक होने का भाव नहीं उपजता बल्कि इस टोपी के नीचे कोई गन्दगी छिपायी जा रही है इसका ही अहसास होने लगता है। आज गन्दगी ही नहीं, अपनी राजनीति का गंजापन छिपाने के लिए भी लोग गाँधी-टोपी लगाते हैं। 'इन्दिरा-टोपी' जो इन प्रेषक महोदय ने बनायी है, वह भी गाँधी-टोपी की तरह है—वैसी ही खद्दर की, फर्क इतना ही है कि गाँधी-टोपी सफेद होती थी यह तिरंगी है।

पिछले दिनों रंगमंच के एक अभिनेता मिले जिनकी गंजी चाँद सचमुच चाँद-जैसी चमकती है जिसे देख अनायास ही मुँह से निकल पड़ेगा : 'चाँद जैसे मुखड़े बहुत देखे पर चाँद जैसा खोपड़ा आज देखा।' कड़ाके की ठण्ड में नंगे सिर घूम रहे थे। पूछा—

"टोपी क्यों नहीं लगाते ?" जवाब मिला—"देखिए, साहब, टोपी तीन तरह के लोग लगाते हैं—वे जिन्हें अपने खोपड़े के नीचे की गन्दगी छिपानी होती है, वे जिनके खोपड़े पिलपिले होते हैं, हर समय डरते रहते हैं कि कहीं तेज हवा में जो कुछ है उड़ न जाये, अतः उसे सहेज कर रखते हैं और वे जिनके खोपड़े में कुछ होता हो नहीं और टोपी लगाकर यह भ्रम बनाये रखते हैं कि भीतर माल भरा है। मैं उन तीनों में नहीं आता। मैं क्यों लगाऊँ ?"

"ठण्ड से बचने के लिए ?"

"वह जब जरूरत होगी तो देखा जायेगा। तरह-तरह की अभी टोपियाँ आती हैं, किसी को लगा लूँगा पर गाँधी-कैप नहीं लगाऊँगा। गाँधीजी नहीं रहे, न कहीं उनका आदर्श रहा पर हर दल में उनकी टोपी लगाकर घूमनेवाले नेता मौजूद हैं। कितनी जल्दी समाज के सिरमौर की टोपी चोर के सिर पर आ गयी। तुम कवि लोग भाषा के अवमूल्यन की चर्चा करते हो पर आज के भारत में गाँधी-टोपी का जितना अवमूल्यन हुआ है उतना किसी और चीज का नहीं हुआ है। मंच पर किसी चरित्र को गाँधी-टोपी लगाकर उतार दो, देखते ही लोग समझ जायेंगे

बदमाश है।"

बात सच थी। आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी टोपी की राजनीति रही नहीं। विश्व के तमाम बड़े नेताओं के सिर पर टोपी नहीं है। हिटलर के जमाने में थी। लगभग सभी तानाशाह टोपी लगाते थे। अब कोई नहीं लगाता—न रूस के नेता न अमेरिका के। सब नंगे सिर हैं। इन्दिराजी को टोपी लगाने की जरूरत नहीं। फिर उनके नाम की टोपी चलाने से भी क्या होगा। डा. लोहिया ने समाजवादी पार्टी की लाल टोपी निकाली थी पर खुद कभी नहीं लगायी। उनके सौन्दर्यबोध को उससे तकलीफ होती थी, सुरुचि सम्पन्न आदमी थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की टोपी काली है पर उसके बड़े नेता कभी उसे नहीं लगाते। चाहे संघर्ष की प्रतीक लाल हो, चाहे दुख और अन्धकार की प्रतीक काली—नेता उसे नहीं लगाता, कार्यकर्त्ता भले ही लगा ले। गाँधी-टोपी ही ऐसी थी जिसे नेता लगाते थे, कार्यकर्त्ता भी।

अब इन्दिरा-टोपी तिरंगी बनायी है प्रेषक महोदय ने जिसमें गैरिक वैराग्य का रंग है, हरा खुशी का (कृषि क्रान्ति का) और सफेद शान्ति का। रंगों के अनेक प्रतीक हैं। आप सब जानते हैं। वैराग्य, खुशी और शान्ति—क्या यह है इन्दिरा गाँधी, उनका बीस सूत्री कार्यक्रम या कांग्रेस का झण्डा इन्दिरा गाँधी है, बीस सूत्री कार्यक्रम है। गैरिक की जगह लाल होता तो क्रान्ति से जुड़ जाता। वैसा नहीं है। वह जनसंघी रंग है। क्या प्रेषक महोदय मानते हैं कि बीस सूत्री कार्यक्रम में जन-संघीपना ज्यादा है? कुछ समझ में नहीं आया। पर साहब वो इसे इन्दिरा-टोपी कहकर चलाना चाहते हैं और इसी के सहारे बीस सूत्री सेना बनाना चाहते हैं। इस टोपी को देखकर एक दोस्त ने सलाह दी—(1) यह खद्दर की नहीं होनी चाहिए, (2) धूप छाँही कपड़े की होनी चाहिए, रंग बदलती रहे और (3) भीतर से दफ्ती वगैरह लगाकर सख्त होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि जो भी जी में आये इसे मोड़-कर जेब में रख ले। इन्दिरा-टोपी सख्त हो गयी, रंग पहचान में न आये, झाँई मारे, बदले—ऐसी होगी यदि होगी तो। अब उन्हें क्या जवाब देता, मैं तो टोपी का समर्थक नहीं। अब सिद्धान्तवाली टोपी का जमाना नहीं रहा। गाँधी-टोपी सफेद थी क्योंकि गाँधीजी की लड़ाई शान्ति और अहिंसा की लड़ाई थी। जो टोपी कई रंग की हो उससे तो कोई लड़ाई आज इस देश में नहीं लड़ी जा सकती। गेरुए रंग की, काली, लाल टोपी करके लोग लड़ाई लड़ रहे हैं, पर टोपी का रंग चाहे जितना निखरे लड़ाई का रंग नहीं निखर रहा है। टोपीवालों से हमारा कहना है कि टोपी पर नहीं, लड़ाई के रंग पर ध्यान दें और इन्दिराजी को तो कोई टोपी न थमाएँ क्योंकि उन्हें तो गरीबी से लड़ना है और गरीब के सिर पर आज टोपी कहाँ है, वह तो उतर गयी है और सभी एक-दूसरे के नाम उसे उछाल रहे हैं। हमारी कामना है कि बहुत हो चुका, अब यह खेल बन्द हो। दक्षिण के चुनावों से भी यही

लगता है कि टोपी उतारने या उछालने से ही काम नहीं चलेगा, जब तक गरीब की टोपी सलामत नहीं रखी जायेगी।

विदेशी शक्तियों का हाथ

जब से नेताओं द्वारा यह सुनायी देने लगा है कि इधर के साम्प्रदायिक दंगों में अदृश्य विदेशी शक्तियों का हाथ है तब से इस स्तम्भकार को जीवन की इन अदृश्य शक्तियों पर और अधिक विश्वास हो गया है। अब तक यह सोचता आ रहा था कि जीवन में जो कुछ है दृश्य ही है, विवेक पर कसा-परखा जा सकता है, अदृश्य कुछ नहीं होता, उसकी ताकत को मानना ढोंग और अन्धविश्वास है, तर्क और बुद्धि को तिलांजलि देना है। लेकिन इधर राजनैतिक-सामाजिक चढ़ाव-उतार में विदेशी ताकतों का हाथ और जीवन के चढ़ाव-उतार में खुदा का या भगवान का हाथ एक हो गया है।

असम में जो कुछ हो रहा है उस पर यह स्तम्भकार जब एक प्रमुख नेता से बात करके निकला तो यह 'विदेशी शक्तियों का हाथ' उसके जेहन पर इतना हावी हो गया था कि उसे हर कहीं विदेशी शक्तियाँ ही दिखायी दे रही थीं—जिनकी सत्ता के बिना हे प्रभु मंगलमूल, पत्ता तक हिलता नहीं खिले न कोई फूल। इसने देखा हर तरफ़ विदेशी शक्तियों के झण्डे लहरा रहे हैं (यद्यपि वे पेड़ थे) उनके नीचे एक गुरतण्ड गुरु-ज्ञानी बैठे हुए थे। स्तम्भकार ने उन्हें प्रणाम किया (शायद उसके पीछे भी विदेशी शक्तियों का हाथ रहा हो) और पूछा—

'महाराज, असम और साम्प्रदायिक दंगों के पीछे तो विदेशी शक्तियों का हाथ मान लिया, पर ये जो बाढ़ें आ रही हैं इसका क्या कारण हो सकता है?'

'कारण? इसमें भी विदेशी शक्तियों का हाथ है।'

'कैसे महाराज?'

'गुप्त परमाणु विस्फोट किये जा रहे हैं। और इस तरह किये जा रहे हैं कि उनका प्रभाव भारत पर पड़े, यहाँ की जलवायु असन्तुलित हो जाये। सो बच्चा! पानी ही पानी बरस रहा है। शहर-के-शहर डूबे जा रहे हैं। तुम्हीं बताओ ऐसी बाढ़ पहले कभी आती थी? अब क्यों आ रही हैं? वही विदेशी ताकतों का हाथ। भारत के खिलाफ, भारत के वर्तमान शासन के खिलाफ गुप्त षड्यन्त्र।'

स्तम्भकार उनका उत्तर सुनकर चकित रह गया। फिर इसने पूछा—

'लेकिन चीनी की महँगाई में तो विदेशी शक्तियों का हाथ नहीं है?'

'क्यों नहीं है। पूरा हाथ है उनका। नहीं तो नौ लाख टन चीनी, चीनी मिलों में पड़ी हो, और बाजार में दाम चढ़ते जा रहे हों, चीनी न हो ! आखिर इसके पीछे विदेशी ताकतों का नहीं तो किसका हाथ होगा ? हमारा आपका होगा ? तुम नहीं जानते बच्चा ! यह जो सी. आई. ए. है, के. जी. बी. है, तेलवाले देश हैं सबके बड़े सूक्ष्म तरीके होते हैं गड़बड़ी फैलाने के। इन्हें हम तुम नहीं समझ सकते।'

'लेकिन सरकार तो समझ सकती है ?'

'सरकार समझती है तभी तो सावधान करती रहती है कि इसमें विदेशी शक्तियों का हाथ है। लेकिन जनता सावधान नहीं रहती।'

'वह तो कुछ भी घट जाने पर 'विदेशी शक्तियों का हाथ है' चिल्लाने लगती है। पहले बता दे तो जनता सावधान रहे।' स्तम्भकार ने कहा।

'पहले क्या बताना ! क्या सबको मालूम नहीं कि विदेशी शक्तियाँ भारत को नीचा दिखाने के लिए तुली हुई हैं। हर चीज में चौकस, चौकन्ने रहो।'

'और यह महँगाई ?'

'महँगाई में तो शत-प्रतिशत विदेशी शक्तियों का हाथ है। जनता सरकार ढीली-ढाली थी, विदेशी शक्तियों ने उतना ध्यान नहीं दिया, निश्चिन्त थीं, महँगाई नहीं बढ़ी। जब उन्होंने देखा इन्दिराजी की सरकार आ गयी है, अब ढिलायी नहीं बरती जायेगी, सख्ती से काम लिया जायेगा तो ये शक्तियाँ पूरी तरह से 'टाइट' हो गयीं और सक्रिय हो गयीं। नतीजा आप देख रहे हैं। दाम आसमान छू रहे हैं। होम्योपैथिक दवाओं तक के दाम बढ़ गये।'

'और ये लूटमार, रेलों में डकैती वगैरह ?'

'यह तो साफ़ ज़ाहिर है। विदेशी शक्तियाँ न होतीं तो इतने हथियार कहाँ से आते ? अब बम तक का इस्तेमाल होता है। विदेश में बने हथियार इनके पास रहते हैं। कितने विदेशी हथियार तो पकड़े गये। या नहीं ? आप क्या समझते हैं ये लूट-पाट, डकैतियाँ वर्तमान सरकार की लापरवाही के कारण, उसकी प्रशासनिक गड़बड़ी के कारण हो रही हैं ? जी नहीं। यह वह सरकार है जिसने काम कर दिखाया था। इन सबका कारण यह नहीं है। कारण विदेशी शक्तियों का हाथ है।'

स्तम्भकार इसके आगे क्या कहता ? गुरु-ज्ञानी की बात सुनता रहा। खिन्न होकर पूछ बैठा—

'यह जो गर्मी है, हवा बन्द है, यह भी विदेशी ताकतों के कारण ?"

'जी हाँ, उसने ही यह हवा बन्द कर रखी है। सबकी हवा बन्द कर रखी है। इसका असर देश के उत्पादन पर पड़ेगा। बिजली संकट यहाँ क्या अपने-आप है ? विदेशी ताकतें चाहती हैं हमारा उत्पादन कम हो, आर्थिक दौड़ में हम पिछड़ें। इस षड्यन्त्र को आप जैसे देशद्रोही नहीं समझेंगे, सरकार पर आरोप लगायेंगे...' गुरु-

ज्ञानी तमतमाये फुफकार रहे थे।

पाठको ! अब सिवा यह कहने के और चारा नहीं है कि यह स्तम्भ भी इस बार विदेशी शक्तियों ने ही लिखवाया है। क्षमा करें।

त्याग, सच्चाई और ईमानदारी

पिछले दिनों एक ऐसे मित्र के यहाँ जाने का सुयोग मिला जहाँ सरकार के अवकाश प्राप्त कुछ वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी गपशप कर रहे थे। अचानक 'उत्तरप्रदेश के सिंह चरणसिंह' की चर्चा होने लगी। इनमें से सभी को अपनी नौकरी के दौरान किसी-न-किसी समय चरणसिंह से साबका पड़ चुका था। उनकी बातचीत से चरणसिंह की सादगी, सच्चाई और ईमानदारी की अब तक जो छवि बनायी गयी है वह काफी हद तक धूमिल होती दिखायी दी। एक ने कहा—

"अरे आपको मालूम नहीं है—पद का लालच इनमें शुरू से ही रहा है। 1935 के एक्ट के हिसाब से जब डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का पहला चुनाव हुआ उस समय कांग्रेस की यह हालत थी कि एक तिनके को भी खड़ा कर दे तो वह चुनाव जीत जाये। चरणसिंह कांग्रेस में थे। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की चेयरमैनी के लिए खड़ा होना चाहते थे। कलक्टर अंग्रेज था। उसे जब मालूम हुआ कि चरणसिंह चेयरमैनी का चुनाव लड़ना चाहते हैं तो उसने इन्हें बुलाया, कहा 'अगर तुम कांग्रेस छोड़ दो तो मैं तुम्हें चेयरमैन बना दूंगा।' चरणसिंह ने झट से कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया और चेयरमैन हो गये। पद के लिए चरणसिंह कुछ भी कर सकते हैं।"

स्तम्भकार के थोड़ा प्रतिवाद करने पर वह आगे बोले—

"प्रधानमन्त्री होते ही उन्होंने कहा भी तो था हर राजनीतिज्ञ की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा यह होती है कि प्रधानमन्त्री हो जाये। उसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह सारी जोड़-तोड़ करते रहे। यह उन्होंने कब कहा कि हर राजनीतिज्ञ की पहली आकांक्षा देश और समाज में क्रान्तिकारी बदलाव की होती है। यह तुम लोग सोचा करो। उन्हें तो पद से मतलब रहता था, रहता है और आगे जब तक भी हैं रहेगा। बल्कि कहो यही रहेगा।"

फिर बहुत देर तक आज के नेताओं की और चरणसिंह की पदलोलुपता की चर्चा चलती रही। स्तम्भकार ने कहा—

"लेकिन वह सच्चे आदमी तो हैं ?"

"सच्चे आदमी !" एक दूसरे अधिकारी ने जो चन्द्रभान गुप्त के समय में ऊँचे

पद पर थे और उनके अत्यन्त निकट थे, आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "सच्चाई का एक दिलचस्प किस्सा सुनाता हूँ। वह पत्र मेरा देखा हुआ है। जब सी. बी. गुप्त उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री हुए तो चरणसिंह ने उन्हें पत्र लिखा जिसमें कुछ इस तरह लिखा था कि यदि आप मुझे मन्त्रिमण्डल में ले लें तो मैं आपका 'लायल' रहूँगा। उसका सी. बी. गुप्त का लिखा जवाब मुझे आज भी हर्फ-ब-हर्फ याद है। होना चाहिए यह पत्र स्वयं चौधरी साहब के पास या आर्काइव्स में। उन्होंने लिखा था—'प्रिय चौधरी साहब। रफी साहब ने आपको अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाया आप उनके नहीं हुए। पन्तजी ने आपको मिनिस्टर बनाया आप उनके नहीं हुए। सम्पूर्णानन्दजी ने आपको मिनिस्टर भी बनाया, मिनिस्टर की हैसियत भी दी आप उनके नहीं हुए तो आप मेरे क्या होंगे ! लेकिन फिर भी आपने चूंकि लिखा है मैं आपको मिनिस्टरी में ले लेता हूँ।' अब आप चन्द्रभानु गुप्त के इसी पत्र से समझ लीजिए कि ये कितने सच्चे थे और लोग इन्हें कितना सच्चा मानते थे। जाने दीजिए सच्चाई वगैरह। वह आज़ादी के पहले होती थी। अब नहीं रह गयी है।"

स्तम्भकार जैसे मतिविमूढ़ हो गया। सच तो यह है कि यह उन्हें काफी हद तक सादगी, त्याग, सच्चाई की मूर्ति मानता था। इन दोनों घटनाओं से इसे थोड़ा धक्का लगना स्वाभाविक था। बातचीत चल ही रही थी खासकर राजनीतिज्ञों के राष्ट्रीय चरित्र की कि इस स्तम्भकार को अपनी बेचैनी सम्हालनी थोड़ी मुश्किल हो गयी। बीच में फिर बोल उठा—

"लेकिन सुना है चरणसिंहजी ईमानदार आदमी हैं। भ्रष्टाचार का आरोप उन पर कोई नहीं लगा सकता।"

इनमें से अपेक्षाकृत सबसे वयोबृद्ध जो इनमें से सबसे ऊँचे पदों पर रह चुके थे, बोल उठे—"तो एक किस्सा उनकी ईमानदारी का भी सुन लीजिए। उन दिनों चरणसिंह उत्तरप्रदेश में पालियामेण्टरी सेक्रेटरी थे। मानसिंह नाम के एक सज्जन सप्लाई विभाग में इंस्पेक्टर थे। सप्लाई विभाग को वाइण्ड अप (समाप्त करने) के लिए विचार करते समय एक लिस्ट बनी। 'ए' कैटेगरी (श्रेणी) में ईमानदार, उससे कम ईमानदार 'बी' में और भ्रष्ट लोगों को 'सी' कैटेगरी में रखा गया जिन्हें निकालना था, और एक प्रमोशन लिस्ट (पदोन्नति की सूची) बनानी थी। इसी 'सी' कैटेगरी में बारह नम्बर पर मानसिंह का नाम था। चरणसिंह साहब ने फूड कमिश्नर को बुलाया और उससे बोले—'मैं चाहता हूँ प्रोमोशन लिस्ट में 'ओनेस्ट' (ईमानदार, चौधरी साहब ऑनेस्ट को ओनेस्ट कहते हैं) लोग लिये जायें।' फूड कमिश्नर ने कहा—'इसी को ध्यान में रखकर लिस्ट तैयार की गयी है।' चौधरी चरणसिंह फिर बोले—'आपके हिसाब से यह सब 'ओनेस्ट' लोग हैं?' फूड कमिश्नर ने कहा—'जी हाँ।' चौधरी साहब कुछ देर सोचते रहे फिर बोले—'बारह नम्बर पर कोई मानसिंह है। सुनते हैं वह बहुत 'ओनेस्ट' है।' फूड कमिश्नर चन्द्रभान

गुप्त के पास गये। वह अपने काम में इस तरह के हस्तक्षेप से कुछ खुश नहीं थे। उन्होंने गुप्तजी से कहा—'चरणसिंह पदोन्नति की सूची में किसी मानसिंह का नाम जुड़वाना चाहते हैं कहते हैं, बहुत ऑनेस्ट आदमी है' गुप्तजी जोर से हँस पड़े, बोले—'यह उनका भाई है।' सो साहब ईमानदारी की बात यह रही। अब ऐसी बहुत-सी घटनाएँ हैं। कहने लगूँ तो कालिख पुत जायेगी। पर हम लोगों को क्या पड़ी है। हम लोग इससे दूर रहते हैं। हम जब प्रशासनिक सेवा में आते हैं तो हमसे तीन शपथ लेने को कहा जाता है—एनानिमिटी (बातों को गुप्त रखना), ओबिडिएंस (आज्ञापालन) और पावर्टी (गरीबी)। सो हर बात गुप्त रखना, आज्ञापालन करना और पद पर पहुँचकर पैसे का लालच न कर अपेक्षाकृत गरीब रहना, यही जाना है हमने। सो हमारी हालत देख ही रहे हैं आप।"

"तो क्या चरणसिंह···?"

"छोड़िए ! यह सब बातें ! आज की पूरी राजनीति में एकाध लोग ही कहीं थोड़े-बहुत ठीक हों-तो-हों ! जो सत्ता में पहुँच जाता है वह तो और भ्रष्ट हो जाता है। सार्वजनिक छवि तो बनायी जाती है। राजनीतिक व्यक्ति की खासकर सत्ता-प्राप्त व्यक्ति की सादगी, त्याग, सच्चाई, ईमानदारी इस सब पर कभी भी विश्वास मत करो। चरणसिंह का तो बिल्कुल ही नहीं, वह पद के लिए कुछ भी कर सकते हैं किसी के सगे न अब तक रहे हैं न आगे कभी रहेंगे। जब तक उनकी पदलिप्सा या पदस्थिरता में कोई सहायक रहता है तब तक वह उसके रहते हैं। दूसरे भी उनसे इसी आधार पर जुड़ते होंगे। किस-किस को रोओगे ! राजनीति के प्रपंच की दुनिया बड़ी गन्दी है। बहुत देखा है हम लोगों ने, भर पाये !"

यव्तुशेंको कठघरे में

यव्तुशेंको, जो कभी रूस के विद्रोही कवियों में गिने जाते थे, आजकल सरकारी साहित्यिक प्रतिष्ठान के अंग हैं। मगर सोवियत लेखक संघ के साहित्यिक गजट में एक नये से समीक्षक सिदोरोव ने उनकी खिचाई कर दी है। सिदोरोव ने यव्तुशेंको पर बकवास कविताएँ लिखने, उथले होने, प्रतिभा के साथ खिलवाड़ करने तथा दूसरे कवियों का प्रभाव ग्रहण करने के परोक्ष-अपरोक्ष आरोप लगाये हैं। वैसे मस्क्वा के बौद्धिक जगत में यव्तुशेंको पर इस तरह के आरोप लगते रहे हैं किन्तु सोवियत संघ के बुद्धिजीवियों के सबसे प्रभावशाली पत्र में पूरे एक पृष्ठ में ऐसा आरोप सामने आना कुछ गम्भीर अर्थ रखता है।

यव्तुशेंको प्रतिष्ठान में अपना सिक्का जमाने के लिए जो राजनीति चलाते रहे हैं उससे भी साहित्य जगत में उनकी प्रतिष्ठा घटी है। उनके कई पुराने दोस्तों को दुःख है कि जिस कवि ने स्तालिन को भी अपनी लेखनी से बख्शा नहीं था वह आज सांस्कृतिक नौकरशाही और सरकारी प्रचारतन्त्र का पुर्जा बन गया है। सिदोरोव सम्भवतः गजट की सीमाओं का ख्याल रखकर इस सम्बन्ध में कोई सवाल पूछ नहीं सके।

"कुछ ही अच्छी कविताएँ आपने लिखी हैं। बाकी हर चीज़ के बारे में आपने बहुत-सी रद्दी और आलंकरिक कविताएँ लिखी हैं, जो दिल को तो छूती ही नहीं, तकनीक की दृष्टि से भी बड़ी फूहड़ हैं। बिना रुचि और आवश्यक चुनाव के कविता में हर चीज़ को जीवन्त रख पाना असम्भव है।" सिदोरोव ने यव्तुशेंको से कहा।

"यह मेरा अपना सिद्धान्त है ?···मैं पुश्किन को सामने रखकर अपनी बात कहना चाहता हूँ। उसने कभी नहीं सोचा कि दुनिया में कोई भी ऐसी चीज़ है जिस पर कविता नहीं लिखी जा सकती। उसने हर चीज़ के बारे में लिखा।" यव्तुशेंको ने जवाब दिया।

"आलोचकों का आरोप है कि आप दूसरे कवियों से काफ़ी प्रभाव ग्रहण करते हैं, यह आश्चर्य की बात है। ज़्यादातर अच्छे कवि ऐसा नहीं किया करते।"

यव्तुशेंको ने नक़ल करने की बात स्वीकार करते हुए कहा, "कवि को सदैव विद्यार्थी की तरह सीखते रहना चाहिए···अपने सभी पूर्ववर्त्ती कवियों से।"

सिदोरोव ने पूछा, "कई समीक्षक, कवि और पाठक ठीक महसूस करते हैं कि आपकी कविता में पत्रकारिता और उपयोगितावाद के तत्त्व ठुँसे हैं, जो निश्चय ही कविता का कलात्मक और देशभक्तिपूर्ण मूल्य घटाते हैं। अच्छे लेखक को फुर्ती से नहीं पढ़ा जा सकता। उसमें विचार-मन्थन होता है, खोज और पीड़ा होती है। आप बिना ज़रूरत हाथ और दिमाग़ की फुर्ती दिखाते हैं, जबकि गहनता और एकाग्रता की ज़रूरत है।"

यव्तुशेंको ने पिछले सालों में सामयिक विषयों पर धड़ल्ले से लिखा है। हाल ही में जनवरी के अन्त में 'प्रावदा' में वीएतनाम युद्ध के अन्त पर उनकी एक अखबारी कविता छपी है।

यव्तुशेंको का उत्तर था, "मैंने कई चीज़ें ऐसी लिखी हैं जो वाकई रिपोर्ताज़ हैं, ख़ासकर वीएतनामवाली कविता के बारे में यह सही है···मुझे गर्व है कि मैं इतिहास के दस्तावेजों को संक्षिप्त रूप में अंकित करने में सफल रहा हूँ।"

यव्तुशेंको चालीस बरस के हैं। सिदोरोव ने कहा, "इस उम्र में आपकी कविता में 'नवीनता और परिपक्वता' आनी चाहिए। उम्मीद है आप इधर ध्यान देंगे ?"

यव्तुशेंको ने आगे कहा, "एक कलाकार मित्र ने हाल ही में मुझसे कहा :

कभी-कभी अपने रचना-कर्म के बारे में सोचते हुए लगता है कि हम एक ऐसे कमरे में हैं जिसकी दीवार पर चिपके कागज़ के हर बिन्दु को हम जानते हैं। यही वजह है कि या तो हम दिमाग़ पर बिना ज़ोर डाले कमरे के कबाड़ को इधर-उधर रखते हैं या दीवार पर कागज़ चिपकाते रहते हैं या कहीं बाहर जाने का यत्न करते हैं। मगर सम्भव है उसी पुराने परिदृश्य के बीच उस कमरे में कोई दरवाजा हो जिसके पीछे एक भिन्न जादुई दुनिया हो। मैं समझता हूँ मेरे मित्र ने ठीक कहा है। रूपक के काठ-कबाड़ को इधर-उधर कर देने से या विषय रूपी दीवार पर चिपकाने के कागज़ को बदल देने से या आरामतलब होने से कवि को नया रास्ता नहीं मिलता बल्कि उसे दरवाज़ा ढूँढ़ने की काबलियत पैदा करनी होती है—दरवाज़े की चाबी के साथ ?"

मन्त्री शरणम् गच्छामि

'सारिका' के प्रेमचन्द विशेषांक के विमोचन समारोह के अवसर पर लेखकों की भरी सभा में विमोचक, सूचना और प्रसारण मन्त्री श्री वसन्त साठे ने कहा कि हमारे समाज में यह परिपाटी बन गयी है कि ऐसे कामों के लिए किसी मन्त्री को बुलाया जाता है चाहे वह उसके योग्य हो या न हो। जहाँ तक इस स्तम्भकार को याद पड़ता है जनता शासन में अटलबिहारी वाजपेयी ने भी बुद्धिजीवियों की सभा में ऐसी ही बात कही थी। गाहे-बगाहे अवसर पहले से भी मन्त्रियों द्वारा यह बात कही जाती रही है। जहाँ तक विनयशीलता का सवाल है मन्त्री का यह कथन अच्छा लगता है। लेकिन इसमें एक सामाजिक कर्म पर आरोप भी निहित है जिससे ध्वनि निकलती है कि कहीं आयोजकों में ही खोट है कि वे हर समारोह में बिना पात्र-अपात्र का ख्याल किये किसी मन्त्री का ही दामन पकड़ते हैं—'डाल साया तू अपने आँचल का, नातवाँ हूँ कफन भी हो हल्का।'

जहाँ तक इस स्तम्भकार का सवाल है वह बिल्कुल इसके पक्ष में नहीं है कि साहित्यिक या सांस्कृतिक समारोहों में केवल मन्त्री होने के नाते किसी को अध्यक्षता या उद्घाटन आदि के लिए बुलाया जाये। उद्घाटन या अध्यक्षता के लिए सुपात्र व्यक्ति को चुना जाना चाहिए चाहे वह मन्त्री हो या न हो। लेकिन हर बार जब उसने यह विचार व्यक्त किया है पहला झगड़ा तो पात्र-अपात्र पर ही हुआ है। मन्त्री हो जाने से ही कोई अपात्र कैसे हो जाता है, पक्षधरों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है। इसका क्या जबाब हो सकता है ! यह तो समझने की चीज है।

लेकिन दरअसल बात कुछ और है।

मन्त्री के आने से समारोह की शोभा ही नहीं बढ़ती, आयोजकों के लिए उसकी उपयोगिता भी बढ़ जाती है, उनका काम चमककर सामने आ जाता है। अखबार-वाले बड़ी-से-बड़ी बात बड़े-से-बड़ा आदमी कहे उसे समारोह की रिपोर्टिंग में स्थान नहीं देते जबकि साधारण-से-साधारण मन्त्री की साधारण-से-साधारण बात को महत्त्व देते हैं और उसे छापते हैं। इसके लिए आयोजक क्या करे? अखबारवालों से वह यह तो कह नहीं सकता कि अमुक विद्वान ने सभा में जो इतनी महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं उनको स्थान न देकर मन्त्री की मामूली बात को आपने स्थान क्यों दिया? इसका जवाब अनेक मौकों पर इस स्तम्भकार को सुनने को मिला है रिपोर्टरों द्वारा ही—'इतनी जगह कहाँ होती है' या 'दिया था डस्क ने काट दिया।' यानी जगह मन्त्री के लिए होती है किसी और के लिए नहीं। क्या कीजियेगा समाज की बुनावट ही ऐसी कर दी गयी है कि जगह मन्त्री के लिए ही हो किसी और के लिए नहीं। हर जगह मन्त्री के लिए ही है। इस तरह मन्त्री के आ जाने से बात का प्रचार ही नहीं होता बात आगे भी बढ़ती है। नौकरशाही को मालूम हो जाता है कि बात को मन्त्री का आशीर्वाद प्राप्त हो चुका है तो गाड़ी बजाये खड़ी रहने के टिक-टिककर चल निकलती है। मन्त्री की उपस्थिति चाबुक है, लँगड़ाते नालहीन घोड़े की नाल है।

एक वाक़या याद आता है। एक प्रसिद्ध नर्तकी ने इस स्तम्भकार से एक बार कहा: "अमुक मन्त्री से हमारे नृत्य का उद्घाटन करा दीजिए।"

"क्यों? उन्हें तो नृत्य के बारे में कुछ नहीं आता। न उनका नृत्य में शौक है। नृत्य और संगीत समारोहों में वह जाते नहीं।"

"इससे क्या होता है? आप कह देंगे तो आ जायेंगे। उनके आने से हमारा काम निकल जायेगा। विदेश जाना है। जब मन्त्रालय के अधिकारियों को यह मालूम होगा कि स्वयं उनके मन्त्री ने मेरे कार्यक्रम का उद्घाटन किया है तो वे कोई अड़ंगा नहीं लगायेंगे, काम चटपट हो जायेगा। इतने दिनों से वे लोग मुझे दौड़ा रहे हैं। निमन्त्रण विदेश का ही है। काफी मदद वे देंगे, थोड़ी मदद इनकी मिलने पर मेरी यात्रा हो जायेगी।"

फिर जब मन्त्रीजी से उस प्रसिद्ध नर्तकी को लेकर मिला तो वह बहुत खुश हुए जैसे वह तैयार बैठे थे कि उनसे कोई उद्घाटन के लिए कहे। नृत्य के बारे में वह कुछ नहीं जानते थे। उन्होंने स्वयं उससे पूछा कि वह क्या नाचती है? अलग-अलग नाचों में क्या अन्तर होता है आदि-आदि। वहीं उनका भाषण तैयार हो गया। उसमें कलाकारों की दुर्दशा, समाज में उनकी अपेक्षा आदि उन्होंने स्वयं जोड़कर उद्घाटन भाषण झाड़ दिया।

यह स्तम्भकार सोचता रहा कि उस नर्तकी के आने पर यदि उन्होंने यह कहा

होता कि वह नृत्य के जानकार नहीं अतः उद्घाटन तो नहीं करेंगे लेकिन यदि उसका कोई वाजिब काम है जिसमें उनकी सहायता जरूरी है तो वह उसे करवा देंगे तो शायद यह नौबत न आती। उसका काम बन जाता और मन्त्रीजी को उद्घाटन न करना पड़ता।

यह स्तम्भकार मानता है कि मन्त्री यशलोलुप होता है। वह उद्घाटन-जैसा कोई भी मौका छोड़ना नहीं चाहता। बल्कि हमेशा इस प्रतीक्षा में रहता है कि उससे अध्यक्षता या उद्घाटन आदि कराया जाये। क्योंकि इससे वह अखबारों की सुर्खियों में रहेगा और अखबारों की सुर्खी में रहना जनता की निगाह में रहना है और जनता की निगाह में रहने का मतलब है पद पर बने रहना। यह तर्क वह जानता है। हो सकता है उद्घाटन करते वक्त पात्रता-अपात्रता का भाव आता हो और उसे वह अपने-अपने ढंग से व्यक्त भी करता हो लेकिन यह भाव उद्घाटन के पूर्व आना चाहिए और उद्घाटन के लिए उसके पास जानेवाले की बेबसी या जरूरत उसे समझनी चाहिए और जितना वाजिब हो उतनी मदद करनी चाहिए।

दुनिया में कहीं भी मन्त्री हर काम में इस तरह नहीं जोड़ा जाता जितना इस देश में जोड़ा जाता है। वह दूकान खुलने का भी उद्घाटन कर सकता है। शिक्षा संस्था, कला संस्था, आटे की चक्की से लेकर छोटे-बड़े कल-कारखानों का भी उद्घाटन कर सकता है। उसके लिए कोई उद्घाटन छोटा-बड़ा नहीं। सब समान है। इस देश का वास्तविक लोकतन्त्र यहीं देखा जा सकता है।

इस स्तम्भकार ने अक्सर इसका विरोध किया है कि हर काम के लिए मन्त्री का मुँह न देखा जाये। लेकिन हर बार उससे कहा गया है कि पूरे तन्त्र की बुनावट ऐसी है कि सिवा इसके कोई चारा भी तो नहीं। जैसा तन्त्र होता है वैसा मन बनता है। यदि प्रशासन सफाई से चलता हो और उस पर मन्त्री का अंकुश बिना भेदभाव के रहता हो तो जनता को दूध-का-दूध और पानी-का-पानी अलग करना आता है। लेकिन जब मन्त्री की चाटुकारिता फूलती-फलती हो, उसके अटके हुए काम निकलते हों तो लोग मन्त्री के पास नहीं दौड़ेंगे, यह आशा करना बेकार है। मन्त्री की शरण जाने की स्थिति में लोगों का दोष उतना नहीं है जितना मन्त्री और व्यवस्था का है। बुद्ध की शरण जाने से शान्ति मिलती थी। मन्त्री की शरण जाने से काम बनता है। इसीलिए भारतीय लोकतन्त्र का मन्त्र हो गया है, मन्त्री शरणम् गच्छामि।

शहर में जिधर देखिए उधर खूबसूरत पोस्टर लगे हुए हैं। बड़े-बड़े बोर्ड लटके हैं--- लिखा है **पागलखाना**, अखबार उलटिए तो बड़े-बड़े विज्ञापन हैं—'पागलखाना'। यह मत सोचियेगा कि दिल्ली शहर को पागलखाना कहा जा रहा है। वैसे कहा जाता तो कोई एतराज नहीं था ! जनाब, यह एक नाटक का विज्ञापन था। बम्बई का थियेटर ग्रुप इसे दिल्ली विजय के लिए लाया था ! सोचा होगा कि दिल्ली पर हमला बोलना है तो सारे शहर को विज्ञापन से पाट दो, दहला दो। सो साहब, पूरी राजधानी नाटक से तो नहीं इस नाटक के विज्ञापन से दहल गयी। रंगकर्मियों के हौसले पस्त हो गये। उन पर इस नाटक के विज्ञापन का आतंक छा गया। हर दिल-दिमाग इस 'पागलखाना' के विज्ञापन की चपेट में आ गया। पोस्टरों में लिखा हुआ था 'इस पागलखाना में आप अपने जोखम पर प्रवेश कीजिए'। एक-से-एक नफीस, एक-से-एक निराले ढंग विज्ञापन के देखने में आये !

सोचने लगा, भई ! संस्कृति के क्षेत्र में इतने विज्ञापन की क्या जरूरत है ? इतना काफी है जितने से जानकारी हो जाये। पर भूल गये कि यह विज्ञापन का युग है और संस्कृति के क्षेत्र पर उसे आज़माया जा रहा है। अभी तक सोचते थे कि अति विज्ञापन व्यवसाय के क्षेत्र में घटिया माल चलाने के लिए किया जाता है या दूसरे के माल की होड़ में अपना घोड़ा आगे निकाल ले जाने के लिए। संस्कृति के क्षेत्र में तो यह होड़ चलती नहीं। व्यवसाय की दुनिया में यदि आपके घोड़े की टाँग टूटी है तो विज्ञापन की टाँग लगाकर आप उसे आगे निकाल ले जायेंगे पर संस्कृति की दुनिया में टूटी टाँग, टूटी ही रहेगी, विज्ञापन कुछ नहीं कर पायेगा। विज्ञापन से सारी दुनिया जमा कर लें पर बेसुरा गानेवाला बेसुरा ही रहेगा, बेजान शब्द बेजान ही रहेंगे। कोई विज्ञापनबाजी काम नहीं आयेगी। लेकिन साहब इस 'पागलखाना' का वो विज्ञापन हुआ, वो विज्ञापन हुआ कि नाट्य जगत में त्राहि-त्राहि मच गयी। नाटक के दो दिन में कुल तीन प्रदर्शन हुए थे। हाल जरूर खचा-खच तीनों शो में भरा रहा। दर्शकगण जरूर ऐसे थे जो ज्यादातर नाटकों में नहीं दीखते। सौन्दर्य प्रतियोगिता में जरूर दीखते हैं जो पाँच सितारेदार होटलों में होती हैं। नाटक हिन्दी में था लेकिन दर्शक अधिकतर वे थे जो आज भी अंग्रेजी के नशे में चूर हैं। इस तरह की भीड़ लकदक गिटपिट करती कैसे टूट पड़ी है यह आश्चर्य की बात थी। रंगजगत के एक जानकार व्यक्ति से पूछा, बोले—

"निर्देशक के नाम पर। एलेक पदमसी है उनका नाम।"

"बड़े नामी निर्देशक हैं ?"

"अंग्रेज़ी की दुनिया में बड़ा नाम है। अब हिन्दी में भी आ रहे हैं। देखिए कैसे

धूमधाम से आये हैं—आशिक का जनाज़ा है ज़रा धूम से निकले। हिन्दी से नयी आशिकी है न !"

"इतनी धूम कैसे हो गयी ?"

"भई, ये खाली रंगकर्मी नहीं हैं—टुटपुँजिया रंगकर्मी। ये देश की सबसे बड़ी विज्ञापन की फर्म लिंटाज के डाइरेक्टर हैं। फिर इस नाटक को दिल्ली में खेलवा रहे हैं—एस्कार्टस जैसी फर्म जो राजदूत डीलक्स बनाती है। दिल्ली की कौन-सी ऐसी व्यापारिक कम्पनी होगी जो लिंटाज के डाइरेक्टर को खुश न करना चाहे। सभी ने इस नाटक के विज्ञापन में हाथ बँटाया है। दस-दस बीस-बीस टिकट सभी ने खरीद लिये हैं और अगर खुद नाटक का शौक नहीं है तो अपने ग्राहकों को दे दिये हैं—एक तीर से दो शिकार ! तभी देखिए न आज के अखबार में बड़ा-सा विज्ञापन है—'पागलखाना' के सारे हाउस फुल हो गये हैं। (सारे टिकट बिक चुके हैं) कृपया तशरीफ न लायें। ऐसा विज्ञापन नाटक की दुनिया में देखा आपने कभी कि दर्शकों से प्रार्थना की जा रही है कि आप नाटक देखने न आयें। ये विज्ञापन के लटके हैं। इस विज्ञापन को पढ़कर लोग सोचेंगे, जरूर कोई नायाब चीज है तो चलो चलते हैं। शायद कहीं ब्लैक में ही टिकट मिल जाये। विज्ञापन और ब्लैक का गहरा रिश्ता है। फिल्म का खूब विज्ञापन हो जाये तो पहले दिन से ही ब्लैक शुरू। इस विज्ञापन का असर यह हुआ कि यहाँ भी टिकट ब्लैक हो रहा है। दस का टिकट पच्चीस में जाकर ले लीजिए।"

"नहीं आप गलत कह रहे हैं। नाटक के लिए तो दिल्ली में टिकटों का ब्लैक कभी सुना नहीं।"

"पंजाबी नाटकों में भी नहीं ? ये देखिए वह जो सरदारजी जोड़े में बैठे हैं मेरे सामने, ब्लैक से टिकट लाये हैं। हुजूर ! बहुत विज्ञापन हुआ नहीं कि ब्लैकवाले अपना धन्धा शुरू कर देते हैं। यह उसकी, क्या कहते हैं तार्किक परिणति है।"

"कितना पैसा खर्च हुआ होगा विज्ञापन पर ?"

"अन्दाज़ा लगाना मुश्किल है। सामने जो बड़ा-सा साइन बोर्ड आप देख रहे हैं आपका क्या ख्याल है, इस पर कितना खर्च आया होगा ? कम-से-कम दो हजार तो होगा ही। ऐसे बीस साइन बोर्ड पूरे शहर में लगे हैं ! जोड़ लीजिए। फिर तरह-तरह के पोस्टरों, अखबारों का अलग। हर अखबार में विज्ञापन है। लाख डेढ़ लाख तो कम-से-कम विज्ञापन में खर्च हो गया होगा। तीन शो के लिए लाख डेढ़ लाख का विज्ञापन ! पर इसमें उनका क्या गया ! और कोई रंगकर्मी या रंग-मंच की संस्था कर सकती है ऐसा कि जितना कमाये उसका पचास गुना खर्च करे। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय अपने बड़े-से-बड़े नाटक पर इसका चौथाई भी खर्च नहीं करता, न कर सकता है।"

उसकी बात सुनकर दिल्ली के एक सक्रिय रंगकर्मी जो गरीबी में अपनी संस्था

चलाते हैं और अच्छे स्तरीय नाटक करते हैं, बोले—"हम लोग तो ख्वाब में भी यह सब सोच नहीं सकते।"

बड़ी तकलीफ हुई यह सब सुनकर। क्या राजनीति का प्रभाव संस्कृति की दुनिया पर भी पड़ रहा है? क्या संस्कृति का आदमी यह सोचने लगा है कि जिस तरह राजनीतिक ताकत पैसे के ज़ोर से हासिल की जा सकती है वैसे सांस्कृतिक प्रतिष्ठा भी पैसे के ज़ोर पर अर्जित की जा सकती है? यदि ऐसा सोच रहा है तो उसे साफ-साफ बताना होगा कि पैसे का हौआ भले ही देश की राजनीति में चल रहा हो पर यह हौआ संस्कृति में नहीं चलेगा। इसे न चलाइए। इससे कोई डरेगा नहीं। न इसके बल पर आप किसी ठोस जमीन पर खड़े हो पायेंगे। यही वह जमीन है—कला, साहित्य, नृत्य, संगीत, रंगमंच की—जहाँ पैसा अन्ततः मात खाता है, प्रतिभा ही टिकती है। संस्कृति के विज्ञापनबाज़ क्या यह सोचते हैं कि वे तमाम गरीब रंगकर्मियों को हतोत्साहित कर देंगे, हीनभाव से भर देंगे और पैसे के बल पर अपना झण्डा गाड़ जायेंगे—वर्तमान में भी, इतिहास में भी? यह बड़ी निर्मम जमीन है इसे नंगे पैर आदमी पार कर जाता है, हाथी पर बैठा धँस जाता है।

अन्त में यह कहना जरूरी है कि पीटर वेस का लिखा यह विश्वविख्यात **मरात साद नाटक** आपत्काल में **बेरी जान** ने दिल्ली में बड़ी खूबसूरती और सार्थकता के साथ खेला था। इसी का **पागलखाना** नाम से इस्मत चुगताई का किया रूपान्तर **एलेक पदमसी** ने किया है। एक भी व्यक्ति अभी तक तो नहीं मिला जिसने **बेरी जान** का और **एलेक पदमसी** दोनों का काम देखा हो और यह न कह रहा हो कि बेरी जान का नाटक कहीं बेहतर था—प्रस्तुति में, मूल नाटक के प्रति न्याय में, उसकी ताकत और समस्या को साफ-साफ उभारने में। यहाँ नाटक की समीक्षा अभीष्ट नहीं है—वह उलझा हुआ था और भाषा, अभिनय, प्रस्तुति सभी स्तरों पर अपेक्षाकृत कमज़ोर भी। यहाँ केवल यह कहना अभीष्ट है, सभी पैसेवालों से, कि विज्ञापन पर कला नहीं टिकाई जा सकती। लँगड़े को उतनी ही बैसाखी चाहिए जिससे वह चल सके। इतनी लम्बी बैसाखी न दीजिए कि वह हवा में टँगा दिखायी दे और चलने की कोशिश करने पर ऐसा गिरे कि दुबारा उठने लायक ही न रहे।

कुर्सी पर हल

अभी दूसरे दिन गाँव जाना हुआ। गाँव का सयाना आदमी नीम तले एक दो-पेजी अखबार बाँच रहा था और पास बैठे दो-एक आदमी उसका चेहरा देख रहे थे—

अचानक वह चुप हो गया और बहुत देर तक कुछ नहीं बोला। फिर क्षोभ में भर-कर बोला—'गुह खाय लिहिन'। फिर चुप हो गया। सब लोग उसका चेहरा और आश्चर्य से देखने लगे। एक ने साहस करके पूछा—"काव भवा वकील साहेब?"

गाँव में सयाने आदमी को जो थोड़ा पढ़ा-लिखा हो, कानून वगैरह की मोटी जानकारी रखता हो, दफाएँ वगैरह जानता हो उसे वकील साहेब कहते हैं। सो यह भी वकील साहेब थे। "हुआ क्या! जनता पार्टी टूट गयी। चार भागों में बँट गयी।"

"चारपाई होय गयी। तो कहौ अब सबै पसरें ओही पर।" एक मसखरे ने फबती कसी और अँगोछा डाल चलता बना। दूसरा भी चलने के लिए उठ खड़ा हुआ और बोला—"ऊ का पसरिहैं, इन्दिराजी पौढ़िहैं ओह पर।"

वकील साहब कुछ नहीं बोले, स्तम्भकार उनके पास बैठ गया जाकर। जानता था।

"क्या पढ़ रहे हैं वकील साहेब?" उसने पूछा।

"भविष्यफल देख रहे हैं।"

"किसका भविष्यफल?"

"अरे! सब जानते हो तुम। मुँह न खोलवाओ।"

"जब ग्रह मँडरा रहे हों तब मुँह तो खोलना ही पड़ता है। मन्त्र भी उचारना पड़ता है।" स्तम्भकार ने कहा।

"अब सब मन्त्र चुक गये। फूँक तो रहे थे मन्त्र तुम लोग अखबार में बैठ के, क्या हुआ? यही न—एक से दो, दो से तीन, तीन से चार और अब चार से नौ दो ग्यारह? टाँय-टाँय फिस्स!" वकील साहेब का मुँह बिचका।

"अब जो हो गया उसे तो स्वीकारना ही पड़ेगा। हम तो जरूरी काम से आये हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि इन चारों में से कौन सही है। जनता या असली जनता या जनता परिषद् या जनता (एस)। आप लोग किसे जनता मानते हैं।"

"किसी को नहीं। जब शहतीर काट के चार पाये गढ़ दिये तो उसे रखकर नाला तो पार किया नहीं जा सकता।" वकील साहब बोले।

"एक पाया मजबूत हो बाकी तीन कमजोर तो चारपाई भी बेकार रहती है।"

"अच्छा, कौन कमजोर है यही बतलाइए?"

"अब इस बहस में क्या रखा है? आप शहरवालों का पता नहीं पर हम गाँव-वालों के लिए इसमें कोई सार नहीं।"

"अच्छा यही बताइए कि हलधर का चुनाव चिह्न इनमें से किसे दिया जाये? सभी उसका दावा कर रहे हैं।"

"चारों को दे दो," वकील साहब ने कहा।

"कैसे ?"

"एक में हलधर के सिर पर काली टोपी पहना दो, दूसरे में हलधर के सिर पर सफेद टोपी हो, तीसरे में हलधर के सिर पर हरा कपड़ा बँधा हो और चौथे में हलधर के दाढ़ी हो। सबको हलधर मिल जायेगा। अटलबिहारी भी खुश जगजीवन-राम भी; राजनारायण भी खुश चन्द्रशेखर भी। सबका अपना-अपना ट्रेडमार्क हल-धर पर रहेगा—बेचारे हलधर पर।"

"यह तो आप मज़ाक कर रहे हैं।"

"हाँ, मज़ाक ही कर रहा हूँ। सभी मज़ाक कर रहे हैं। हलधर के साथ मज़ाक कर रहे हैं। मैं भी कर रहा हूँ आखिर इन्हें न हल से मतलब न हलधर से। फिर हलधर के पीछे क्यों पड़े हैं !" वकील साहब थोड़े तैश में थे।

"चुनाव चिह्न तो कोई चाहिए ही ?"

"कोई और चुनाव चिह्न ले लें—एक साहब तान्त्रिक का चुनाव चिह्न ले लें, एक शाखा स्वयंसेवक का, एक साहब शीर्षासन किये हुए आदमी का चुनाव चिह्न ले लें, एक दण्ड बैठक लगाते हुए आदमी का। हलधर को छोड़ें। अपना रूप हम इनमें से किसी को नहीं देनेवाले। ये लोग किसान के कन्धे पर रखे हल की खुशी और पीड़ा दोनों नहीं जानते। हम इनके हल के लिए अपना कन्धा नहीं देना चाहते। चाहें तो कुर्सी पर हल रख लें। कुर्सी पर रखा हुआ हल अपना चुनाव चिह्न बना लें।"

"कुर्सी पर हल नहीं डण्डा वकील साहब। ई चुनाव चिह्न बनवाओ इनका।" तीसरा आदमी जो बैठा हम लोगों की बात सुन रहा था, मसखरी में बोला। और दिन होता तो वकील साहब उसे डाँट कर भगा देते—राजनीति में टाँग अड़ाता है—पर उस दिन कुछ नहीं बोले। वह बैठा अपने ही सुझाव पर देर तक मन-ही-मन मूड़ी हिलाता, खी-खी करता रहा।

"ठीक कहता है यह। 'कुर्सी पर डण्डा' यही इनका चुनाव चिह्न होना चाहिए। हल भी अपना हम क्यों खराब करें। डण्डा ले जायें जिसे कुर्सी के लिए ये आपस में चला रहे हैं। हलधर नहीं, कुर्सी पर डण्डा, इनका चुनाव चिह्न बनाया जाये।" वकील साहब बोले।

"फिर आप वोट देंगे इन्हें ?"

"वोट देंगे या नहीं देंगे यह दीगर बात है। पर वह ऐसा चुनाव चिह्न होगा जिससे इनका सत्ता में आने पर क्या आचरण होगा, इसका पता चल जायेगा। चुनाव चिह्न सच्चा होगा।"

"फिर हलधर चुनाव चिह्न किसे देंगे ?"

"इस समय तो कोई पार्टी नहीं है जिसे दें। सबके अपने-अपने चुनाव चिह्न

है। हम किसान खुद अपनी पार्टी यदि बनायेंगे तो यह चुनाव चिह्न उसका होगा। कोई दूसरा हमारे नाम पर यदि पार्टी बनायेगा तो उसे यह नहीं मिलेगा। जनता पार्टी को देकर देख चुके।" वकील साहेब गम्भीरता से कह रहे थे।

"किसान अपनी पार्टी बनाकर चुनाव लड़ेगा ?"

"किसान का अपनी पार्टी बनाना मुश्किल है। बाहरी तत्त्व घुस आयेंगे। हमारी पार्टी नहीं बनती, हमारे नाम पर पार्टी बनती है, दूसरे बनाते हैं। अब हम इससे ऊब गये हैं। फिर चुनाव लड़ना वर्तमान हालात में उन तमाम गन्दगियों और जालबट्टे में शामिल होना है जिससे हमें राजनीति को बचाना है।"

"फिर क्या करेंगे, हलधर चिह्न किसे देंगे ?"

"अपने क्रान्ति के झण्डे को देंगे। लाल रंग पर हलधर।" वकील साहब बड़ी जोर से हँसे फिर संजीदा हो गये। गहरी चुप्पी में डूब गये। इस स्तम्भकार के सिवा उनकी यह बात सुनने के लिए उस समय वहाँ कोई नहीं था। 'कुर्सी पर डण्डा' चुनाव चिह्न का सुझाव देनेवाला तीसरा आदमी भी खी-खी करता पहले ही जा चुका था।

आशंका और सम्भावना

जबसे नये चुनाव परिणाम सामने आये हैं, शर्माजी घर से कम निकलते हैं। घने अवसाद के बोझ से दबे हुए हैं। इस स्तम्भकार ने उनसे पूछा—

"आप तो किसी पार्टी में हैं नहीं, आप किसकी हार का मातम मना रहे हैं ?"

"यह मातम नहीं है, देश के भविष्य की चिन्ता है।"

"भविष्य की चिन्ता करने के लिए तो नयी मज़बूत सरकार बन ही गयी है..."

"कुछ चिन्ताएँ आम नागरिक की हैसियत से बुद्धिजीवी करता है। वह सरकार की चिन्ता नहीं होती। सरकार की चिन्ता तो अपनी सत्ता बनाये रखने की होती है।"

"और बुद्धिजीवी की चिन्ता ?"

"अपनी अस्मिता बनाये रखने की।"

"यह तो बड़ा भारी शब्द है। आम आदमी की हैसियत के बाहर का शब्द है।"

"लेकिन है उसके लिए ही।"

"उसे तो रोज़ी-रोटी चाहिए। अस्मिता, आज़ादी यह सब आप लोगों को चाहिए।" स्तम्भकार ने कहा।

"यही चिन्ता है मेरी कि यह बात अब और गहरे बैठा दी जायेगी कि आज़ादी विलास है। मुख्य जरूरत तो रोज़ी-रोटी की है। तानाशाही बड़ी खूबी से लोगों में यह बात बैठा देती है।"

ठीक उसी समय शर्माजी के दफ़्तर के चपरासी का बी. ए. पास, पिछले साल भर से बेरोज़गार लड़का, बरफी का डिब्बा लिये हुए आया। वह बरफी बाँट रहा था। खुद एक-एक पैसे की तंगी में था लेकिन इन्दिराजी की जीत की खुशी में जाने कहाँ से बरफी लेकर आ गया। बेहद खुश, बोला—"साहब मुँह, मीठा करो।"

"तुम इतने खुश क्यों हो? क्या इन्दिराजी के आ जाने से तुम्हें काम मिल जायेगा?"

"कुछ-न-कुछ होगा साहेब।" वह अचकचाकर बोला।

"कुछ-न-कुछ तो होगा पर तुम्हारा क्या होगा? बेरोज़गारी दूर हो जायेगी? तुम क्यों इतने खुश हो?"

वह बता नहीं पाया, वह क्यों इतना खुश है। शर्माजी के पास जिस तरह अपने दुखी होने का तर्क आशंका पर आधारित है उसी तरह उसका खुश होने का तर्क भी सम्भावना पर आधारित है। इस समय पूरा भारतीय मानस दो वर्गों में बँट गया है। अधिकतर पढ़े-लिखे लोग तानाशाही के आगामी उग्र रूप की आशंका से चिन्तित हैं और काफी बड़ा गरीब तबका सबकुछ ठीक हो जाने की सम्भावना से खुश है। ऐसा क्यों है पूछने पर शर्माजी बोले—

"हमारे दुखी होने का एक तार्किक आधार है—ऐतिहासिक आधार। एक मजबूत व्यक्ति जिसे प्रबल बहुमत प्राप्त हो उसकी राजनीति का चरित्र क्या होता है इसकी तार्किक संगति है। लेकिन इस बरफी बाँटनेवाले बेरोज़गार नौजवान के पास, उसका भला होगा, इसकी कोई तार्किक संगति नहीं है।"

"क्यों? क्या तानाशाही में समाज का उत्थान नहीं हुआ? लोगों की जीवन स्थिति बेहतर नहीं हुई?"

"नहीं, समाज के उसी वर्ग की हुई जो उसका हिमायती रहा। सबकी नहीं हुई। नहीं होती। तानाशाह समाज की बेहतरी की योजनाओं का एलान करता है। कुछ को फायदा पहुँचाता भी है लेकिन सभी वह फायदा पाने के लिए आवाज़ नहीं उठा सकते। उस आवाज़ को दबाने के लिए अपनी ताकत को इस्तेमाल करता है। वह बेहतरी का हक़ जिसे जितना देता है उतना ही अलम है, जिसे नहीं देता वह उसके लिए कोई आन्दोलन नहीं कर सकता, कोई संघर्ष नहीं छेड़ सकता। ऐसा करने पर कुचल दिया जाता है। जैसे हर गरीब किसान को बैंक से कर्ज़ देने की योजना का एलान कर सकता है। उसके कुछ लोगों को कर्ज़ा मिल भी सकता है। लेकिन जिसे नहीं मिला वह यह मानकर कि यह उसका हक़ है कोई लड़ाई नहीं लड़ सकता। लोकतन्त्र में लड़ सकता है तानाशाही में नहीं।" शर्माजी उत्तेजित थे।

"हर व्यक्ति गलती करके सीखता है। तानाशाह भी गलती करके सीख सकता है। और उसके अनुरूप बदल सकता है।" स्तम्भकार ने कहा।

"तानाशाही चरित्र गलती करके अपने भले के लिए सीखता है, दूसरों के भले के लिए नहीं। और सख्त होने के लिए बदलता है, कोमल होने के लिए नहीं।"

"यह कुछ ज्यादा सोचना है, इतिहास में क्या ऐसा कोई प्रमाण है कि कोई तानाशाह सत्ताच्युत होने के बाद फिर सत्ता में आकर और कठोर हो गया हो?"

शर्माजी चुप रहे। शायद उदाहरण सोच रहे हों। तभी वह बरफीवाला पढ़ा-लिखा युवक बोला जो इस बीच घर के और लोगों को बरफी बाँट आया था, बोला—"आज बरफी दूकानदार ने आठ आने किलो सस्ती दी है। जीत का एलान होते ही हर चीज़ का दाम थोड़ा-थोड़ा कम होने लगा है। कुछ ही दिनों में देखियेगा न्याय और व्यवस्था भी ठीक हो जायेगी।" इतना कहकर खुश-खुश वह मोहल्ले में और लोगों को बरफी बाँटने चला गया।

उसके चले जाने पर स्तम्भकार ने कहा—"देखा शर्माजी, साधारण पढ़े-लिखे आदमी की भी चिन्ता, महँगाई की चिन्ता है, न्याय और व्यवस्था की चिन्ता है। हम-आप जो ऊँची ऊँची बातें कर रहे हैं वह उसके लिए गौण हैं।"

"लेकिन वह भी हमारी बातों से ही अन्ततः जुड़ी हैं। न्याय और व्यवस्था की बात हर तानाशाह करता है और एक रूप में लागू भी कर लेता है। लेकिन न्याय और व्यवस्था बनाये रखने का मतलब उसके लिए यथास्थितिवाद बनाये रखना होता है। दरअसल न्याय और व्यवस्था उतनी होती नहीं जितनी दिखायी जाती है।"

"क्या मतलब?"

"मतलब कि आप किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिए आन्दोलन नहीं कर सकते, जो जैसा है जैसा चाहा जा रहा है वैसा है। यह यथास्थितिवाद को बनाये रखना है। फिर आज आप किस चीज़ से परेशान हैं? इसी बात से न कि सड़कों पर, रेल में, कहीं भी आना-जाना सुरक्षित नहीं। चारों तरफ अराजकता और मनमानी है। औरतों के जेवर तक सरेआम छीनकर लोग भाग जाते हैं। चोर, डाकुओं, लुटेरों की बन आयी है। अपराध बढ़ते जा रहे हैं। अपराधियों का बोल-बाला है। यह ठीक है कि नयी सरकार में यह सब काफी हद तक दूर हो जायेगा। लेकिन जिन बुनियादी बातों से अपराध होते हैं वह तो नहीं बदलेंगे। जैसे गरीबी,

बेरोजगारी, असुरक्षा का भाव। वह ताकतें भी रहेंगी जो दूसरों से अपराध कराती हैं जैसे जमींदार, ठेकेदार, पूंजीपति, राजनीति के अलमबरदार, ऊपर से थोड़ी लीपा-पोती दीखेगी। सच पूछिए तो तानाशाही में अपराधी बदल जाते हैं। अपराध सब होते हैं कभी-कभी और ज्यादा और जघन्य भी होते हैं। लेकिन अपराध तब सत्ता प्राप्त आदमी करता है। पुलिस और अधिकारी करते हैं। क्या फरक पड़ता है यदि आज औरत के जेवर सड़क पर छीनकर लोग भागते हैं और कल पुलिस थाने में उतरवा लिये जायें? आज तो आप थाने में शिकायत कर भी सकते हैं, अखबार में छपा भी सकते हैं लेकिन कल पुलिस की शिकायत किस थाने में दर्ज होगी, अखबार में कैसे छपेगी? अराजकता वही रहेगी उसकी यातना वही रहेगी। फरक इतना ही है कि आज नागरिक अपराधी है कल राज अपराधी होगा। आज शोर मचता है कल शोर दबा रहेगा। और हम सोचेंगे न्याय और व्यवस्था स्थापित हो गयी।"

"आप आरोप लगा रहे हैं।" स्तम्भकार ने कहा।

"नहीं, मैं खतरे से सावधान कर रहा हूँ, नागरिक और सरकार दोनों को। क्योंकि आज यह अधिकार मुझे है। चाहता मैं यही हूँ कि ऐसा न हो। राजनीति का चरित्र बदला जाये। समाज की बुनियाद में परिवर्तन हो। गरीबी, अशिक्षा दूर हो। सबके लिए समान अधिकार हों और गैर समानता दूर करने का यदि कानूनी हक़ जनता को मिले तो उसके लिए वह लड़ सकें। यह आज़ादी बरकरार रहे।"

दोनों चेहरे कागज के हैं

राजधानी की दीवारों पर चिपके लाखों पोस्टर अब खुरचे जा रहे हैं। इन पोस्टरों में एक संजीदा दाढ़ीवाला चेहरा है। यह चेहरा सभी जानते हैं चन्द्रशेखर का है। बीसियों तरह के पोस्टर लगे थे। कुछ रंगीन भी थे। पोस्टर चन्द्रशेखर की पदयात्रा के सम्बन्ध में थे— इस महान पदयात्री के दिल्ली में स्वागत से लेकर उसकी सभा तक की इनमें घोषणा थी और न जाने कौन-कौन से संगठनों का नाम चमक रहा था। अब वे खुरचे जा रहे हैं। पोस्टरों की यही नियति होती है। लेकिन इस देश में पोस्टरों के साथ-साथ उनमें घोषित बातों की भी जाने क्यों वही नियति हो जाती है! उनकी भी चिन्दी-चिन्दी कूड़े के ढेर में चली जाती है।

एक खूबसूरत मकान की दीवार इन दाढ़ीवाले पोस्टरों से इस कदर भरी हुई थी कि कहीं कोई दूसरा चेहरा चिपक ही नहीं सकता था? बेचारे मकानवाले बड़े दुखी थे। खूब लेई लगाकर ये चिपकाये गये थे। छुड़ाना मुश्किल था। एक आदमी टीन की पत्ती से खुरचकर छुड़ा रहा था। पदयात्रा का एक फायदा तो साफ दीख रहा था कि उस गरीब को रोजी मिल गयी! दिल्ली में ऐसे सैकड़ों गरीबों को पोस्टर खुरचने की रोजी मिल गयी होगी! सोचा यह आदमी तो चन्द्रशेखर का जरूर कृतज्ञ होगा। पास जाकर पूछा—"जानते हो यह किसका चेहरा नोच रहे हो?"

"चेहरा तो कागज का है साहब!"

मैंने उसे गौर से देखा। पतलून और शर्ट पहने था। यह बात दीगर थी कि वह फटी हुई थी। लगा आदमी समझदार है। उसकी भी दाढ़ी थी, बेतरतीब, हजामत न बनी होने के कारण।

"तुम क्या कुछ पढ़े-लिखे हो?"

"बेरोजगार आदमी कहाँ पढ़ा-लिखा होता है?"

"तुमको ये चेहरा नोचने में मजा आ रहा है?"

जाहिर है शरारतन उसे उकसाने के लिए मैंने पूछा।

"नहीं तकलीफ हो रही है।"

"क्यों?"

"सोच रहा हूँ साहेब कि सारी दिल्ली में इतने पोस्टर लगे हैं। लाखों रुपया तो इन पर खर्च हुआ होगा। जो आदमी कन्याकुमारी से चार हजार मील चलकर आया है। आदिवासी इलाकों में जिस आदमी के पैर पकड़-पकड़कर लोगों ने पीने का पानी माँगा और जो कहता है इसकी उसे बेहद तकलीफ हुई, वह यदि चाहता तो उस इलाके में इन पोस्टरों के रुपयों से चार कुएँ ही खुदवा देता, आठ-दस नल-कूप लगवा देता।"

"यह पोस्टर कोई चन्द्रशेखर ने थोड़े ही लगाये हैं।" मैंने कहा।

"आप क्या मानते हैं कि ये पोस्टर बिना उनकी जानकारी के लगे हैं—चलिए मान लिया। लेकिन उनकी पार्टी ने तो लगाये हैं, जिसके वे अध्यक्ष हैं। एक भी बयान दिखा दीजिए जहाँ उन्होंने कहा हो कि मेरे स्वागत पर दिल्ली में मेरी पार्टी पैसा बरबाद न करे। पोस्टर आदि का रूढ़िग्रस्त दिखावा न करे। चलिए पहले का न सही, बाद का ही कोई बयान दिखा दीजिए जिससे पता चलता हो कि पोस्टरों पर लाखों रुपया पानी की तरह बहाये जाने पर उन्हें दुख हुआ है। और इस तरह के प्रचार के वह खिलाफ हैं। कहीं कोई पछतावा दीखता हो!"

"तुम मजदूर नहीं लगते?" मैंने बात बदल दी।

"इस समय मजदूर हूँ। और चाहता हूँ एक दिन सभी मजदूर इसी तरह

सोचने लगें। मैं आपको जानता हूँ। एक बात आपसे कहना चाहता हूँ। कोई राज-नीति का ढंग नहीं बदलेगा ! पूत के पाँव पालने में ही दिखायी दे जाते हैं। यदि चन्द्रशेखर राजनीति का ढंग बदलने पर कटिबद्ध थे तो आते ही शुरुआत यहीं से करनी चाहिए थी। कुछ असर पड़ता। अब तो लगता है यह पदयात्रा अपनी छवि और अपनी पार्टी की छवि बनाने के लिए ही थी। क्योंकि तरीका वही पुराना, खर्चीला, यशोगान करानेवाला झूठा है, काम करनेवाला, नहीं। 'गवर्नमेण्ट दैट वर्क्स' के पोस्टर भी मैंने खुरचे थे। इसे भी खुरच रहा हूँ। दोनों चेहरों को खुरचने में कोई अन्तर नहीं। दोनों कागज के हैं। कहीं आप यह लिख न दीजियेगा।"

"अपना नाम बताओ। कुछ परिचय तो दो।"

"क्या करेंगे ?" उसने बेहद उदासीनता से कहा और अपने काम में लग गया। लौटते समय मैंने मकान में जाकर उसके मालिक से पूछा कि वह कौन आदमी था तो उससे जवाब मिला, 'पता नहीं, आया और कहने लगा, दीवार आपको साफ करानी है ? ठीक से साफ कर दूँगा। पाँच रुपये लूँगा। मैंने हाँ कर दी। ठीक से उसे देखा भी नहीं। अपने काम में लग गया। सचमुच दीवार बहुत गन्दी हो गयी थी। हर उपाय करके देख चुका। लेकिन हर बार कोई-न-कोई पोस्टर इसे गन्दा कर ही जाता है···'

बन्दूक के सामने एक सपना

उसकी आँखों में न करुणा है, न याचना, न गुस्सा। किसी नतीजे पर पहुँच जाने के थिराव की हल्की-सी चमक है : 9 साउथ एवेन्यू में लगी बँधुआ मुक्ति चौपाल में बैठा वह पढ़े-लिखों की बातें ध्यान से सुन रहा है। और यह भी कि उसके दर्द को दूसरे कैसे बयान करते हैं। अचानक वह बोल पड़ता है :

"तो ई बात है। उहाँ तो हमरा के कुछ नहीं मिलल। तौन दिल्लिए आय के काव मिलल ? जब हम चललीं, रामेसरम भैय्या कहिलें, चलो दिल्ली से बुलावा आइल बा। तो जौन हमार मेहरारू, माने हमार घरवाली गुस्सा किहिस। नाहीं आवे देत रहल। कहिस का होई उहाँ ? हम बच्चा केस सँभारब ? एक गो पाँच साल के लरिका है, एक गो पाँच महीने की लरकी। कहिस एक गो कम्बलौ नाहीं मिली। तौन हम ओह का बँहटिआवा। मने ओहसे नाही मिलेन। गाँव के बाहरे-बाहरे चला आवा। तौन लरिकवा भेटाइ गइल। बोलिस बाबू हमारे खातिन

मिठाई लेहले अइहा। दुई गो रुपया लेह के चल ली। अब दिल्ली हमका काव दिहिस ?"

अपनी ठेठ बोली में पूरे आवेश के साथ अटक-अटककर वह कहता है—वह मुगल भुइयाँ, 34 साल का पलामू का मुक्त बँधुआ मजदूर। रामेश्वरम बताते हैं : "वह कम्बल माँग रहा है।" एक फटा कम्बल वह ओढ़े था। शायद उसे घर पर अपने बच्चों की चिन्ता होगी। सेमरा में वह पाँच पीढ़ी से बँधुआ मजदूर था। वह हरिजन है। जमींदार पाण्डे के यहाँ 10-12 साल की उम्र से गाय-गोरू चराने लगा। 25-26 साल की उम्र में अपनी शादी के लिए दो सौ रुपया उसने मंगल-किशोर पाण्डे से कर्ज लिया। 4 साल तक कब्जे में रहा। फिर सन् 76 में बँधुआ मुक्ति शिविर में मुक्त हो गया।

'जमींदार के काम छोड़ देहलीं।' वह बताता है।

उससे पता चला कि उस समय 60 बँधुआ मजदूर मुक्त हुए थे। कहा गया था कि एक हल बैल, एक एकड़ जमीन, बकरी, बीज, खाद सब मुक्त होने पर देंगे। पर 43 लोगों को सब मिला।

"मने उपरै-उपरै का जमीन—ऊबड़-खाबड़ पथरीली जमीन। 10 से 80 दशमल मने पाच कट्टा से 20 कट्टा तक—यानी एक बीघा।"

"बाकी 17 को क्यों नहीं मिला ?"

"मनें ऊ मिल गइलें ना पाण्डे से। ऊपर से मुकुत भीतर से बन्धुआ ! तौन समझौता कै लिहिन। पाण्डें और अफसर लोग सब उन्हें दिहिन। हम नाहीं किहेन तौन हमका कुछ नाहीं मिलल।"

"अब वे 43 मजे में हैं ?"

"नाहीं, 10 तो कुछ कमा-खा रहे हैं। बाकी सब बंजर है। गाँव के पास जिनका जमीन है कमात हैं जिन कर दूर जंगल में है ऊ का कमाई हैं।"

"तुम क्या करते हो ?"

"झूरी लकड़ी बेचीला। खाईला।"

"कितना मिल जाता है ?"

"हम और हमार मेहरारू लकड़ी जंगल से बीन के डाल्टनगंज ले जाइला। दुई दिन में एक बार—कबहू चार कबहू पाँच रुपया मिलेला। चार-पाँच रुपया दुई दिन में दूनो जने। मने चार-पाँच रुपया रोज···डाल्टनगंज से दो टाइम के खाइब खरीद लाइला। बस, ई तरीका से जियत खात हई।"

"सरकार ने कुछ नहीं दिया ?"

"इधर एक फारम भरे पर एक मुर्गा दिहे हैं। कहिन इसको खिला-पिलाकर मोटा करो।"

उसने बताया कि मोटा होने पर तीस रुपया में मुर्गा बिक जायेगा। फिर इन

चार वर्षों की संघर्ष की कहानी—हर बार डिप्टी कमिश्नर के यहाँ तरह-तरह से आवेदन देना, हर बार एक-से-एक वायदे सुनना और अन्त में वैसे ही रह जाना। कुछ न मिलना। जमींदार का अपनी जमीन पर पाँव रखने पर भी चिढ़ना, धमकाना, गाली देना। कुछ को मारना-पीटना। एक लम्बी दास्तान। फिर बताता है कि रोज सुनायी पड़ता है कि बँधुआ मज़दूरों के लिए बहुत कुछ आता है पर उन तक नहीं पहुँचता।

"ब्लाक में सुनली बँधुआ मजदूर के लिए बहुत पैसा आइल बा। बँधुआ मजदूर के 10 बन्दूक सरकार पठइले बा। जमींदार बोलिस, भुइंया का करेगा बन्दूक? पता नहीं। का भइल बन्दुकवा का···दुई चार नाल बन्दूक की जरूरतिए बा। चार ऊ मारे तो एक-दो हम हू मारे।"

वह बताता है, ब्राह्मणों की तादाद ज्यादा है। उनके पास हथियार है, पैसा है, आदमी है। उनकी तरफ सब पुलिस है, अफसर हैं।

"हम संगठन बनइली है, जिये खातिर। दलित आदिवासी एकता समिति। 70-80 गो लोग। छुआछूत आपस में नाही बा।"

फिर वह बताता है इतने थोड़े-से लोगों पर ही कैसे 10 बन्दूक रखे हुए पाण्डे के आदमी हमारी बैठकों में जासूसी करने आते हैं। और चोर-चोर चिल्लाने पर ही भाग खड़े होते हैं।

"हम डराइला नाहीं पर बच के चलीला।"

एक कम्बल और बच्चों के लिए थोड़ी मिठाई का सपना देखनेवाला यह आदमी जिस नतीजे पर पहुँचा है वह यही कि ब्राह्मण उससे लड़ेंगे और उसे इसके लिए तैयार रहना है।

"तुम क्या चाहते हो?"

इस सवाल पर उसकी आँखें किन्हीं ख्वाबों में डूब जाती हैं। उस हल्की-सी चमक पर कुहासा छा जाता है।

"हल-बैल, जमीन, मिल जात, खेती करती, कमइती खइती। घर बनाय लेती। चुपचाप शान्ति से रहती। सरकार टोला में स्कूल बनाय देत लरिकन पढ़इती। हम लड़े नाहीं चाहित। उनके सौ घर, हमार 80-90 घर। पर ऊ जोरदार हैं। हम लड़े नाही चाहित। शान्ति चाहित है पर···"

और इस 'पर' के आगे वह ठिठका खड़ा है। अपने तमाम हरिजन आदिवासी साथियों के साथ—दिल्ली आता, यहाँ के जुलूस का नेतृत्व करता और हम सब पढ़े-लिखों की ओर आश्चर्य से देखता।

राष्ट्रपति निक्सन और चापस्टिक

पीकिंग से लौटे हुए एक अमेरिकी संवाददाता ने राष्ट्रपति निक्सन की चीन-यात्रा के विषय में जो दास्तान बतायी उसे सुनकर चकित हो जाना पड़ा।

घटना इस प्रकार है: पीकिंग का मशहूर पीकिंग होटल। शाम का समय है। बाहर बर्फ़ गिर रही है। भीतर भोज चल रहा है। (ध्यान रहे कि अमेरिकी शाम को 6 बजे ही भोजन कर लेता है)। एक टेबल पर तीन व्यक्ति बैठे हुए हैं—श्रीमती निक्सन, राष्ट्रपति निक्सन और राष्ट्रपति निक्सन के सलाहकार हेनरी कीसिंगर।

टेबिल पर चीनी खाद्य पदार्थ रखे हुए हैं। चीनी भोज के विषय में मशहूर है कि उसके कुछ 'कोर्स' तीन दिनों तक चलते हैं। खाना भी चलता रहता है, साथ-साथ अन्य काम भी चलते रहते हैं। श्री निक्सन और उनके सहयोगी जिस तरह बैठे हुए हैं, उससे लगता है पिछले तीन दिनों से एक ही 'कोर्स' चल रहा है, बीच-बीच में अन्य काम भी चल रहे हैं—मसलन श्री चाउ एन लाई और श्री माओ त्से दुंग से मुलाकात; 'ग्रीष्म भवन' की यात्रा, चीन की लम्बी दीवार के दर्शन, इत्यादि-इत्यादि। मगर असल मुद्दा चीनी भोजन ही है।

टेबल पर कई तरह के चीनी खाद्य हैं, 'चाउ मिएन', 'बर्ड्स नेस्ट सूप', 'छिपकली का आचार' और चीनी पाक शैली में पकाया गया जापानी 'सुकियाकी'। मेज पर तीन किताबें रखी हुई हैं। हेनरी कीसिंगर के समीप ल्यू शाओ ची की किताब 'हम अच्छे कम्युनिस्ट कैसे बनें', श्रीमती निक्सन के पास 'चीनी पाक शैली' और राष्ट्रपति निक्सन के समीप डेल कर्नेगी की 'हाऊ टु विन फ्रेण्ड्स।' बीच-बीच में राष्ट्रपति निक्सन जेब से एक और पुस्तक निकालकर देख लेते हैं। इस पुस्तक का नाम है 'माओ के विचार।'

फिलहाल किसी व्यक्ति का ध्यान न तो पुस्तकों पर है, न खाद्य-पदार्थ पर। सबके चेहरों पर परेशानी है। इस परेशानी का कारण एशिया में सोवियत रूस का बढ़ता हुआ प्रभाव नहीं, बल्कि एक चापस्टिक है। चापस्टिक लकड़ी के उन दो टुकड़ों को कहा जाता है जिनसे चीनी भोजन करते हैं। राष्ट्रपति निक्सन की परेशानी यह है कि वह इस चापस्टिक को कहाँ रखें?

भोजन समाप्त हो चुका है। अब इस चापस्टिक के साथ क्या सलूक किया जाये। राष्ट्रपति को डर है कि यदि उन्होंने इसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया तो चीनी नेता नाराज़ हो सकते हैं, यदि प्लेट में छोड़ दिया तो यह माना जायेगा कि अमेरिका के राष्ट्रपति को खाने की तमीज़ नहीं। यदि जेब में रख लिया तो माना जायेगा कि अमेरीकी लुटेरे ही नहीं, चोर भी हैं और यदि इनसे दाँत साफ किया

जाये तो यह धारणा बनेगी कि अमेरिका में 'टूथपिक' का अभाव है।

राष्ट्रपति की हर समस्या का हल कीसिंगर करते हैं। हारकर राष्ट्रपति निक्सन ने श्री कीसिंगर से पूछा, "हेनरी ! तुम बता सकते हो चीनी खाने के बाद चापस्टिक का क्या करते हैं ?"

हेनरी कीसिंगर के लिए यह एक नये क़िस्म की उलझन है। हार्वर्ड में अपने अध्ययन और अध्यापन काल में उन्होंने कम्प्यूटर में 'डेटा' डालना, सूचनाएँ एकत्र करना सीखा था। चापस्टिक के विषय में उन्हें कुछ नहीं बताया गया था। वह ज़माना था भी और। उन दिनों सी. आई. ए. की दिलचस्पी चीनी पाककला में न होकर रूसी पेय (वोदका) शैली में थी। ज़माना रातोंरात बदला और इसके पहले कि सी. आई. ए. चीनी चापस्टिक के बारे में सूचना इकट्ठी करे, राष्ट्रपति निक्सन ने चीन यात्रा की तैयारी कर डाली। बेचारे कीसिंगर का क्या कसूर !

बहरहाल, हेनरी कीसिंगर ने कहा, "मेरे विचार में मिस्टर प्रेसिडेण्ट ! इस सम्बन्ध में हमें तुरन्त स्टेट डिपार्टमेण्ट से सम्पर्क कायम करना चाहिए।"

निक्सन : "समय नहीं है महामहिम चाउ एन लाई के आने का वक़्त हो रहा है। यदि उन्होंने मुझे इस हालत में देखा तो मेरे विषय में उनकी क्या धारणा बनेगी ? क्या वह यह नहीं सोचेंगे कि जो व्यक्ति एक चापस्टिक को लिए हुए तीन दिन बैठा रह सकता है, वह दुनिया के भविष्य के बारे में क्या निर्णय ले सकता है। अब मैं उन्हें कैसे बताऊँ कि संसार के भविष्य के विषय में निर्णय लेना आसान है, चापस्टिक के भविष्य के बारे में निर्णय लेना कठिन।"

राष्ट्रपति निक्सन की हर परेशानी से सबसे अधिक परेशान स्वयं श्रीमती निक्सन होती हैं। सो उन्होंने अपने पति को ढाढस दिया, "परेशानी की कोई बात नहीं डिक ! तुम चापस्टिक हाथ में लिए हुए ही महामहिम से बात करना।"

निकसन : "कैसी बात करती हो। महामहिम समझेंगे कि इस आदमी का खाना अब भी खत्म नहीं हुआ। तीन दिनों से यह व्यक्ति खा रहा है, अब भी इस की भूख नहीं बुझी।"

श्रीमती निक्सन : "इसमें नाराज़ होने की क्या बात है, डिक ! तुम चापस्टिक लिये हुए गोष्ठी कक्ष में चलो। हम महामहिम से कह देंगे, अमेरिका के राष्ट्रपति को चीन की हर चीज़ से प्रेम है—यहाँ तक कि आपके चापस्टिक से भी। राष्ट्रपति चापस्टिक का साथ कतई नहीं छोड़ना चाहते।"

राष्ट्रपति निक्सन वैसे कैण्डे के आदमी हैं। मगर उनका चेहरा रुँआसा हो आया था। एक बार फिर कीसिंगर की ओर मुखातिब होते हुए उन्होंने कहा, "हेनरी, इस चापस्टिक से मेरा पीछा छुड़ाओ।"

हेनरी कीसिंगर ने कहा, "तो आइए ! देखें 'लाल पुस्तक' में इस सम्बन्ध में क्या लिखा है।"

पुस्तक आद्यन्त पढ़ी गयी। मगर समूची पुस्तक में 'चापस्टिक' का कोई जिक्र नहीं था। चाउ एन लाई के आने का वक़्त हो रहा था और राष्ट्रपति की परेशानी बढ़ती जा रही थी। समूचे अमेरिका की प्रतिष्ठा का प्रश्न था।

निक्सन ने बेचैन होते हुए कहा, "जल्दी बताओ हेनरी ! क्या किया जाये !"

कीसिंगर : "सूझ गया। मिस्टर प्रेसिडेण्ट ! मैंने रास्ता निकाल लिया। हम यह चापस्टिक अपने साथ अमेरिका ले जायेंगे।"

निक्सन : "लेकिन यदि महामहिम चाउ ने पूछा कि आप इसे अमेरिका क्यों ले जा रहे हैं तो हम उन्हें क्या उत्तर देंगे।"

कीसिंगर : "हम उनसे कहेंगे कि हम चापस्टिक का आयात करना चाहते हैं। चापस्टिक के आयात पर सीमाशुल्क माफ़ कर दिया जायेगा।"

निक्सन : "मगर इससे जापान के साथ हमारे रिश्तों पर प्रभाव पड़ेगा। अब तक हम एशियाई देशों में केवल जापान का माल बड़े पैमाने पर आयात कर रहे हैं। जापानी यह कभी बर्दाश्त नहीं करेंगे कि अमेरिकी उनके बैटरी टेपरेकार्डरों और ट्रांजिस्टरों की उपेक्षा कर, चीनी चापस्टिक आयात करें।"

कीसिंगर : "तब मेरे पास एक दूसरा हल है। रूस के प्रति अपनी सद्भावना के प्रतीक के रूप में हम यह चापस्टिक कामरेड ब्रेज़नेव को भेज देंगे।"

निक्सन : "मगर इस पर माओ को आपत्ति होगी। वह यह नहीं चाहेंगे कि चीन की बनी कोई चीज़ 'सामाजिक साम्राज्यवादियों' के देश में जाये !"

कीसिंगर : "तब तीसरा उपाय यह है कि हम इस चापस्टिक के सैकड़ों टुकड़े कर अपने राजदूतों के जरिये सभी देशों में भेजें।"

निक्सन : "इसमें क्या तुक है ?"

कीसिंगर : "बहुत बड़ा तुक है। चीन यात्रा के पहले आपने कहा था, चीन यात्रा का महत्त्व चन्द्र यात्रा से भी अधिक है। आपको याद होगा, मिस्टर प्रेसिडेण्ट ! नील आर्मस्ट्रांग चन्द्रमा से जो पत्थर लाये थे उसके टुकड़े हमने संसार के सभी देशों को उपहार में भेजे थे। आपकी यात्रा के बाद चापस्टिक के टुकड़े संसार भर में क्यों न भेजे जायें ?"

श्रीमती निक्सन : "हेनरी ठीक कहता है, डिक ! हमारे पास इसके सिवा कोई रास्ता नहीं। बुरा हो स्टेट डिपार्टमेण्ट का जिसके पास हर विषय के विशेषज्ञ हैं, चापस्टिक विशेषज्ञ नहीं। डिक ! भविष्य में हमें 'बदलते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में चीनी चापस्टिक के इस्तेमाल की उपयोगिता और खतरे' विषय पर अनुसंधान के लिए कोई फेलोशिप क़ायम करनी चाहिए।"

निक्सन : "तुम चुप रहो, हनी। मामला संगीन हो चुका है।"

कीसिंगर : "तब फिर मिस्टर प्रेसिडेण्ट ! मेरे पास एक अचूक हल है। यदि यह भी आपको नहीं जँचा तो मैं मानूँगा कि मैं अमेरिका के राष्ट्रपति की सेवा के

क़ाबिल नहीं और वाशिंगटन लौटते ही अपना इस्तीफ़ा पेश कर दूंगा। सुनिए। हम यह चापस्टिक वाशिंगटन लिये चलते हैं। अगले वर्ष के बजट में दो बिलियन डॉलर की लागत से हम वाशिंगटन या लास एंजेलेस या सिएटल में एक विशाल भवन का निर्माण करेंगे।"

निक्सन : "क्यों ?"

कीसिंगर : "क्यों नहीं। वुडरो विल्सन की स्मृति में वुडरो विल्सन सेण्टर बना, जॉन केनेडी की स्मृति में केनेडी पर्फामिंस सेण्टर बनाया गया। और तो और प्रेसिडेण्ट जानसन ने भी, जो कि अभी जीवित ही हैं, अपना स्मारक बनवा डाला है। आपकी स्मृति में अमेरिका की जनता को सबसे आलीशान स्मारक बनवाने में कोई संकोच नहीं होगा। ज़रा कल्पना कीजिए—दो बिलियन डॉलर !"

अपने स्मारक के ख्याल से राष्ट्रपति निक्सन को जो खुशी हुई वह उनके चेहरे पर झलकने लगी थी। फिर भी अपनी ख़ुशी को दबाते हुए उन्होंने कहा, "मगर हेनरी ! हम इस भवन में रखेंगे क्या ? भवन में कौन-सी चीज़ मेरा स्मारक होगी ?"

कीसिंगर : "यही तो मिस्टर प्रेसिडेण्ट ! यही तो ! चापस्टिक आपका स्मारक होगी। आइए उठें। महामहिम के आने का वक़्त हो गया है।"

निक्सन : "हाय हेनरी ! यू डिड इट।"

(टिप्पणी : इस सारी बातचीत का टेपांकन जिस संवाददाता से स्तम्भकार को प्राप्त हुआ उसका नाम एण्डरसन नहीं है)।

नंगा नाच

नयी दिल्ली के एक पब्लिक स्कूल में प्रार्थना के समय कहा गया, 'जो लड़के मुसलमान हों वो हाथ उठायें।' मुसलमान लड़के थोड़ा सहमे। उनसे क्या गुनाह हो गया जो उनसे ही हाथ उठाने को कहा जा रहा है। खैर उन्होंने हाथ उठाया। आदेश हुआ—'आज ईद है तुम लोगों की छुट्टी, तुम लोग अपने-अपने घर जाओ बाकी लड़के क्लास में जायें।' जिस बच्चे ने यह खबर इस स्तम्भकार को दी उसने यह भी कहा, 'सर होली-दीवाली में तो हमारी छुट्टी उन्हें मिलती है, ईद की उनकी छुट्टी हमें क्यों नहीं मिलती ?' उस बच्चे की चिन्ता छुट्टी तक ही थी पर इस स्तम्भकार की चिन्ता उस जेहनियत की थी जो इसके पीछे काम करती है। एक ओर तो कहते हैं हिन्दू-मुसलमान एक हैं दूसरी ओर छुट्टियों तक का बँटवारा करते

हैं। कोई काम ऐसा नहीं जहाँ आप दोनों को बाँटकर न रखते हों। यह स्तम्भकार सोच रहा था यह एक बड़ा स्कूल है। इस स्कूल के लड़के सम्भ्रान्त घरों के लड़के हैं और नौकरशाही के ऊँचे-ऊँचे पदों पर जाकर बैठते हैं। यह हिन्दू-मुसलमान के बँटवारेवाला दिमाग़ यदि इसी तरह इनका बचपन से ही तैयार किया जाता रहा तो आगे चलकर यह प्रशासन भी इसी दिमाग से करेंगे, बराबरी का भाव नहीं ला पायेंगे। थोड़े से लड़कों का इस तरह छुट्टी पाकर चले जाना यह तो दूसरों पर साबित कर ही गया कि वे अल्पमत हैं हम बहुमत हैं। उनका त्योहार उनका, हमारा त्योहार हमारा। और खुलेआम उन्होंने यह भी जान लिया कि स्कूल में उनकी संख्या कितनी कम है। मुसलमान बच्चों का कहना था—हाथ न उठवाते यूं ही छुट्टी कर देते। इतने सारों में उनके थोड़े से उठे हाथ देखकर उन्हें डर लगता था। एक अजीब तरह का डर। यह स्तम्भकार सोचता रहा कि क्या स्कूलवालों का उद्देश्य इस हरकत से एक अव्यक्त डर पैदा करना ही था ? अन्यथा इस तरह हाथ उठवाकर छुट्टी करने का मतलब क्या था ? यह संकीर्णमन का नंगा नाच है। यदि स्कूल मुसलमानों का होता और वह हिन्दू छात्रों के साथ ऐसा सलूक करते तो भी यही कहा जाता। विद्यार्थियों में यह हिन्दू-मुसलमान के अलग-अलग होने का भाव पैदा ही नहीं किया जाना चाहिए। उन्हें तो बचाओ। उनके इस तरह हिस्से मत करो। उनकी छुट्टियां एक करो। संकीर्णता के इस नंगे नाच के बारे में यह स्तम्भकार सोच ही रहा था कि इसने सोचा इस पर शर्माजी की राय ली जाये कई दिनों से उनसे बात नहीं हुई थी।

वह शर्माजी के घर पहुँचा। देखा, एक रिकार्ड लगा हुआ है और शर्माजी अपने कमरे में अकेले नंगे नाच रहे हैं। यह लौट ही रहा था कि उन्होंने आवाज देकर रोक लिया और बोले, "बहुत अच्छा संगीत है, अबा का 'लेटेस्ट हिट'। यह वही रेकार्ड है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय के सेण्ट स्टीफेंस कॉलेज का एक लड़का लाया था। और जिसे बजाकर लड़कियों के मिराण्डा कॉलेज के सामने तमाम लड़के नंगे नाच रहे थे। और लड़कियाँ ऊपर छज्जे पर खड़ी देख रही थीं।"

इस स्तम्भकार को अखबार की यह खबर याद आयी और यह भी कि इस उत्पात को शान्त करने के बाद में पुलिस आयी थी और लड़कियों ने पुलिस हस्तक्षेप पर पुलिस के विरोध में नारे लगाये थे।

"कुछ मज़ा आ रहा है आपको ?"

"हाँ, संगीत बहुत मस्ती वाला है।"

"इसे बजाकर आप मिराण्डा कॉलेज की लड़कियों के हास्टेल के सामने नाच सकते हैं ?"

"मैं क्यों नाचूं ? मैं कोई छात्र हूँ। उनका अपना समाज है हमारा अपना। मैं आपके सामने नाच सकता हूँ। मैं यही देख रहा था कि नंगे होकर नाचने में क्या

संगीत का मज़ा ज्यादा हो जाता है ?"

"हो जाता है ?"

"हाँ, अपने को मुक्त करने की इच्छा होती है। लेकिन उसके लिए कपड़े उतार डालने ज़रूरी हों ऐसा नहीं लगता ?"

शर्माजी शीलभद्र हो गये थे। कपड़े पहन रहे थे। संगीत बन्द हो गया और बातचीत के मूड में आ गये। बोले—

"अपने घर में कुछ भी करना अनैतिक नहीं है। सुना है लड़के हास्टेल में नंगे घूमते हैं। चलिए वह भी ठीक है, लेकिन जब आप सड़क पर आयेंगे तो सड़क का नियम चलेगा। दरअसल बात यह कि यह सब पश्चिम की नकल है। अखबारों में यही सब छपता है। बच्चे वही सब पढ़कर यह सब करते हैं। तुम्हें सेण्ट स्टीफेंस के कुछ लड़कों के इस नंगे नाच का पूरा किस्सा नहीं मालूम। सुनते हैं यह अबा का रेकार्ड एक लड़का कहीं से लाया था। लड़के उसे सुनना चाहते थे। उसने कहा, वह इस शर्त पर सुना सकता है कि सब लोग इस पर कपड़े उतारकर नाचें, वह भी मिराण्डा कॉलेज की लड़कियों के हास्टेल के सामने। शर्त लग गयी और लोग पुलिस के आने तक नाच भी आये।"

"कुछ लिबरेट (मुक्त) हुए ?"

"अरे ! यह जनून था। यदि मुक्त हो गये होते तो लड़कियाँ छज्जे पर खड़ी देखती न रहतीं वह भी शामिल हो जातीं। पुलिस के खिलाफ नारे लगाना कौन-सी मुक्ति है ? इनका दिमाग अंग्रेज़ी की युवा पत्रिकाएँ खराब कर रही हैं। अभी एक पत्रिका में खबर छपी थी कि अमेरिका के ओक्लाहोमा विश्वविद्यालय परिसर में वसन्तागम मनाया गया। लड़कों ने ऐलान कर दिया कि वह नंगे घूमेंगे। हजारों की भीड़ लग गयी। बड़ी चहल-पहल हो गयी। कोई सौ-एक पुलिस के आदमी भी ड्यूटी पर तैनात हो गये। अमेरिका में भी और देशों की तरह नंगे घूमना दण्डनीय अपराध है। लेकिन लड़के भीड़ में कपड़े उतारकर नाच भी लिये और पुलिस के उन तक पहुँचते-पहुँचते रफू-चक्कर भी हो गये। यही सब बच्चे पढ़ते हैं और अनुकरण करते हैं। अपने समाज में तो एक पूरा सम्प्रदाय ही नंगा रहता है, घूमता है। समाज में उसे स्वीकृति है क्योंकि वह देह से परे हैं। यहाँ कोई बड़ी खोज नहीं है। बस नकल है। यदि विद्यार्थी नंगे होकर इस माँग को लेकर जलूस निकालें कि देश के आधे से अधिक नंगे रहने के लिए अभिशप्त गरीबों को कपड़े दिये जायें तो इस नंगेपन को बड़ा अर्थ मिलेगा। पर इस तरह का नंगा नाच तो अहं और दम्भ का ही नंगा नाच है। व्यवस्था का विरोध इसमें नहीं है। क्योंकि विद्यार्थियों का यह वर्ग, है तो खाते-पीते उच्चवर्ग का ही, जिसका सपना भी ऊँची-ऊँची नौकरियाँ ही हैं। ये बच्चे क्रान्तिकारी बनने का ख्वाब नहीं देखते बल्कि क्रान्तिकारी ताकतों को कुचलनेवाले एक बड़े कुचक्र का अंग बनाने के लिए तैयार किये जा रहे हैं।

इसलिए इनका नंगा नाच विरोध या प्रतिमाभंजन के लिए नहीं है वह केवल जनून और मनोरंजन के लिए है जो अन्ततः न खुद को लिबरेट (मुक्त) करता है न दूसरों को। बल्कि सामाजिक, आर्थिक समस्याओं से अपने को असंवेदनशील कर एक व्यापक षड्यन्त्र का शिकार हो जाता है। यह दुर्भाग्य की बात है।"

डण्डे से बचो

यह स्तम्भकार पिछले दिनों एक बहुत लम्बी क्यू में खड़ा था। खिड़की पर बैठा क्लर्क जितनी आरामतलबी से हो सकता था, हँसता-बोलता चाय सिगरेट पीता, बीच-बीच में अपने साथियों पर फिकरे कसता-सुनता, काम कर रहा था। गर्मी में उस लम्बी क्यू से सब परेशान थे। कुछ लोग धांधली करने की कोशिश में थे। ऐसे में दूसरों की असुविधा का ख्याल न करके अपनी सुविधा का रास्ता निकाल ले जाने को ही लोग अपनी बहुत बड़ी उपलब्धि मानते हैं। अन्त में एक आदमी से रहा नहीं गया उसने टिप्पणी जड़ी—"यह देश बिना डण्डे के ठीक नहीं हो सकता। और डण्डा इन्दिरा गाँधी के पास है। वह आयेगी सब ठीक कर देगी।" उस लम्बी क्यू में किसी ने इसका प्रतिवाद नहीं किया। सबने खामोशी से जैसे अपनी सहमति व्यक्त की। लेकिन शर्माजी से नहीं रहा गया। वह बोले—"और वह डण्डा आपके सिर को छोड़ सबके सिर पर पड़ेगा। आपका सिर सलामत रहेगा ?"

"नहीं, मैं कब कहता हूँ कि मेरे सिर पर न पड़े। मैं गड़बड़ी करूँ तो मेरे सिर पर भी पड़े।" टिप्पणीकार ने पलटकर शर्माजी को जवाब दिया।

"ऐसा नहीं होता जब डण्डा चलता है तो बहुत-से ऐसे सिरों पर भी पड़ता है जिन पर नहीं पड़ना चाहिए था ··"

यह स्तम्भकार बात न बढ़ जाये इसलिए शर्माजी को क्यू में से खींच लाया। बोला—"बात तो ठीक ही कह रहा था कि यह देश डण्डे से ही ठीक होगा।"

"जी, नहीं, इस देश को बिना डण्डे के ठीक होना पड़ेगा। डण्डे से ठीक करने की बात कहने वाले अभी जानते नहीं कि डण्डा क्या होता है ? कभी तानाशाही देखी नहीं उन्होंने।" शर्माजी बोले।

"लेकिन यह तो सोचिए, लोग कितने तंग आ गये हैं। अपने को कितना असुरक्षित अनुभव कर रहे हैं, लूट-पाट, छीना-झपटी, चोरी-डकैती, गुण्डागर्दी, कामचोरी बढ़ती जा रही है। इतनी अराजकता है जैसे कोई शासन है ही नहीं। न्याय व्यवस्था खत्म हो गयी है···"

"जी हाँ, जानता हूँ। जितना आप कह रहे हैं इससे ज्यादा भोगता भी हूँ, महसूस भी करता हूँ पर इसका जवाब डण्डा नहीं है। आदमी को इस लायक बनाना है जिससे वह बात से मान जाये लात खाने की जरूरत न पड़े। लेकिन डण्डा चलानेवाली ताक़त उसे बात से मानने के लिए तैयार करना ज़रूरी नहीं समझती, वह डण्डा खाने लायक ही उसे बने रहने देना चाहती है। अन्यथा उसके डण्डे का क्या होगा?"

"लेकिन आम आदमी···।"

"आम आदमी को यह बात समझनी होगी। लेकिन प्रचार इसका उलटा किया जा रहा है। 'देश को डण्डे की ज़रूरत है' यह उसकी जबान पर चढ़ाया जा रहा है। तानाशाही इस तरह का सूक्ष्म प्रचार करने की चतुराई बख़ूबी जानती है। यदि ऐसा न होता तो वह आदमी उसके बाद यह न कहता कि 'यह डण्डा इन्दिरा गाँधी के पास है। वह आयेगी तब सब ठीक हो जायेगा।' यह प्रचार है। आम आदमी के लहजे में 'डण्डा' सख्ती का पर्याय है। लेकिन वह आदमी उस फिकरे में इन्दिरा गाँधी जोड़कर उसे तानाशाही का पर्याय बना रहा था और उसकी ज़रूरत रेखांकित कर रहा था। 'देश को डण्डे की ज़रूरत है' यदि इसका मतलब है—देश को सख्त प्रशासन की ज़रूरत है, तो इससे कौन इनकार करता है। यह सख्त यानी कुशल प्रशासन लोकतन्त्र में भी होता है। न्याय और व्यवस्था लोकतन्त्र में भी होती है। उसकी रक्षा बल्कि सही रक्षा लोकतन्त्र में ही होती है। लेकिन चुनाव आ रहे हैं। तो फैलाया यह जा रहा है कि लोकतन्त्र असफल हो गया, न्याय व्यवस्था की रक्षा नहीं कर पाया अब तानाशाही ही उसकी रक्षा कर सकती है। लोकतन्त्र असफल नहीं हुआ है उसके चलानेवाले असफल हुए हैं। नये कर्णधार चाहिए। तानाशाही नहीं चाहिए?"

"क्या यह ज़ाहिर नहीं है कि इन्दिरा गाँधी के प्रशासन काल में न्याय और व्यवस्था आज से बेहतर थी?"

"जी नहीं, ऐसी ही थी। बेहतर इसलिए आपको लगती है कि यह बेहतर है इसका उन दिनों प्रचार किया जा रहा था। अब अखबारों पर अँकुश नहीं है बदतरी की हालत रोज़मर्रा छप रही है तब नहीं छप सकती थी। हालत ऐसी ही तब भी थी।"

"यह आप गलत कह रहे हैं। उन दिनों व्यवस्था इतनी गिरी नहीं थी।"

"इससे ज्यादा गिरी थी। आपको पता नहीं लगता था। डण्डे का शासन था। कानून ताक पर था। पुलिस जो करे वही कानून। पुलिस कितना घूस ले रही थी यह आप जानते हैं? आज यदि अराजक तत्त्वों की लूटमार है तो उन दिनों पुलिस की लूटमार थी। डण्डा जब भ्रष्टाचारी हो तो उसे पकड़ पाना मुश्किल होता है। आज यदि सड़क पर जंजीर छीन ली जाती है तो उन दिनों घर में चुपचाप

गिरफ्तारी करने की धमकी पर तिजोरी खुलवा ली जाती थी। जंजीर छीनने की खबर आज अखबारों में आ जाती है लेकिन उन दिनों बक्सा-तिजोरी खुलवाने की खबर अखबारों में नहीं आती थी। इसलिए लगता है तानाशाही के वे दिन बेहतर थे, आज के दिन बदतर हैं। यह मानकर चलिए कि तानाशाही का डण्डा जनता के लिए नहीं चलता अपने लिए चलता है। इसलिए डण्डा लाने की कोशिश न कीजिए। यदि उसे ले आये तो आपके लिए वह नहीं चलेगा। चलानेवाला उसे अपने लिये चलायेगा। डण्डे से बचो भाई।"

गन्दगी, शोर और पाखण्ड

सड़क पर दो आदमी खड़े बहस कर रहे थे। मुद्दा भजन और देवी को लेकर था। एक कह रहा था—"भजन न हो तो देवी का मतलब क्या है?"

दूसरा कह रहा था—"देवी न हो तो भजन का मजा ही किरकिरा है। आखिर देवी के सामने ही भजन किया जाता है। देवी के लिए ही भजन बना है। देवी की शोभा भजन से ही है।"

"शोभा होने से कोई चीज़ मुख्य वस्तु से बड़ी हो जायेगी। वह देवी ही है जिससे भजन का अस्तित्व है।"

बहस आगे चल रही थी। स्तम्भकार को बीच सड़क पर दो आदमियों की बहस में टाँग अड़ाना अच्छा नहीं लगा। शर्माजी की ओर यह सोचता हुआ चल पड़ा कि देश कितने पवित्र माहौल में है कि हर मुख पर भजन और देवी की चर्चा है। शर्माजी के कमरे का दरवाजा बन्द था। जब खुला तो देखा शर्माजी रामनामी ओढ़े, ललाट पर तिलक लगाये, रुद्राक्ष की माला पहने, कान में अगरबत्तियाँ ठूँसे खड़े हैं। इस हालत में देखकर लगा लौट चलें। अब इनका दिमाग पूरी तरह फिर गया है। अभी तक उल्टी बातें ही कहते थे। अब उल्टी हरकतों पर उतर आये हैं। लौटने लगा तो आवाज़ आयी—"जाते कहाँ हो हज़रत। अभी खाली हुआ जाता हूँ।"

ध्यान से देखा तो कोने में बैठा एक चित्रकार इस धज में उनकी छवि आँक रहा था। हैरत में पड़ा देख बोले—"भारत माता का चित्र देखा है? यह भारत-पिता का चित्र है। मैं उसके इस रूप का प्रचार चाहता हूँ, क्योंकि मैं इस नतीजे पर पहुँच गया हूँ कि भारत यही है जैसा मैं दीख रहा हूँ।"

स्तम्भकार ने गौर से देखा, हिचकते हुए पूछा—"इतना बड़ा मुँह क्यों बाये

हैं ?"

"सब कुछ पेट में समो लेने के लिए। तुम्हारे कृष्ण भगवान ने भी मुँह खोल-कर विराट रूप दिखा दिया था। तुम भी देखो दीखता है कुछ ?"

"कुछ नहीं।"

"गौर से देखो गन्दगी भरी है गन्दगी—झूठ, गाली, डींग सब भरा है इसमें। मैं चाहूँ तो तुम्हें हजार गालियाँ देकर कह सकता हूँ कि मेरी राजनीति संसार में सबसे शुद्ध पवित्र राजनीति है और मैं हरयाणा ही नहीं, इस देश को परसों ही अमेरिका और रूस से कहीं ज्यादा विकसित देश बना दूँगा।"

"और यह कान में अगरबत्तियाँ ?"

"यह अगरबत्तियाँ नहीं, लाउडस्पीकर हैं। मेरी अन्तरात्मा का शोर इससे निकल रहा है। सुनायी नहीं देता। मेरी अन्तरात्मा कह रही है कि जो कुछ मैंने किया है, जो कुछ मैं करता हूँ, जो कुछ मैं करूँगा सब भलाई के लिए है। चाहे मैं तुम्हें गोलियों से भून डालूँ। चाहे तपासे की तरह तुम्हें मुख्यमन्त्री बना दूँ, चाहे तुम्हें अपने समर्थन के लिए कमरे में बन्द रखूँ, खरीदने के लिए लाखों रुपये दूँ, चाहे मार-मारकर भुरता बना दूँ। चिल्ला-चिल्लाकर मेरी अन्तरात्मा कह रही है, मैं ठीक कर रहा हूँ।"

"और यह रामनामी, रुद्राक्ष, तिलक ?"

"यह तो मेरा साधूरूप है। हर छल, हर ढोंग, हर पाखण्ड-कपट इससे दोषमुक्त हो जाता है। मैं चाहूँ तो अभी तुम्हें गोली मारकर कह दूँ यह मुठभेड़ में मारा गया। मैं सारी धाँधली करके किसी चुनाव में तुम्हें विधायक बना दूँ और कह दूँ निष्पक्ष निर्वाचन हुआ है। मैं चाहूँ तो कुछ भी कहूँ और तुरन्त घोषित कर दूँ यह आदमी मेरी बात गलत सुन रहा है, गैरजिम्मेदार अखबारवाला है और तुम्हें नौकरी से निकलवाकर अन्दर करा दूँ। गन्दगी, शोर और पाखण्ड इसी का नाम भारत है। मैं भारत की यह छवि साफ-साफ छपवाकर सबके हाथों में दे देना चाहता हूँ। ताकि इसी भारत की लोग पूजा करें, भक्ति करें और इसी के लिए भगतसिंह, आजाद जैसे क्रान्तिकारियों की तरह अपने को उत्सर्ग कर दें।"

स्तम्भकार की समझ में काफी कुछ आ गया। बोला—"आप बहुत नाराज़ लग रहे हैं हरयाणा की घटना से ?"

"यह तो बहुत बड़े पैमाने पर चारों तरफ जो घट रहा है उसका छोटा-सा हिस्सा है। जब धूल भरी आँधी चल रही हो तो धूल का जो कण आँख में पड़ जाता है वही करकता है, वही दुखाता है और अपने यहाँ तो ज़हर की आँधी चल रही है। एक-एक साँस भारी हो रही है।"

"आप भावुक हैं।"

"इसी जुमले की मैं तुमसे उम्मीद कर रहा था। यह इस युग का जुमला है जो

सत्य, नाराजगी, दुख को नकारने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हँसते रहो, अपना स्वार्थ साधते रहो तो विवेकशील हो, नाराज होओ, दुख करो, सच कहो तो भावुक हो ! अपने देश में आप जैसे विवेकशील बहुत हैं जो बड़ी-से-बड़ी घिनौनी बात पर भी कुछ नहीं करते, खुश रहते हैं और चहबच्चे में पैर रखकर निकल जाने पर इतराते हैं। मैं भावुक आदमी हूँ ! अभी तक धार्मिक अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड, रूढ़ियों की गन्दगी से, ईश्वर, भाग्य, साधुओं, अखाड़ों, मन्दिरों, कीर्तनों के शोर से, पैसेवालों की दया, परोपकार, दान-दक्षिणा के ढोंग से परेशान था। अब आज की राजनीति की गन्दगी, शोर और पाखण्ड से उकता गया हूँ। इसीलिए यह छवि भारत की आप सबके जेहन पर उकेर देने के लिए आतुर हूँ। यह जानते हुए भी कि यह जानकर आप चुप रहेंगे कुछ करेंगे नहीं। जैसे इस समय हरयाणा, हिमाचल प्रदेश में जो कुछ हो रहा है। उसे देखकर विवेकशील बने हुए हैं। लेकिन आशा तो है ही कि विवेक का रूप बदलेगा और कभी वह सामूहिक संगठित कर्म से जुड़ेगा। रुक जाओ, जाते कहाँ हो, अब छवि पूरी हो गयी है। लेते जाओ।"

पर स्तम्भकार उन्हें अलविदा कहकर चला आया।

नीली चोटियों के बीच

राष्ट्रपति निक्सन की पदधूलि पीकिंग में पड़ी नहीं कि दुनिया का यह प्राचीनतम नगर बीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर गया। सोवियत ढंग की ऊँची-ऊँची दफ्तरी इमारतें जो पुराने मन्दिरों के बीच खड़ी हैं, अमेरिकी आँखों को एक अजूबा-सी दिखायी देने लगीं। पीकिंग की साफ-सुथरी चमकदार सड़कों पर मोटरों और बसों के साथ बैलगाड़ियाँ और रेड़े देखकर बीसवीं शताब्दीवालों को कुछ आश्चर्य हुआ। पत्रकार डान बेकन ने लिखा है कि पीकिंग की हवा में ताजगी है। यद्यपि कभी-कभी छोटे-छोटे कारखानों की चिमनियों का धुँआ बहुत नीचाई पर बहता हुआ निकल जाता है। उन्होंने इतालवी यात्री मार्को पोलो की याद की जिसने तेरहवीं शताब्दी में पीकिंग की विकसित सभ्यता का गुणगान किया था। उस समय मार्को पोलो ने लिखा था कि "यहाँ शहरी जिन्दगी की चहल-पहल है। सौदागर और विदेशी व्यापारियों का आना-जाना है। कोई बीस हजार वेश्याएँ इन विदेशी सौदागरों का मन बहलाती हैं।" माओ त्से दुंग की छत्रछाया में वेश्यावृत्ति समाप्त हो गयी है। पश्चिम और जापान को ध्यान में रखकर यदि शहर पीकिंग को देखें

तो फीका दिखायी देता है। लेकिन वहाँ बेहद सफाई है और यह अपराधरहित शहर है। यहाँ पुलिस जो रात में गश्त लगाती है कोई हथियार नहीं रखती। दुकानदार अपनी दुकानें अक्सर बिना ताला लगाये छोड़कर चले जाते हैं क्योंकि चोरी का वहाँ कोई डर नहीं है। पीकिंग में शानदार रेस्तराँ पाये जाते हैं और औसत चीनी पैसा बचाकर कभी-कभी इन रेस्तराँ में अच्छे खाने के लिए जाता है। शहर में 25 रंगशालाएँ हैं जहाँ नाटक होते हैं और इससे कहीं अधिक सिनेमाघर हैं। शहर के बीचों-बीच में राजप्रासाद है जिसे वर्जित नगर माना जाता है और जो 35 फुट ऊँची दीवार से घिरा हुआ है। यहीं पर चीन के भाग्यविधाता माओ त्से दुंग का निवास है। इसी राजप्रासाद के दक्षिणी दरवाजे के सामने विशाल खुला मैदान है जहाँ परेड, जुलूस और सभाएँ होती हैं। इस विशाल मैदान को तेनानमेन का चौराहा कहते हैं। जिसमें 'स्वर्गीय, शान्ति का द्वार' सुशोभित है—प्रसिद्ध आधुनिक चीनी प्रतीक जो पर्दे की तरह इस्तेमाल होता है क्योंकि विशेष समारोहों में इसके पीछे से ही चीन के महान नेता जनता के सामने प्रकट होते हैं। इसी चौराहे से लगी हुई 'विशाल जनकक्ष' नाम की इमारत है जिसमें निक्सन और चाउ की बातचीत हुई।

चीन सरकार ने अमेरिकी तथा अन्य पत्रकारों से बातचीत के लिए स्कूलों में अंग्रेजी पढ़ानेवाले चीनी दुभाषिये नियुक्त किये थे। अमेरिकी पत्रकारों को यह काफी आश्चर्यजनक लगा कि उनके सीधे-सादे सवालों का भी उत्तर चीनी प्रतिनिधि या तो बहुत गम्भीरता से देते हैं या फिर उन पर मौन साध लेते हैं। एक स्त्री अधिकारी से जब एक पत्रकार ने यह पूछा—"लगता है आप अपनी यात्रा में काफी थक गयी हैं फिर भी आप काम किये जा रही हैं?" तो उसने चुप रहना ही बेहतर समझा। अपनी दफ्तरी कार्रवाई में भी ये दुभाषिये बहुत सख्त हैं। यहाँ तक कि दिन-भर की दौड़-धूप के बाद रात में ग्यारह बजे बिस्तरे में थककर गिरने से पूर्व ये पत्रकारों से एक निश्चित फार्म जो उन्हें भरना चाहिए, भरवाकर ही दम लेते हैं।

अमेरिकी पत्रकारों को चीनी खाने की तारीफ करने के लिए शब्द नहीं मिल रहे। दावतों की बिअर, अंगूर की शराब, वोडका की तरह तीखी माओ ताई शराब उनके मन में बस गयी है। चाउ ने निक्सन को जो औपचारिक भोज दिया उसमें 30 प्रकार के खाद्य पदार्थ थे। शार्क मछली से लेकर माप और नारियल में पकी चिकन, पीकिंग की बत्तख से लेकर बाँस की सब्जी तक और नायाब अण्डे। लेकिन हाँ बेचारे अमेरिकियों को खाने की मेज पर चम्मच और काँटे बड़ी मुश्किल से मिले। उन्हें अण्डे तक खाने के लिए बाँस की खपचियाँ दी गयीं। जिससे किसी भी

चीनी को बड़ी तेजी से चावल तक खाते हुए देखा जा सकता है और उसकी यह करामात आपको आठवें आश्चर्यलोक में पहुँचा देती है। खाने में भी वही फुर्ती जो पिंगपांग में। यह फुर्ती चीनी चरित्र की विशेषता है जिसके सामने काँटे, चम्मच और छुरी अपनी धीमी गति के कारण कुछ हल्के पड़ जाते हैं।

और यह एक स्कूल है। 'पीकिंग माध्यमिक विद्यालय नं. 26।' अंग्रेजी की कक्षा है। छात्रों के सामने एक किताब खुली हुई है पाठ का शीर्षक है—'अध्यक्ष माओ दीर्घजीवी हों' शिक्षिका दुबली-पतली, चश्मा लगाये, डच शैली के बाल रखे, 14 से 16 वर्ष की आयु के छात्रों को एक-एक पंक्ति पढ़ा रही है :

अध्यक्ष माओ तुम हमारे दिलों में लाल सूर्य हो हम सब सूरजमुखी हैं
सूरजमुखी हमेशा लाल सूर्य की ओर ही देखती है
हम रात-दिन तुम्हारे बारे में सोचते हैं
हम तुम्हारे दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

इसके बाद शिक्षिका ब्लैकबोर्ड पर पड़ा पर्दा खींचती है और माओ त्से दुंग की एक विशाल तस्वीर दिखायी देने लगती है। वह पूछती है कि "तुम किसे देख रहे हो?" और सारी कक्षा एक स्वर में गाती है "हमारे प्यारे नेता अध्यक्ष माओ"। किसी भी कक्षा में जाइए। रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, कला, छोटे कारखानों की कक्षा में माओ त्से दुंग का चित्र हर जगह मिलेगा। हर प्रश्न माओ के विचार से पूरा होता है और हर उत्तर माओ के विचार से ही दिया जाता है, दुभाषियों से कोई भी कापी उठाकर पढ़वा लीजिए। कसी हुई चोटियाँ किये छात्राएँ अपनी डेस्क पर अपने हाथ अपनी गोद में बाँधे बैठी हुई दीखती हैं। हर स्कूल में एक कारखाना विभाग भी होता है। "ग्रेजुएट हो जाने के बाद तुम क्या करोगी?" जब एक पत्रकार ने यह प्रश्न एक लड़की से पूछा जो एक ग्लास के बक्से में अपना हाथ डाले हुए, ताकि धूल से बचत हो, ट्रांजिस्टर के पुर्जे बहुत बारीक तारों से जोड़ रही थी तो उसने बेहिचक जवाब दिया, "जो जनता के लिए लाभदायक होगा और जो पार्टी मुझसे करने को कहेगी।" यह रटा-रटाया उत्तर बेहिचक हर एक से मिलता था। स्कूल के निदेशक क्रान्तिकारी समिति के अध्यक्ष, जिनकी उम्र 42 वर्ष की है, का भी यही मत है। "शिक्षा का उद्देश्य सर्वहारा की राजनीति के लिए अर्पित होना है। और उसे उत्पादनशील श्रम से जोड़ना है।" अतिथि पत्रकारों को देखकर स्कूलों में छात्र खड़े होकर तालियाँ बजाने लगते थे और फिर तुरन्त ही इस तरह अपनी कक्षाओं में चले जाते थे जैसे कोई बिजली का बटन दबा दिया गया हो। स्कूल के नियमों का यह कसाव स्कूल के छात्र गर्व से झेलते हैं। उनके चेहरों पर आक्रोश और व्यथा की लकीरें नहीं दिखायी देतीं।

एक भोज में एक पत्रकार के यह पूछने पर कि चीन के उपाध्यक्ष लिन पिआओ का क्या हुआ ? बहुत ही विनम्र उत्तर मिला—"लीजिए यह स्पाईनेक चखिए।"

ऊपर से देखने पर पीकिंग शहर बेहद साफ-सुथरा है। उसकी सफाई उल्लेखनीय है। एक कागज का टुकड़ा या दियासलाई की एक तीली भी सड़क पर नहीं दिखायी देती। आदमी और औरतें निरन्तर सड़कों को बुहारते और साफ करते रहते हैं। लोगबाग ठीक-से कपड़े पहने हुए मिलते हैं। यद्यपि उनकी एक-सी पोशाक और एक-सा नीला रंग आँखों में चकाचौंध पैदा करता है और सबसे उल्लेखनीय बात है साइकिल, बहुत कम मोटरगाड़ियाँ सड़कों पर दीखती हैं। ज्यादातर लोग, बल्कि लगभग सभी लोग, साइकिल पर सवार दीखते हैं जैसे कि हर एक के पास साइकिल हो। नीले वस्त्रधारी साइकिल सवारों को देखकर मन के सामने चीन का एक ऐसा चित्र उभरता है जिसमें उसका एक पैर गलियों में साइकिल पर है और दूसरा परमाणु युग में।

पुर्ज़े ढल रहे हैं

इन दिनों स्कूलों की परीक्षा के परिणाम घोषित हो रहे हैं। उच्च स्थान पानेवाले छात्रों और छात्राओं की छवि दूरदर्शन पर दिखायी जाती है और उनकी फोटो अखबारों में छापी जाती है। वे सभी अपनी सफलता पर गद्गद होते हैं और इस सवाल का जैसा बन पड़ता है जवाब भी देते हैं कि भविष्य में क्या करेंगे ? शर्माजी उस दिन बैठे अखबार में उनके हँसते चेहरे देख रहे थे और पास बैठे एक परीक्षक से, जिन्होंने इम्तहान की कापियाँ जाँची थीं, पूछ रहे थे।

"आप क्या सोचते हैं, योग्यता के अनुसार सही अंक आपने दिये हैं ?"

"हाँ, मैं तो यही सोचता हूँ।" परीक्षक ने जवाब दिया।

"हर कापी पूरी-पूरी पढ़ी है ?"

"पूरी पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती। थोड़ा पढ़ने पर ही योग्यता के बारे में पता चल जाता है।"

"यह भी पता चल जाता है कि किस प्रश्न पर एक नम्बर ज्यादा दिया जाये किस पर एक नम्बर कम ? फिर दो परीक्षार्थियों के लिए एक ही सवाल को योग्यता के अनुरूप कैसे तोलते हैं कोई वैज्ञानिक तरीका है ?"

"सब आदत पड़ जाती है। यह सब करने की विद्या है। करते-करते आ जाती

है। आप कापियाँ जाँचने बैठेंगे दिक्कत आयेगी। एक-एक कापी में घण्टों लगा देंगे। अधिकतर बच्चों का हस्तलेख खराब होता है। पढ़ पाना मुश्किल होता है। आप अपनी आँखें फोड़ेंगे। इस तरह यदि हम लोग कापियाँ जाँचने लगे तो हो चुका। एक तो हजारों में कापियाँ आ जाती हैं फिर निश्चित अवधि में देनी होती हैं…।"

"एक दिन में कितनी कापियाँ जाँची हैं ?"

"कभी पचास कभी तीन सौ ? समय पर तो काम करना ही पड़ता है।"

"यदि एक कापी के जाँचने में पाँच मिनट भी लगते हों तो तीन सौ कापियाँ जाँचने में पूरे चौबीस घण्टे लग ही जायेंगे ?"

"तीन सौ नहीं सौ समझ लीजिए। झंझट क्यों करते हैं। आठ घण्टे से ज्यादा कापी नहीं जाँची जा सकती। सिर भिन्नाने लगता है। कोई नियम थोड़े ही होता है। कभी मन नहीं हुआ दस कापी जाँची, कभी मन हुआ सौ जँच जाती हैं।" परीक्षक ने कहा।

"फिर तो नम्बर भी मन से चलते होंगे ?"

"वह भी चलते ही हैं। झूठ क्या बोलना ! कोई तराजू तो रहती नहीं। इन्सानी गुण-दोष तो आ ही जाते हैं। पर नीयत हमारी खराब नहीं होती। हम किसी को जानबूझकर फेल नहीं करते।"

"खराब हस्तलेखवाले को भी नहीं ?"

"आमतौर से नहीं।"

"फिर फेल कौन होता है ?"

"जिसकी तकदीर बहुत ही खराब होती है वही फेल होता है।"

शर्माजी ने स्तम्भकार की ओर देखा और सिर हिलाते हुए कहा—

"देखा, आ गया न पकड़ में ? यह सब तकदीर का खेल है ! परीक्षा को तकदीर का खेल बना दिया गया है। तकदीर ही है जिसके कारण दो चार नम्बर कम ज्यादा मिलने पर डिविजन बनता-बिगड़ता है, बच्चा फेल-पास होता है। यह तकदीर ही है जिससे एक की हँसती हुई फोटो छपती है दूसरा मुँह लटकाये घर में बैठा होता है। यह तकदीर ही है जिससे एक कीचड़ फलाँग जाता है दूसरे के पाँव उसमें पड़ जाते हैं दुबारा वही इम्तहान देना होता है। क्या समझे ? और जानते हो यह तकदीर क्या है ? यह तकदीर है घटिया शिक्षा व्यवस्था जिसमें योग्यता की सच्ची परख असम्भव है। जैसे कापी जाँचना इन मास्टर साहब की अपने अनुभव से विकसित की हुई कला है वैसे परीक्षा देना विद्यार्थी की। दरअसल न न्याय है न योग्यता है, बस कला-ही-कला है। सबसे बड़े कलाकार तो शिक्षा व्यवस्था लागू करनेवाले हैं। दसियों विषयों का बोझ विद्यार्थी के सिर पर लाद दिया—किताबें-ही-किताबें दे मारीं, अमेरिका की 'सेम्सटर प्रणाली' ले ली जो वहाँ इसलिए लागू

की गयी थी कि विद्यार्थी राजनीति आदि में भाग न ले सके और व्यवस्था के लिए चुनौती न बने। यानी आग को बस में करने के लिए उस पर बालू डाल दी गयी। अब बच्चू किधर बचकर जाओगे? किताबें ढोओ। स्कूल में पढ़ो, घर पढ़ो और पढ़ो क्या?—वह सब जिसकी जिन्दगी में नौकरी पाने के अलावा और कोई ज़रूरत नहीं। यानी व्यवस्था अपनी शर्त पर पढ़ायेगी, जो चाहेगी सो पढ़ायेगी, अपनी शर्त पर योग्यता जाँचेगी, अपनी शर्त पर जीविका देगी। बेचारे विद्यार्थी की कोई शर्त नहीं। इस समाज में अब किसी की कोई शर्त नहीं रह गयी है। सब शर्तें व्यवस्था की हैं और उसकी शर्तों की चक्की में पिसने के लिए ही विद्यार्थी ढाला जाता है। वह किताबें रटता है, परीक्षा देने की चालाकी सीखता है। परीक्षक मेहनत से मुँह चुराता है। कापियाँ जाँचकर सिर की बला टालता है। अपनी रोजी कमाता है और व्यवस्था विद्यार्थी को एक ढले हुए पुर्जे की तरह जहाँ चाहती है वहाँ लगाती है। कुछ फिट पुर्जे लग जाते हैं बाकी आग में गलने के लिए बेरोजगारी की भट्टी में झोंक दिये जाते हैं। यह है व्यवस्था की कला। किसी भी प्रथम श्रेणी पाये विद्यार्थी से पूछिए कि उसकी सामाजिक दृष्टि क्या है? क्या वह सामाजिक ताकतों को पहचानता है? वह किनसे जुड़ा है? अपने समाज को वह क्या बनाना चाहता है? उसके लिए क्या करना चाहता है? उसके पास कोई जवाब नहीं होगा। इन श्रेणीयाफ्ता छात्रों के जो साक्षात्कार आते हैं उनसे यही पता चलता है कि सब रट्टू तोते हैं और नौकरी करना चाहते हैं। किसी ने भी यह नहीं कहा कि वह कवि, लेखक, अनुसन्धानकर्त्ता, समाजसेवी, क्रान्तिकारी बनेगा। जो बच्चे ये कह सकते हैं वे योग्यता के श्रेणी क्रम में बहुत पीछे होते हैं—गलत पुर्जे, जो बेरोजगारी झेलेंगे।"

"अब बस भी कीजिए।" स्तम्भकार ने हँसकर कहा।

"अब बस नहीं करना है। सारे विद्यार्थी जगत से कहना है कि इस शिक्षा व्यवस्था का बहिष्कार करें।" शर्माजी ने कहा।

"इसके लिए तो उनके अभिभावकों को समझाना होगा। यह एक समूची क्रान्ति का हिस्सा हो सकता है। अलग से तो यह सम्भव नहीं है।"

"हाँ, और उस समूची क्रान्ति की पहल शिक्षा व्यवस्था बदलने से होनी चाहिए। इससे समाज के लेखक, बुद्धिजीवी और सम्भ्रान्त शिक्षित वर्ग को आगे आना चाहिए। लेकिन साथ-साथ यह भी जरूरी है कि विद्यार्थी वर्ग समझे कि उसके साथ कितना बड़ा धोखा किया जा रहा है। यदि यह ठीक से उसकी समझ में आ जाये कि उसे अपंग बनाया जा रहा है तो वह अपने अस्तित्व के एक हिस्से को सुरक्षित रख सकेगा और उसे अपने सही निर्माण में लगायेगा। कम-से-कम इस फरेब को तो समझेगा ही।"

"वह सब समझता है।"

"नहीं समझता, अन्यथा वह उस हीनता का अनुभव न करता जो फेल होने या कम नम्बर आने पर उसे होती है, न उस गौरव का जो अच्छे नम्बर आने पर उसे दिया जाता है। वह नहीं जानता कि उसे एक मरीचिका के पीछे दौड़ाया जा रहा है, उसका असली अभीष्ट कुछ और है उसकी असली जरूरत कहीं और है।"

"फिर क्या करना चाहिए?"

"ऐसे स्कूल खोले जायें, बिना सरकारी मदद के, जहाँ सही शिक्षा दी जाये। दो घण्टे से अधिक न पढ़ाया जाये। छात्रों को समाज को बदलने की ताकत के रूप में तैयार किया जाये, यथास्थिति को बनाये रखने के पुर्जे के रूप में न ढाला जाये। सारे देश में सौ ऐसे स्कूल भी खुल जायें तो हवा बदलने लगेगी।"

स्तम्भकार इसके व्यावहारिक पक्ष पर गौर करने लगा। पाठकगण आप भी करें।

दाढ़ी की राजनीति

हड़ताल की ताल पर सवा दो महीने के जड़ नृत्य के बाद इस स्तम्भकार की समझ में नहीं आता कि क्या लिखे। बाल्टियों में तो वह पानी इकट्ठा नहीं किया जा सकता जो इतने अर्से में देश की राजनीति की नदी में बह गया है। सवा दो महीने बाद शर्माजी भी दिखायी दिये। देखा दाढ़ी बढ़ी हुई है।

"दाढ़ी क्यों बढ़ा ली शर्माजी?"

अकड़कर बोले—"राजनारायण ने क्यों बढ़ा ली थी?"

"आपने भी कोई संकल्प किया था? यदि यह संकल्प किया था कि हड़ताल खत्म होने पर दाढ़ी मुँडवायेंगे तो अब तो हड़ताल खत्म हो गयी, मुँडवा डालिए।"

"अब मैं भी दाढ़ी की राजनीति करूँगा। देश में लगता है सत्य की राजनीति नहीं दाढ़ी की राजनीति फलती है। अब देखिए राजनारायण ने दाढ़ी रखी कि इन्दिरा गाँधी को हराकर मुँडवाऊँगा। इन्दिरा गाँधी को हरा दिया। फिर दाढ़ी रखी कि चरणसिंह को प्रधानमन्त्री बनाकर मुँडवाऊँगा। (कहें वह चाहे जो कुछ) चरणसिंह को प्रधानमन्त्री बनवा दिया। अब कहते हैं कि साम्प्रदायिक और अधिनायक तत्त्वों के विनाश के लिए रख रहा हूँ। मुझे लगता है दाढ़ी ही इस देश में कुछ करा लेने का रामबाण नुस्खा है। सो मैंने भी रख ली।"

"सो तो ठीक है शर्माजी। आप पर दाढ़ी फब भी रही है। राजनारायणजी से ज्यादा। पर आप इसे संकल्प पूरा हो जाने पर मुँडवाने कहाँ जायेंगे? आपकी कोई विन्ध्यवासिनी देवी तो हैं नहीं। दाढ़ी बिना विन्ध्यवासिनी देवी के अपना कमाल नहीं दिखा सकती।"

"संकल्प पूरा होने पर सबको अपनी-अपनी विन्ध्यवासिनी देवी मिल जाती है।"

"आपका संकल्प क्या है?"

"मेरा संकल्प बहुत बड़ा है। मैं इस देश से जब तक महँगाई नहीं हट जायेगी, भ्रष्टाचार नहीं दूर होगा, अमीरी-गरीबी नहीं मिटेंगी, आर्थिक समानता नहीं आयेगी, बेरोजगारी दूर नहीं होगी, जातिभेद नहीं समाप्त होगा···"

"बस, बस शर्माजी, सूची ज्यादा लम्बी न कीजिए, नहीं तो यही दाढ़ी आपके जीवनकाल में तो मुँडेगी नहीं। आपके बालबच्चे भी यदि रखते चले जायें तो भी उनके चेहरों पर लहराती रहेगी।"

"नहीं, मैं दाढ़ी के प्रताप पर अब यकीन करने लगा हूँ। दाढ़ी फलती है। हाँ, इतने बड़े संकल्प के लिए तमाम पढ़े-लिखे वर्ग को मेरे साथ दाढ़ी रखनी होगी। यदि इतने बड़े संकल्प अकेले आदमी के दाढ़ी रखने से पूरे हो जाते तो राजनारायण इन्हीं संकल्पों पर न रख लेते? किसी को गद्दी पर बैठाने और किसी को उतारने के ही संकल्प पर क्यों रखते? वह काम आसान है, यह काम ज़रा मुश्किल है। आपकी दाढ़ी के प्रताप से गद्दी पर कौन बैठा, कौन चढ़ा इससे हम जैसे आम नागरिक को क्या लेना-देना? उसका तो उन बुराइयों से पीछा छुड़वाइए जिनकी सैकड़ों पाटों में वह पिस रहा है। यह मुश्किल काम मैंने उठाया है।"

"यह काम आप कैसे करेंगे?"

"मैं तमाम बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों, लेखकों, पत्रकारों के पास जाऊँगा और कहूँगा कि दाढ़ी की छोटी राजनीति का नहीं, दाढ़ी की बड़ी राजनीति का साथ दो। उनको समझाऊँगा कि दाढ़ी बड़ी हो जाने से आदमी बड़ा नहीं हो जाता। क्या मतलब है आप छोटी खुशी-नाखुशी पर दाढ़ी रख लें और उसे मुँडवाने का गौरव प्रकटायें। प्रक्षालित हों, और अपनी तोंद पर पानी डालते हुए सारी दुनिया को दिखायें लेकिन उस तोंद को पिचका न पायें जिसमें सारा समाज समाया हुआ है—वह तोंद जो पूँजीपति की है, ऊँची जातियों की है, विदेशी भाषा की है जिसमें गटागट कौर की तरह गरीब, छोटी जातियाँ, और देश की अभिव्यक्ति उतरती जा रही है। मैं यह समझाऊँगा कि छोटी बात के लिए रखी दाढ़ी का साथ न दें।"

"लेकिन उसका साथ तो भगवान देते हैं। तान्त्रिक साधु देते हैं, उनके तन्त्र-मन्त्र देते हैं।"

"इसी को मैं दाढ़ी की छोटी राजनीति कहता हूँ, सत्य की राजनीति नहीं। यदि सत्य की राजनीति होती तो इन तान्त्रिकों, तन्त्र-मन्त्र, विन्ध्यवासिनी देवी से इस देश की अनपढ़, धर्मान्ध, धर्मभीरु जनता को डराया न जाता। उनके विवेक की अपील की जाती। दाढ़ी की छोटी राजनीति इस देश की जनता को गुमराह करती है। उन बातों पर, उन तन्त्र-मन्त्र, टोने-टोटकों पर उसका यकीन जमाने की कोशिश करती है जिनसे उसे निकालना आपका फर्ज है। राजनीति का यह विद्रूप लघुमानव गण्डे-तावीज बाँधे, तन्त्र-मन्त्र पढ़ता उसी कीचड़ में धँस जाता है जिसमें इस देश की तीन चौथाई से अधिक अनपढ़, धर्मभीरु गरीब जनता है, उन्हें ऊपर नहीं उठाता। दाढ़ी की यह छोटी राजनीति उसको मानसिक रूप से पंगु करने की साजिश है। मैं यह नहीं होने दूँगा। अजीब हरकत है। देश के कर्णधार बनने की ख्वाहिश रखनेवाले हमें शोषण और अन्याय के बड़े मुद्दे नहीं बताते। हमें बताते हैं देवी-देवताओं के चित्र लगाओ, पूजा करो, गण्डे-तावीज बाँधो, तन्त्र-मन्त्र की शरण जाओ, मन्दिरों में सर झुकाओ, आँख बन्द करके हनुमानजी का प्रसाद खाओ और बाँटो और इस तरह वह यातना काट ले जाओ जिसके जिम्मेदार वह खुद हैं। भूखे आदमी को अफीम खिलाने का यह सिलसिला जारी है। और कितना आश्चर्य है कि इस औद्योगिक और वैज्ञानिक युग में भी इनका झूठ चल रहा है। मैंने इस झूठ को समाप्त करने का संकल्प लिया है। और हर पढ़े-लिखे आदमी से चाहूँगा कि वह यह संकल्प ले।"

यह स्तम्भकार कुछ देर तक उनकी बात पर विचार करता रहा। बात इसे सच लग रही थी। इसने सोचा अब यह भी वह संकल्प लेगा। कोशिश करेगा कि आगामी चुनावों में मतदाता धर्म, जाति, सम्प्रदाय, अन्धविश्वास का चश्मा लगाकर अपने कर्णधारों के चेहरे न पहचाने बल्कि उस विचारधारा को खुली आँखों से देखे जिससे अन्यायी और शोषक के चेहरे साफ-साफ पहचान में आते हैं। तभी देश की तकदीर बदल सकती है। इसने बाँहें खोलकर शर्माजी को गले लगा लिया और बोला—"लेकिन शर्माजी, इसके लिए दाढ़ी रखने की क्या ज़रूरत है?"

इसने शर्माजी की दाढ़ी पर हाथ फेरा और उसके साथ ही दाढ़ी हाथों में आ गयी। नकली थी। "दाढ़ी नकली है। पर संकल्प नहीं। तुम्हें जाँचने के लिए लगा रखी थी। इसकी ज़रूरत न थी, न है, न होनी चाहिए।"

तानाशाही का भय

पिछले सप्ताह इस स्तम्भकार की मुलाकात पाकिस्तान से आये एक मित्र से हुई। बातचीत के सिलसिले में वह बोले—

"खुशनसीब हो तुम लोग ! यहाँ कितनी खुली हवा है। वहाँ दम घुटता है। 'लाइफ इंसेक्योर' है।"

कुछ अटपटा लगा यह सुनना। क्योंकि रात-दिन चारों तरफ यही सुनायी देता है कि यहाँ जीवन असुरक्षित है। सड़क पर रेलगाड़ी में कहीं भी आप लूट लिये जा सकते हैं। आपको गोली मार दी जा सकती है, चाकू मार दिया जा सकता है। और पाकिस्तानी मित्र इसे हम लोगों की खुशनसीबी कह रहे हैं। इस स्तम्भकार ने कहा, "आपको कुछ मालूम नहीं यहाँ के बारे में।"

"मालूम है। चोरी, डकैती, छीनाझपटी, गुण्डागिरी यह सब मामूली बातें हैं। इनका मुकाबला किया जा सकता है। इनकी काट निकाली जा सकती है। पर वहाँ की हालत बयान नहीं की जा सकती। **भ्रष्टाचार के भय और तानाशाही के भय में बहुत ज्यादा फ़र्क होता है।** दोनों का कोई मुकाबला ही नहीं है। वहाँ आप नहीं जानते कि आप घर से दफ्तर या दफ्तर से घर सही-सलामत पहुँच भी सकेंगे या नहीं। या रास्ते में ही आपको शराब पिये होने या वेश्यालय से आने जैसे किसी भी जुर्म में पकड़ लिया जायेगा। हर समय जान आधे में टँगी रहती है। आप पर कोई भी झूठी तोहमत लगाकर आपको पकड़ा जा सकता है। कहीं कोई सुनवायी नहीं। फिर आपको ज़लील किया जा सकता है, खुलेआम मारा जा सकता है, चुप-चाप मरने के लिए कैदखाने में भी डाल दिया जा सकता है। और यदि ज्यादा खतरनाक आदमी है तो ऐसा गायब किया जा सकता है कि आपका हमेशा-हमेशा के लिए कोई सुराग न मिले। यहाँ दुश्मन सामने दिखायी तो देता है। हाथ जोड़ लीजिए, लुट जाइए या दस आदमी मिलकर निपट लीजिए। वहाँ दुश्मन तो दीखता नहीं। सड़क चलते आपको एक कागज़ दिखाया जा सकता है। आपको पता भी नहीं चलेगा कि किसने क्यों शिकायत की और आप मुजरिम हो गये चाहे जुर्म किया हो या न किया हो···"

पाकिस्तानी दोस्त के कहने में इतना दर्द था कि स्तम्भकार सहम गया। उसे उस दिन के अखबार की खबर दीखने लगी जिसमें लिखा था कि पाकिस्तान में खुले आम अपराधियों को कोड़े मारे जा रहे हैं। रावलपिण्डी के एक मैदान में सौ फुट के घेरे में दस हज़ार दर्शक खड़े हैं। लोग अस्पताल की छतों और पेड़ों पर भी जमे हैं। सुबह का अखबार पढ़कर देखने आये हैं कि कैसे कोड़े लगते हैं। 26 अपराधियों

को वेश्यागमन के अपराध में कोड़े लगाये जायेंगे। उन्हें दो होटलों में छापा मारकर पकड़ा गया है। कोड़े लगानेवाले हत्या के आरोप में कैद दो कैदी हैं। उन्हें इस काम के लिए खूब खिला-पिलाकर तैयार किया गया है। पाँच फुट लम्बी बेंत लिये दोनों जल्लाद नाचते हैं और मारते हैं। कोड़े खानेवाले अपराधियों को नंगा कर दिया गया है। एक सफेद कच्छा उनके जिस्म पर है बस। पैर में कठबेड़ी है, हाथ में हथकड़ी। उन्हें एक-एक कर त्रिभुजाकार पीठिका पर झुकाया जाता है। पहले डॉक्टरी जाँच कर ली जाती है फिर चूतड़ों पर जहाँ पहले से ही लाल स्याही से कोड़ों के लिए निशान लगा दिया गया है, सटा-सट कोड़े लगाये जाते हैं। 21 लोगों को पन्द्रह-पन्द्रह कोड़े मारे गये और 5 को पाँच-पाँच। कोड़े मारने का यह दृश्य आँखों के सामने आ जाता है। कितना पाशविक है इसे एक तमाशा बनाना।

पाकिस्तानी दोस्त के यह पूछने पर कि यह स्तम्भकार क्या सोच रहा है जब इसने अखबार की यह खबर बतायी तो वह हँसे, बोले—"आप इससे क्या नतीजा निकाल रहे हैं ?"

"यही कि वेश्यागमन पर इतनी कड़ी सज़ा !"

"यह शरीयत नहीं तानाशाही के हिसाब से है।"

"पर क्या समाज की ऐसी हालत है कि कोई औरत वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर न हो।"

वह चुप रहे।

"जब समाज की आर्थिक हालत ऐसी नहीं है और स्त्री वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर है तो इस तरह की सजाओं का कोई मतलब नहीं रह जाता।"

"यह सजा रण्डीबाजी के लिए नहीं, हुकूमत का डर फैलाने के लिए, दबदबे के लिए है, जिससे कि आप खामोश हो जायें। उसके खिलाफ़ चूँ भी न करें। क्योंकि अगर उसके किसी काम के खिलाफ़ आपने जबान खोली, नाइत्तफ़ाकी दिखायी तो आप रण्डीबाज़ी ही क्या, चोरी, शराबखोरी किसी भी जुर्म में गिरफ्तार किये जा सकते हैं। डिक्टेटर की यही खासियत है। तानाशाह जब सज़ा देना चाहता है तो किसी भी जुर्म में दे सकता है चाहे वह आपने किया हो या न किया हो। कोई पूछनेवाला नहीं। आप क्या सोचते हैं जिन्हें कोड़े पड़े हैं उन्हें रण्डीबाज़ी पर ही पड़े हैं ? मुझे मालूम नहीं। पर ये वो लोग होंगे जो हुकूमत की खिलाफत करने-वालों से जुड़े होंगे और अवाम में जिनकी कुछ आवाज़ भी होगी। ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता ये कौन लोग हैं। इनके नामों की फेहरिश्त तो नहीं छापी गयी। बहुत बड़े आदमी न भी हों पर उन बड़े आदमियों के हाथ-पैर होंगे जो खिलाफ़त कर सकते हैं। तानाशाह इस तरह खिलाफ़त करनेवाली ताकतों के हाथ-पैर काटता है। अब इस तरह इनको जलील होते और सज़ा पाते देख लोग यह समझ जायेंगे कि खिलाफ़त करनेवालों से रब्तज़ब्त नहीं रखनी चाहिए चाहे रण्डीबाज़ी चलती

रहे कोई हर्ज नहीं। चोरी पर, जेब काटने पर सज़ाएँ दी जा रही हैं। चोरी पर हाथ काटने तक का डर फैलाया गया है। यानी अगर आप हुकूमत के खिलाफ़ कहीं दूर से भी जुड़े पाये गये तो आसानी से आप पर चोरी का जुर्म साबित किया जा सकता है और आपके हाथ छीने जा सकते हैं। इधर सबसे ज्यादा गिरफ्तारियाँ शराब पीने पर हो रही हैं। सुनायी दिया है कि प्रसिद्ध गायक मेंहदी हसन को शराब पीने पर गिरफ्तार किया गया था। यानी किसी की आबरू-इज्जत सलामत नहीं। हर तबके में डर फैलाया जा रहा है। सबकी जबान पर ताला डाला जा रहा है। यह तानाशाही है। उसका तौर-तरीका है। इसीलिए कहा था कि डिमोक्रेसी में भ्रष्टाचार के भय और तानाशाही के भय में बहुत फ़र्क है। आप हुकूमत के खिलाफ़ गर कहीं दूर से भी माने जाते हों तो यहाँ आप हिफ़ाजत से हैं वहाँ बिल्कुल महफ़ूज़ नहीं हैं। और ऐसा नहीं है कि चोरी-डकैती, छीना-झपटी, गुण्डागर्दी वहाँ नहीं है। वहाँ आपके यहाँ से कम नहीं है बल्कि ज्यादा है। पर वे हुकूमत के लोग हैं, तानाशाह की परवरिश में हैं। लेकिन इस जुर्म में वे गिरफ्तार नहीं होते, दूसरे गिरफ्तार होते हैं जिनमें तानाशाह को अपनी खिलाफ़त की बू मिलती है। डेमोक्रेसी की सौ नाकामयाबियाँ तानाशाही की एक भी कामयाबी से बेहतर है। इसे हम लोग समझ रहे हैं, आप लोग नहीं समझ पा रहे हैं।"

पाकिस्तानी दोस्त इतना कहकर चुप हो गये। और यह स्तम्भकार उन लोगों को याद करने लगा जो आज कह रहे हैं कि इससे अच्छा तो आपत्काल था। इतनी छीना-झपटी, चोरी-डकैती, गुण्डागर्दी, अराजकता तो नहीं थी। लेकिन यदि गौर से देखें तो थी लेकिन पता नहीं चलता था। क्योंकि उसके मुँह पर कानून का मुखौटा लगा होता था। अब वह उतर गया है इसलिए चेहरा पहचान में आता है तब पहचान में नहीं आता था। जो लोग यह सोचते हैं कि तानाशाही के फिर आ जाने पर देश की हालत ठीक हो जायेगी वह गलती पर हैं। पाकिस्तानी दोस्त के अनुभव से कुछ सीखें कि **लोकतन्त्र की सौ असफलताएँ तानाशाही की एक भी सफलता से बेहतर** हैं। दूसरों द्वारा घसीटे जाने से अपने लँगड़े पैरों पर चलना कहीं अच्छा है। तानाशाही के भय का निदान एक व्यक्ति के पास नहीं है जबकि लोक-तन्त्र में भ्रष्टाचार के भय का निदान एक व्यक्ति के पास हो सकता है। न भी हो तो यह भय आदमी की आत्मा को मारने का साहस तो नहीं करता।

क्यों-क्यों मत कर

नीम अँधेरा है। एक डरा हुआ, घबराया आदमी इसमें से गुज़र रहा है। वह चारों ओर सशंकित देखता है और कुछ दीखने और न दीखने दोनों से सहम जाता है। वह सड़क से गलियों में, गलियों से फिर सड़क पर, आबादी से वीराने फिर वीराने से आबादी में भागता है। वह कहीं सिर छुपाने की जगह तलाश रहा है। यह स्तम्भकार हैरत में था। कभी वह किसी मन्दिर में घुसता, कभी दरगाह में, कभी किसी होटल में, कभी सराय में, कभी पार्क के एकान्त में, कभी भीड़ में। वह चेहरे से कुछ पढ़ा-लिखा भी लगता था पर गरीब और फटेहाल था। ठीक वैसा चेहरा जैसा इस देश में दो-चार को छोड़ सभी का है। पाठको, वह आपका हमशक्ल है और इस स्तम्भकार का भी। 'क्या बात है ?' एक अँधेरे कोने में इस स्तम्भकार ने उसे पकड़ लिया और पूछा।

वह चुप रहा। उसकी ख़ामोशी चाकू की तेज धार की तरह थी। उससे बचने के लिए स्तम्भकार ने फिर पूछा—

"तुम इस तरह से सारे शहर में छिप-छिपकर क्यों घूम रहे हो ? इतना डरे क्यों हो ?"

उसने खामोश रहने का इशारा किया और फुसफुसाकर ठण्डी आवाज़ में बोला—"लोग मेरी हत्या करना चाहते हैं। मेरे पीछे लगे हैं।" और उसका चेहरा ज़र्द पड़ गया।

"क्यों ?"

"उनका कहना है महँगाई मेरे कारण बढ़ रही है। मेरी वजह से दाम चढ़ रहे हैं। वे मेरी हत्या करना चाहते हैं, मेरे पीछे लगे हैं···तुम भाग जाओ। मेरे साथ मत दिखायी दो। नहीं तो तुम्हारी भी हत्या कर देंगे।" वह चारों ओर देखने लगा और भागकर एक अँधेरी गली में घुस गया।

स्तम्भकार देखता रह गया। दबे मन से शर्माजी के पास गया। फिर उन्हें उस आदमी की हुलिया समेत सारा किस्सा बयान किया। शर्माजी बोले—

"मैं उसे जानता हूँ। उसके परदादा को भी जानता था। वह एक राजवाड़े की मामूली रियाया थे। जब रियासत में चीज़ों के दाम बढ़ने शुरू हुए और उन्होंने जानना चाहा कि दाम क्यों बढ़ रहे हैं तो कहते हैं उनकी हत्या कर दी गयी।"

"लेकिन यह बहुत डरा हुआ है। सारे शहर में छिपता घूम रहा है।"

"हाँ, कल से।" शर्माजी बोले।

"कल से ?"

"हाँ। बात यह हुई कि मैं बाजार गया था। कुछ खरीद-फरोख्त करने। यह भी उसी दुकान पर खड़ा था। चीनी खरीद रहा था। दुकानदार चीनी छह रुपया किलो दे रहा था। इसने पूछा—चीनी के दाम इतने क्यों चढ़ते जा रहे हैं ? दुकानदार ने हँसकर कहा—क्या मालूम। जिस भाव मिल रही है उस भाव दे रहे हैं। तभी एक मुस्टण्डा गुण्डा जो बगल में खड़ा था उसने इसे धक्का देकर कहा—जल्दी लो और जाओ, बकवास बन्द करो। चीनी के दाम क्यों बढ़ रहे हैं? खबरदार जो इस तरह की बात की। क्यों? इसने पूछा और कहा—मैं मतदाता हूँ। चुनाव के दौरान मुझसे कहा गया था कि महँगाई हटेगी, दाम गिरेंगे। पर दाम चढ़ते जा रहे हैं। देखिए, चीनी का इतना दाम तो कभी नहीं था। फिर तकरार बढ़ गयी।" शर्माजी ने कहा।

"क्या कहा उस गुण्डे ने ?"

"उसने बाँहें चढ़ा लीं।"

"क्यों ?"

"इसने तर्क किया कि पहले दाम चढ़ रहे थे। कहते थे विरोधी दलों के कारण चढ़ रहे हैं। अब विरोधी दलों का सफाया हो गया। आप-ही-आप रह गये। फिर कहने लगे, राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों के कारण दाम चढ़ रहे हैं, ये सरकारें चाहती ही नहीं कि महँगाई कम हो। केन्द्रीय सरकार को बदनाम करना चाहती हैं। अब राज्यों से विरोधी दलों की सरकारें भी जायेंगी। विधान सभाओं के नये चुनाव कराये जायेंगे। पर दाम कम होने नहीं आ रहे हैं। आखिर क्यों ?"

"फिर इस पर उस गुण्डे ने क्या कहा ?" स्तम्भकार ने पूछा।

शर्माजी ने बताया—

"कहता क्या ! बोला, कुत्तों की तरह क्यों-क्यों मत कर। सियासत के बारे में जानता कुछ नहीं, बस बोले जा रहा है। अबे, विरोधी दल अभी खत्म कहाँ हुए। जब तक एक भी दल में एक भी आदमी रहेगा यह गन्दगी रहेगी—दाम चढ़ेंगे। महँगाई बढ़ेगी। महँगाई बढ़ने के पीछे ये साले विरोधी दलवाले ही हैं।"

"यह कुछ नहीं बोला," स्तम्भकार ने पूछा।

शर्माजी ने कहा—

"बोला क्यों नहीं। भिड़ गया। इसने कहा—सत्ता आपके हाथ में है सारी मशीनरी आपके काबू में है, महँगाई कम क्यों नहीं करते? विरोधी दलों को बदनाम करते हो। मेमना पानी गन्दा कर रहा है। सच तो यह है कि आपकी लार टपक रही है।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? फिर उस गुण्डे ने कहा—साले, महँगाई तेरी वजह से बढ़ रही है। तू जो चीनी खरीदता है ! डायबेटीज़ है और चीनी खरीदता है ! चीनी खाकर सारे देश को डायबेटीज हो गयी है। बहुत चीनी ठूँसी है इस देश ने। सालो चीनी खाना बन्द करो। जब तक तू चीनी खरीदेगा चीनी के दाम बढ़ते रहेंगे। जब तक तू बाज़ार में दिखायी देगा, महँगाई बढ़ती रहेगी। महँगाई कम करनी है तो बाज़ार में तेरा आना बन्द करना होगा, तेरी टाँग तोड़नी होगी। तुझे खत्म कर दिया जाये तो महँगाई खत्म हो जायेगी। साला क्यों-क्यों करता है। विरोधी दल खत्म हो गया, महँगाई क्यों नहीं खत्म होती ? तू तो नहीं खत्म हुआ। तू तो साले जिन्दा है महँगाई कैसे खत्म होगी···फिर वह तमाम गालियाँ देता रहा।"

"आप बीच में कुछ नहीं बोले ?"

"बीच कहाँ था भई, मैं तो वही आदमी था। फिर भी कहा जरूर कि यह गलत बात है। अपने निकम्मेपन, अपनी लिप्सा का दोष दूसरों पर थोपना गलत बात है। तानाशाही हथकण्डे हैं। इस पर उस आदमी ने चाकू निकाल लिया और बोला—तेरी शामत आयी है। अब मेरे हाथ से तू बचेगा नहीं। वह बेचारा गरीब आदमी भागा। गुण्डा चिल्लाया—इस शहर में बचकर जायेगा कहाँ ? फिर उसने चार बोरा चीनी एक स्कूटर पर लदाया और चला गया। शायद तभी से वह आदमी हत्या के डर से छुपा हुआ घूम रहा है।"

"अब क्या होगा ?" स्तम्भकार ने पूछा।

"होगा क्या ? मारे डर के, चीनी क्यों महँगी हो रही है, कोई नहीं पूछेगा। यह क्यों-क्यों बन्द हो जायेगी। जिसका मतलब ही है उस आदमी की हत्या हो गयी और हम-आप देखते ही रह गये।"

आत्महत्याओं की नींव पर खड़ा समाज

राजधानी के अंग्रेजी के एक प्रमुख राष्ट्रीय दैनिक के 17 जनवरी के अंक में आत्म-हत्या की तीन खबरें छपी हैं। पहली खबर दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कॉलेज के बी. ए. अन्तिम वर्ष के छात्र समर चौधरी की आत्महत्या की है जिसने पंखे में फन्दा लगा लिया और लटक गया। अनुमान है वह प्रेम में निराश हो गया था। उसकी प्रेमिका का आधा जला पत्र भी कमरे में मिला। दूसरी खबर बम्बई के भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र के तीस वर्षीय वैज्ञानिक जे. रामाकृष्णन की आत्म-हत्या की है जिसने ट्रांबे में अपनी प्रयोगशाला में कोई जहरीला रसायन खा लिया। वह भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में छः साल से काम कर रहा था। तीसरी खबर पॉलिटेक्नीक के छात्र आषुतोश कौशिक की आत्महत्या की है जो कश्मीरी गेट

पोलिटेक्नीक छात्र संघ का कोषाध्यक्ष था। उसने अपने बाप के रिवाल्वर से खुद को गोली मार ली, अस्पताल ले जाया गया लेकिन दो दिन बाद मृत्यु हो गयी। उसे बचाया नहीं जा सका। अपनी आत्महत्या का कारण उसने एक पत्र में बताया है। यह चिट्ठी उसने छोड़ी है कि 'हमारी माँगें पूरी नहीं होने के कारण मैं आत्महत्या कर रहा हूँ'। सभी जानते हैं कि दिल्ली पालिटेक्नीक के छात्र पिछले दो महीनों से अपनी कुछ माँगों को लेकर आन्दोलन कर रहे हैं। उनकी माँग है कि उन्हें 'नेशनल डिप्लोमा' फिर से दिया जाना शुरू किया जाये। जिसे 1972 से बन्द कर दिया गया है। उनकी दूसरी माँग है कि दिल्ली इंजीनियरिंग कॉलेज में जिसका पाँच साल का कोर्स है उन्हें तीसरे साल में प्रवेश दिया जाये (अभी पालिटेक्नीक के छात्रों को पहले साल में प्रवेश मिलता है।) तीसरी माँग है कि उनके लिए एक छात्रावास हो और खेलकूद की सुविधाएँ दी जायें। इन माँगों को लेकर छात्रों का कोई दो महीने से आन्दोलन चल रहा है और इन माँगों को पूरा होते न देख उसके एक छात्र ने खुद को गोली मार ली।

पहला मामला प्रेम का है, जिसे दो कालम की सुर्खी देकर छापा गया। बाकी दोनों मामले इधर-उधर कोनों में मिलेंगे, जैसे कि वे कोई खबरें न हों। अपने देश में युवा वैज्ञानिक क्यों आत्महत्या के लिए मजबूर हो जाता है, यह छिपी बात नहीं है। उसका शोषण और काम की शर्तें सब निराशाजनक हैं। युवा वैज्ञानिक यह सब सहते हैं और जिन्दा रहते है। कुछ कह नहीं पाते और जिन्दा नहीं रहते।

आत्महत्या चाहे प्रेम में हो, चाहे नौकरी में असन्तोष से हो, चाहे छात्र जीवन के अन्याय और घुटन से हो, किसी जीवित समाज के लिए कलंक है। इसे समझना समाज के कर्णधारों के लिए बहुत ज़रूरी है। जिन्दगी से अधिक प्यारी चीज कोई नहीं होती। यूँ ही कोई अपनी जिन्दगी नहीं लेना चाहता। अगर कोई जिन्दा नहीं रहना चाहता तो क्यों? इसका जवाब समाज को खोजना होगा। क्योंकि इसका जवाब वे लोग हैं जो जिन्दा नहीं रहना चाहते पर जिन्दा हैं क्योंकि मर नहीं सकते। हर आत्महत्या समाज में फैलती किसी सड़ाँध की सूचक होती है। वह सड़ाँध मानवीय रिश्तों में हो सकती है, रोज़गार में हो सकती है, शिक्षा व्यवस्था में हो सकती है। ये आत्महत्याएँ बताती हैं कि तीनों जगह यह सड़ाँध है। ये तीनों मनोरोगी नहीं थे। जीने की लालसा उनमें थी। प्रेम में मरा युवक खबर के अनुसार अच्छा विद्यार्थी था। लखनऊ से आया था। इतिहास आनर्स में पढ़ रहा था। खुशमिजाज़ था। अपनी प्रेमिका के साथ पिछले दिनों शिमले गया था, फिर लखनऊ। आगे का सूत्र अनुमान के सहारे जोड़ सकते हैं कि इसके बाद उसने क्यों ज़िन्दगी जीने लायक नहीं समझी? तीस साल का वैज्ञानिक छः साल नौकरी करने के बाद 'फोटो सिंथेसिस कार्य' में उच्च विशेष योग्यता प्राप्त करने के बाद भी क्यों जीना नहीं चाहता था? उसे आगे का दरवाजा कहाँ बन्द मिलता है और जहाँ वह है वह

जगह क्यों जिन्दा खड़े होने लायक नहीं है?

सबसे दर्दनाक घटना तो इस पोलीटेक्नीक छात्र की है, जिसकी मौत का कारण साफ़-साफ़ दीखता है कि चन्द लोग हैं जो शिक्षा व्यवस्था की इस घुटन के जिम्मेदार हैं जिसके कारण छात्र संघ से गहराई से जुड़ा यह बच्चा गोली मारकर अपने को खत्म कर लेता है। क्या यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति नहीं है? दो महीनों से छात्रों का यह आन्दोलन क्यों चलने दिया जा रहा है? ऐसी क्या बड़ी माँगें हैं जो पूरी नहीं की जा सकतीं? जिससे सारी शिक्षा-नीति डगमगा जायेगी? (यदि वह कुछ है तो!) बहुत छोटी माँगें हैं उनकी जिन्हें आप आगे बेरोज़गारी का सामना करने के लिए तैयार कर रहे हैं। वह सनद की राष्ट्रीय मान्यता चाहते हैं। क्यों इन्हें यह मान्यता नहीं मिलनी चाहिए? क्या शिक्षा स्तर में भी वर्ग हैं? और यदि हैं तो इसके जिम्मेदार क्या विद्यार्थी हैं? यदि उसकी जिम्मेदार व्यवस्था है तो उसका शिकार विद्यार्थी क्यों बनाया जाये? एक ओर शिक्षा व्यवस्था में ऊँच-नीच, भेद-भाव है, दूसरी ओर आप नौकरी देने के मामले में सबको एक बटखरे से तौलकर कुछ को बेरोज़गार रहने के लिए अभिशप्त करते हैं। नौकरियाँ हैं नहीं। काम मिलता नहीं। जमापूँजी लगाकर विद्यार्थी पढ़ता है, तो पाता है इस शिक्षा की वकत नहीं। उसी-जैसे उससे बेहतर हैं। पढ़ाई खर्चीली है। सबके मान की नहीं। ख्वाब देखना तो दूर, आगे रोज़ी के भी लाले हैं। ऐसी स्थिति में पोलीटेक्नीक के एक गरीब छात्र को आप न राष्ट्रीय डिप्लोमा देना चाहते हैं, न इंजीनियरिंग कॉलेज में भरती का सम्मानजनक स्थान, न छात्रावास। क्यों? इस स्तम्भकार को बेहद दुख है कि इतनी साधारण माँगों के लिए एक छात्र को जान देनी पड़ी। यह इस मृत्यु को इस पूरी शिक्षा व्यवस्था के नाम पर कलंक मानता है। बहुत जरूरी है शिक्षा-नीति बदलना और उसमें समानता लाना। सुविधा सम्पन्न वर्ग के लड़के शिक्षा और रोज़गार की सुविधाएँ पाते जायें और दूसरे उससे वंचित रखे जायें यह खेल अब खत्म होना चाहिए।

ये तीनों मौतें इस स्तम्भकार को विचलित करती हैं और यह स्तम्भकार यह मानता है कि यदि यह समाज संवेदनशील है तो सबको विचलित करेंगी। व्यवस्था को भी इन पर सोचना चाहिए। आत्महत्या किसी समाज की सबसे बड़ी दुर्घटना है। उसकी जाँच होनी चाहिए। गहरी जाँच जिसमें उन सभी कारणों की खोज की जानी चाहिए जो समाजनीति, अर्थनीति, राजनीति सभी से जुड़े हों। किसी व्यक्ति की आत्महत्या व्यक्तिगत कारण से ही नहीं है उसका एक वृहत सामाजिक परिप्रेक्ष्य होता है, उसे समझना होगा। हर आत्महत्या के पीछे निहित कारणों का व्यापक अध्ययन किया जाना चाहिए। उसे थाने में दर्ज करके खत्म नहीं कर दिया जाना चाहिए, बल्कि उस अध्ययन के सहारे यह पता चलना चाहिए कि पूरी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में कहाँ खोट है? कहाँ से सड़ाँध घुस रही है जो आगे

इस पूरे समाज को अपंग कर देगी। जिस समाज में रोज औरतें मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा मर रही हों, बेरोजगार रेल से कट कर मर रहे हों, कर्मचारी छतों से छलाँग लगा रहे हों, वहाँ देखना होगा कि सारा पारिवारिक जीवन, आदमी का कारोबार, रोजगार, शिक्षा—सबके पीछे जो आर्थिक बुनियाद है वह कहीं खोखली या बेढंगी तो नहीं है? इसकी जिम्मेदारी व्यवस्था को अपने ऊपर लेनी होगी। जिस आदमी ने आत्महत्या की है सारी जिम्मेदारी उसके ऊपर ही डालकर खामोश नहीं बैठ जाना होगा। एक आत्महत्या की जिम्मेदारी सब पर होती है, पूरे समाज पर। आदमी जब अकेला पड़ जाता है तब मरता है। कम-से-कम मरने के बाद तो उसे अकेला मत छोड़ो, जिन रूढ़ियों, दुराग्रहों, जिस घुटन, अन्याय के कारण वह मरा है उस सबको बदलो, मिलकर बदलो, तुरन्त बदलो, आत्महत्याओं की नींव पर खड़ा समाज बहुत दिन नहीं चलता।

सूखाग्रस्त क्षेत्र में एक चुनाव भाषण

बहुत दुख की बात है कि हमें इस समय आपसे वोट माँगने आना पड़ रहा है, जबकि आप लोग अपार कष्ट में हैं। हम जानते हैं कि आपका सारा इलाका सूखाग्रस्त है, आपके घर में खाने को अन्न नहीं हैं। न ही कुछ ऐसा है जिसे बेचकर ही आप अपना पेट भर सकें। ऐसे मौके भी बहुत खुले नहीं हैं जहाँ आप मजदूरी कर सकें। उसके लिए भी आपको दर-दर भटकना है। आधी चौथाई जितनी मिले उससे गुज़ारा करना है। फिर भी हम वोट माँगने आये हैं, क्यों? क्योंकि जिस तरह शरीर के धर्म का पालन करना होता है वैसे देश के धर्म का भी पालन करना होता है। किसी के मर जाने पर भी उसके आत्मियों को देह-रक्षा के लिए खाना खाना ही पड़ता है। जीवन रक्षा हमारा पहला कर्तव्य है। इसी तरह लाख विपदा होने पर भी मतदान कराना ही होगा, क्योंकि लोकतन्त्र की रक्षा हमारे आपके जीवन का पहला कर्तव्य है। इसीलिए हम ऐसी विपदा में भी आपसे वोट माँगने आये हैं। अभी किसी भाई ने कहा कि हम लोग इस समय मरी हुई लाश पर चील-कौओं जैसे लगते हैं। उनका ग़ुस्सा वाजिब है। पर यदि ग़ौर से देखें तो यह प्रकृति का व्यापार है। चील-कौए भी अपने धर्म का ही पालन करते हैं। लाश उन्होंने तो पैदा नहीं की। लाश जिस कारण से भी हो उन्हें तो अपना काम करना है। वे इस काम के लिए अभिशप्त हैं। सो हम राजनीतिज्ञ भी बाढ़ हो, सूखा हो, महामारी हो, अपना काम जारी रखने के लिए अभिशप्त हैं। आप कहेंगे इस स्थिति के जिम्मेदार

हम राजनीतिज्ञ लोग ही हैं। आपका यह कथन सिरमाथे पर। पर बात ऐसी नहीं है। देखिए, नदियों पर या बादलों पर हमारा क्या जोर? बादल ज्यादा बरस गये तो मुसीबत, एकदम नहीं बरसे तो मुसीबत। बाढ़ और सूखा तो दैवी प्रकोप है। उसे न आप रोक सकते हैं न हम। ये दैवी प्रकोप तो जब से सृष्टि है तब से है। सूखा और अकाल की कथा तो पुराणों और उपनिषदों तक में भरी पड़ी हैं। यह तो ऐसी लड़ाई है जिसे जब तक सृष्टि है तब तक लड़ना है। आप कहेंगे, इसकी रोकथाम के लिए विज्ञान का सहारा क्यों नहीं लिया जाता? आपका कहना वाजिब है। पर विज्ञान सर्वशक्तिमान तो है नहीं। सर्वशक्तिमान तो ईश्वर है। यह ईश्वरीय कोप है, उसे तो सहना ही पड़ेगा।

आप पूछ सकते हैं कि यह गरीबी क्यों है? यदि यह गरीबी न होती तो हम सूखे का मुकाबला कर लेते। सो इसके जवाब में हम क्या कहें सिवा इसके कि सारा देश ही गरीब है। इसी गरीबी से तो लड़ना है। आजादी के बत्तीस साल से हम यह लड़ाई लड़ते आ रहे हैं, क्या हुआ? यही न आप पूछ रहे हैं? अभी यह लड़ाई बत्तीस हजार वर्ष चलेगी। यह आसान लड़ाई नहीं है। गरीबी की लड़ाई आसान लड़ाई नहीं होती। यह वह राक्षस है जिसका एक सिर काटो तो दूसरा उग आता है। एक बूंद से दूसरा राक्षस जन्म ले लेता है। आखिर गरीबी है क्या? दूसरे के मुकाबले अपने पास न होने का मलाल ही तो। तो ज्यों-ज्यों हम गरीब पहले से अच्छे होते जायेंगे दूसरा जो अमीर है वह भी पहले से और अच्छा होता जायेगा। इसलिए अमीर-गरीब का फर्क बना रहेगा। हम रूस-अमरीका तो हो नहीं सकते। क्योंकि हम जितनी तरक्की करेंगे उतनी तरक्की वह भी करते जायेंगे, हमसे आगे ही रहेंगे। दौड़ में वह पहले शुरू हो गये थे, आगे-आगे हैं। हम पीछे शुरू हुए थे, पीछे-पीछे हैं। लेकिन दौड़ हम भी रहे हैं। और वह दौड़ बनी रहे—लोकतन्त्र की दौड़—इसीलिए आपसे वोट माँगने आये हैं। क्योंकि उस दौड़ में यदि हम रुक गये तो जितना है उतना भी नहीं रह जायेगा। शायद आपको मालूम नहीं कि दुनिया के गरीब देशों में हम सबसे आगे हैं। सैकड़ों देश हैं इस दुनिया में जो हमसे भी ज्यादा गरीब हैं, जिन्हें हम मदद देते हैं। यह हम नहीं कहते कि हमें गरीबी से लड़ना नहीं चाहिए। लड़ाई तो जारी ही है। हम खाली यह कहते हैं कि गरीबी से यह लड़ाई जारी रहे इसलिए वोट दीजिए।

सोचिए, आखिर पहले से कुछ तो तरक्की हमने की है? क्या जैसे आपके बाप दादे थे, वैसे आप भी हैं? फर्क तो हुआ है। पहले एक गाँव से दूसरे गाँव में पहुँचने में सुबह से शाम हो जाती थी, अब घण्टों का मामला है। बीमारी-हारी की खबरें मिनटों में पहुँचती हैं। अपने घर के बर्तन ही देखिए, कितना फर्क हुआ है? कपड़े देखिए। आज का झोंपड़ा वह झोंपड़ा नहीं है जो सौ साल पहले था। सबकुछ बदल रहा है। हर झोंपड़ा आज गा रहा है—ट्रांजिस्टर हैं, रेडियो हैं, रेल हैं, जहाज हैं,

बड़े-बड़े कारखाने हैं, स्कूल हैं, अस्पताल हैं। क्या नहीं हैं? पर हम गरीब हैं क्योंकि दूसरे लोग और ज्यादा अमीर हो गये हैं। आज गरीब से गरीब आदमी भी चाय और पावरोटी खाता है जिसे कभी अमीर आदमी खाता था। लेकिन गरीबी अभी है। उसके लिए राजनीति को जिन्दा रखना जरूरी है। इसीलिए हम आये हैं वोट माँगने, यह जानते हुए भी कि आप पर सूखे की घोर विपदा आन पड़ी है। आप हमें वोट दीजिए···हमें जिन्दा रखिए।

बिरादरी के बाहर निकलो

इधर मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ जबलपुर के महासचिव कथाकार ज्ञानरंजन के नाम से एक परचा देखने में आया है, जिसमें अत्यन्त क्षोभ और दुख के साथ यह सूचित किया गया है कि 'सुप्रसिद्ध कथाकार और उत्तर प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव कामता गाथ को 19 जनवरी को अपनी दमनात्मक और खूंख्वार कार्यवाहियों के सिलसिले में कानपुर में उत्तर प्रदेश की पुलिस द्वारा हिंसक आक्रमण करके बुरी तरह घायल कर दिया गया है और वह अस्पताल में हैं।' आगे लिखा है 'हम अपनी बिरादरी के एक सर्जक के साथ हुए इस अन्यायपूर्ण कृत्य के लिए उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को अपना गहरा विरोध प्रेषित कर रहे हैं और तत्काल जाँच की माँग करते हैं।' फिर आगे इसमें सभी लेखकों और प्रगतिशील लेखक संघ की इकाइयों से इसके विरोध की और जाँच के लिए माँग करने की अपील की गयी है।

इसी सिलसिले में एक और माँगपत्र देखने में आया है, जिसमें दिल्ली के सैंकड़ों लेखकों और पत्रकारों के हस्ताक्षर हैं और यह हस्ताक्षर अभियान अभी जारी है। दूसरा परचा ललित मोहन अवस्थी उपाध्यक्ष उत्तर प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से जारी किया गया है जिसमें स्थिति का विस्तार भी है। लिखा है :

'19 जनवरी, 1982 को भारत की प्रमुख केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संगठनों और विरोध पक्ष के राजनीतिक दलों ने भारत सरकार की मजदूर विरोधी एवं पूँजीवादी नीतियों के विरोध में संयुक्त रूप से 'भारत बन्द' का नारा दिया था। इस नारे के तहत कानपुर महानगर में इस दिन अभूतपूर्व हड़ताल रही। कानपुर की सभी थोक बाजारें, 80 प्रतिशत फुटकर बाजारें, सभी स्कूल-कालेज, सभी बैंक, जीवन बीमा कार्यालय आदि पूरी तरह से बन्द रहे। नगर के अधिकांश मिलों और कारखानों में सुबह की पालियों में हड़ताल रही। स्थानीय रिजर्व बैंक में भी

उस दिन पूरी तरह हड़ताल थी।

'हड़ताल की इस कामयाबी को देखकर स्थानीय प्रशासन, पुलिस और इंका के लोग बौखलाये हुए थे। पुलिस की टोलियाँ नगर के विभिन्न भागों में राजनीतिक नेताओं, मजदूर कार्यकर्त्ताओं, पत्रकारों आदि पर बर्बर आक्रमण करती हुई घूम रही थीं और गिरफ्तारियाँ कर रही थीं। जिला अधिकारी और इंका के लोग पुलिस की मदद से जबरदस्ती दुकानें खुलवाने के असफल प्रयास दिन-भर करते, घूमते रहे। जगह-जगह पर पत्रकारों, राजनीतिक नेताओं व मजदूर नेताओं पर लाठी चार्ज हुए। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के मजदूर नेता श्री दौलतराम को जीवन बीमा के स्थानीय प्रधान कार्यालय के सामने एक सभा से जबरन खींचकर लाठियों से पीटा गया और पुलिस ने उन पर रिवाल्वर ताना। नवीन मार्केट में नगर के पत्रकारों पर बर्बर लाठी चार्ज हुआ, जिसमें लगभग आधा दर्जन पत्रकार बुरी तरह से घायल हुए। दैनिक जागरण कानपुर के प्रेस फोटोग्राफर का कैमरा छीनकर फिल्म नष्ट कर दी गयी और उसे बहुत मारा गया। रिजर्व बैंक की सीमा के भीतर पुलिस ने बैंक के तमाम कर्मचारियों पर लाठी प्रहार किये। उसी समय रिजर्व बैंक के सामने एक चाय की दूकान पर चाय पीते समय बिलकुल अकारण कामतानाथ पर पुलिस ने लाठियों से आक्रमण किया, सर के बाल पकड़कर सड़क पर घसीटा, गाली-गलौज की···" अन्त में लिखा है—

'आप अपनी शाखा की ओर से अपने नगर में कामतानाथ पर हुए इस पुलिस हमले की कड़ी-से-कड़ी निन्दा और विरोध करें।'

दोनों परचों के बारे में कुछ कहने के पहले यह स्तम्भकार कथाकार कामतानाथ पर हुए हमले का घोर विरोध करता है और इसे एक लोकतन्त्रीय सरकार के लिए कलंक मानता है। लेकिन कुछ और जोड़ना चाहता है—

अब समय आ गया है कि लेखकों और बुद्धिजीवियों को केवल 'अपनी बिरादरी के एक सर्जक' पर हुए अन्याय पर ही नहीं बोलना चाहिए, बल्कि पूरे समाज के अन्याय से जुड़ना चाहिए। कामता नाथ पर हुआ आक्रमण निन्दनीय है लेकिन 19 जनवरी की दमनकारी हर कार्यवाही निन्दनीय है, चाहे वह एक छोटे दूकानदार, मजदूर किसी पर भी क्यों न की गयी हो।

आश्चर्य होता है कि देहली, साढ़ूपुर के निर्मम हत्याकाण्ड कुतुब मीनार की मौतों, रेल दुर्घटना सब पर हमारे वे लेखक भी जो सामाजिक और प्रगतिशील जनदृष्टि रखते हैं कुछ नहीं बोलते, खामोश रहते हैं। वे केवल तभी बोलते हैं जब किसी लेखक पर, उनकी बिरादरी के किसी व्यक्ति पर मार पड़ती है! इसका नतीजा यह होता है कि उनकी लड़ाई केवल लेखकों की लड़ाई होकर रह जाती है, आम आदमी की लड़ाई के साथ नहीं जुड़ पाती। यानी आम आदमी को साथ लेकर नहीं चल पाती। यदि समाज के हर अन्याय पर आप बोलेंगे, उसका विरोध

करेंगे तो समाज का आम आदमी भी आप पर पड़ी मार को अपनी मार समझेगा। कितना अच्छा लगता कि लेखक के साथ हुए अन्याय का, उस पर पड़ी मार का विरोध लेखकों से पहले उन लोगों की ओर से शुरू होता जो लेखक नहीं हैं। लेखक की बारी तो बाद में आती, पर ऐसा नहीं हो रहा है।

लेखक कोई विशेष दर्जा प्राप्त व्यक्ति नहीं है। वह भी सामान्य आदमी है। ऐसा वे लेखक तो मानते ही हैं जो जनवादी लेखक अपने को कहते हैं। फिर इस तरह की माँग करते समय वे क्यों भूल जाते हैं कि वे उसे सामान्य से अलग करके दिखा रहे हैं। दूसरे पर्चे के अनुसार मजदूर नेता दौलतराम तथा अन्य लोगों की पिटाई पर विरोध का आग्रह क्यों नहीं है, केवल लेखक पर ही क्यों है? इस स्थिति में सामान्य जन यही सोचते हैं कि देखो, लेखक की पिटाई हुई तो हस्ताक्षर अभियान, अपील सब हो रही है और हम लोग जब पिटते हैं, मरते हैं तो कोई कुछ नहीं बोलता!

यदि यह मान लिया जाये कि लेखक की पिटाई या उसके प्रति किये गये अन्याय पर बोलना एक प्रतीक है, उसका सम्बन्ध सामाजिक लड़ाई से है तो अच्छा हो लेखक और बुद्धिजीवी समाज के किसी ऐसे सामान्य जन को प्रतीक बनाकर जिस पर अन्याय हुआ हो, लड़ाई छेड़ें और समाज को जागरूक करें तथा सत्ता को सावधान करें। इसीलिए जरूरी है कि लेखक हर ऐसी घटना पर बोले जो राष्ट्रीय शर्म का बायस हो और जिससे सत्ता का भ्रष्ट चरित्र सामने आता हो।

यह स्तम्भकार कामतानाथ पर हुए हमले की निन्दा करता और जाँच की माँग का समर्थन भी और चाहता है कि इसकी व्यापक निन्दा की जाये तथा साफ-साफ कहा जाये कि पुलिस को सुरक्षात्मक अधिकार ही दिये जायें, दमनात्मक अधिकार न दिये जायें। उसे हिंसात्मक कार्यवाही करने को रोका जाये चाहे वह किसी के भी खिलाफ क्यों न हो—छोटे-से-छोटा या बड़े-से-बड़ा—और जो पुलिस कर्मचारी या अधिकारी ऐसी हिंसात्मक कार्यवाही करे उसे सख्त सजा दी जाये जिससे कि पुलिस का रवैया आमूलचूल बदले और देश की हालत में एक स्तर पर सुधार हो।

आशा की जानी चाहिए कि लेखक और बुद्धिजीवी अपनी बिरादरी पर हुए अन्याय के खिलाफ तो आवाज़ उठायेंगे ही उन तमाम बेजबानों पर होनेवाले अन्याय के खिलाफ भी आवाज उठायेंगे जो व्यवस्था के अलोकतन्त्रीय आचरण से हर प्रकार की यातना झेल रहे हैं।

गिलहरियों का विरोध-पत्र

प्रिय महोदय,

हम लोगों को लिखना-पढ़ना नहीं आता, इसका अर्थ यह नहीं है कि आप हमारी बात लोगों तक न पहुचायें। मैं आपके घर के सामने के पेड़ पर रहती हूँ। कभी-कभी आपके आँगन में भी पहुँच जाती हूँ और उसे कुछ देर के लिए अपना समझ उसमें दौड़-फिर लेती हूँ। फिर दीवार पर चढ़कर इसी पेड़ पर वापस आ जाती हूँ। क्या मैंने कभी आपका कोई नुकसान किया है? कुछ भी ऐसा जिससे आपको गुस्सा आया हो? आपने अक्सर मुझे देखा होगा। आपके बच्चे ज़रूर मुझे प्यार से देखते हैं और मुझे 'रामजी की पियारी' कहते हैं। जब से यह सृष्टि है हमारी नीति ने कभी किसी का नुकसान नहीं किया। हम चुपचाप पेड़ों पर रहते हैं। धरती पर उछल-कूद करते हैं और आप लोगों को आते-जाते देख तुरन्त पेड़ पर इसलिए चले जाते हैं कि आपको अपनी धरती पर घूमने-फिरने में हमारी वजह से कोई कष्ट न हो। हमारी उपस्थिति आपकी जिन्दगी में कहीं किसी तरह का व्याघात नहीं पहुँचाती। हम चिड़ियों की तरह शोर भी नहीं करते। अच्छा-बुरा कुछ नहीं गाते। सब मन में रखते हैं और खुश रहते हैं। चिड़ियों को आप कुछ-न-कुछ चुगने के लिए डालते हैं। हमें आप कुछ देंगे इतनी भी अपेक्षा हम आपसे नहीं करते। हम जानते हैं कि चिड़ियाँ आपको बहुत प्यारी हैं। हमें इससे कभी ईर्ष्या नहीं हुई। उनके लिए धरती है, आकाश है, नदियाँ हैं, झरने हैं और आपके घर भी हैं, जहाँ वह चाहें अपना घर बना लें और आप भी हैं खुद उनके लिए घर बना देनेवाले, उनको पाल लेने और सहारा देनेवाले। हमारे लिए केवल यह पेड़ है और अपनी इस नियति से हमें कोई शिकायत भी नहीं। न हमने पंखों की कामना की है, न पेड़ से अलग आपके घरों में अपना साम्राज्य बढ़ाने की। फिर आप लोग हमसे क्यों नाराज हैं, समझ में नहीं आता?

पिछले दिनों आपके आँगन के कूड़े में एक कलैण्डर पड़ा था। शायद बच्चों ने नोच-नोचकर फेंक दिया हो। इसमें आपके ही किसी भाईबन्धु का राष्ट्र के नाम एक सन्देश था। नाम तो याद नहीं रहा पर चश्मा लगाये चेहरा याद है जो उसमें छपा हुआ था। हम पेड़ पर रहनेवालों के लिए वह चेहरा पहचाना है। चेहरे से कोई शिकायत नहीं। पर जो सन्देश उसमें छपा है उससे हम चिन्ता में पड़ गये हैं और सोच रहे हैं, हमारी किस गलती के कारण आपका यह साथी हमारे प्रति इतना उग्र हो गया है। क्या हमने इन्सान से कोई सहानुभूति नहीं माँगी, इसलिए उसका अहं इतना जाग गया है कि वह हमारी जाति के विनाश के बारे में सोचने लगा है! वह सन्देश हम सबने सुना। हमारी एक बैठक हुई और यह तय पाया

गया कि हम उसके प्रति अपना विरोध आपको भेजें। यह जानते हुए भी कि आप आदमी हैं, आदमी का ही साथ देंगे। इतना ही नहीं, यह भी जानते हुए कि आदमियों में आप लेखक नाम के जन्तु हैं इसलिए इस जन्तु विशेष के हिमायती आप होंगे ही। फिर भी हमने तय पाया कि आप तक अपनी बात पहुँचा दें। इसीलिए आपके गरीब नौकर को, भला हो उसका जिसने हमें यह जानकारी दी, सबकुछ बता दिया। आपको मालूम नहीं पिछले दिनों मुझे उसने इतना प्यार किया था कि मैं उसकी जेब में रहती थी। आदमी का इतना प्यार हम लोगों को बिरले ही नसीब होता है। आपके भगवान राम ने प्यार से हमारी पीठ पर हाथ फेरा था। उनकी उँगलियों की धारियों का निशान आज तक हम अपनी पीठ पर सँजोये हुए हैं। जहाँ प्यार होता है वहाँ भाषा समझ में आती है। आपका नौकर हमारी, हम उसकी भाषा समझते हैं। जहाँ प्यार नहीं होता वहाँ उदासीनता भी समझ में आती है। आदमी की उदासीनता और उपेक्षा के हम आदी हो गये हैं और खुश हैं। नहीं सोचा था कि आपकी जाति में एक ऐसा नादिरशाह पैदा हो जायेगा जो हमारे विनाश का आह्वान करेगा।

आप गौर कीजिए, आपके इस नादिरशाह के कलेण्डर में राष्ट्र के नाम सन्देश में कहा है—

रात की सतह पर कब्र पर चढ़ी गिलहरी की तरह घूमते हुए भय को पहचानिए और अपने निर्मम व्यक्तित्व से उसका गला घोंट दीजिए।

देखा आपने ! हमारा गला घोंटने का आह्वान ! हम जैसे निरीह कमजोर प्राणी का आपके एक तानाशाह लेखक द्वारा ! आप तो कवि हैं, संवेदनशील भी हैं—आपका गरीब नौकर अक्सर हमें बताता रहा है कि आपने पालतू जंगली कुत्तों द्वारा हमारे चबा लिये जाने की यातना अपनी किन्हीं कविताओं में व्यक्त की है और हमारी ओर से हमारी चुस्ती, फुर्ती और पेड़ की डालियों से हमारे निराले रिश्ते की बात बच्चों तक की जबान पर चढ़ाई है। इसीलिए आप पर पूरा यकीन न होते हुए भी और यह मानते हुए भी कि आप अपने लेखक बन्धु का साथ देंगे, आपसे यह पूछती हूँ कि हमारे प्रति इतनी हिंसा का भाव क्यों ? यदि आदमी का भय आपके इस लेखक के (पता नहीं आप उसे कितना लेखक मानते हैं) विचार से मुझ गिलहरी की तरह है तो वह तो ज़रा-सी आहट से उड़नछू हो जायेगा। मैं भय का प्रतीक तो नहीं हूँ। हमारा वंश तो निरीहता और चंचलता का प्रतीक रहा है।

आपके राम ने इसीलिए हमें प्यार दिया था और आपका गरीब नौकर आज भी देता है। लेकिन यह कौन है जो इतना बहादुर है कि मेरा गला घोंटने का आवाहन करता है ! हिंसा और वह भी मुझ जैसी गिलहरी की, दो उँगलियों से किसका काम तमाम किया जा सकता है ! मेरी समझ में नहीं आता कि आदमी और वह भी कवि और लेखक कैसे निर्मम होने को कह सकता है और निरीह की हिंसा के लिए इनसान को ललकार सकता है। कहाँ से यह हिंसा आपकी जमात में आ गयी है ? क्या ताकत का इतना नशा, थोड़े रुतबे और चन्द टुकड़ों का इतना घमण्ड, आप कवियों में घुस गया है कि आप भीतर से तानाशाह हो गये हैं ! नादिर-शाह की तरह हम गिलहरियों के कत्लेआम का आदेश दे रहे हैं ! हो सकता है यह नासमझी हो, लेकिन नासमझी की हिंसा समझदार की हिंसा से ज्यादा खतरनाक होती है। समझदार को तो समझाया जा सकता है, नासमझ को आप क्या करेंगे। हो सकता है यह चालबाजी हो और यह चालबाज लेखक इस तरह तानाशाही हिंसा दिखाकर तानाशाही ताकतों के साथ अपनी गोट बिठा रहा है ! पता नहीं, आप जानें।

प्रिय महोदय ! कुछ ज्यादा कह दिया। आप तक यह कितना और किस रूप में पहुँचेगा, मैं नहीं जानती। यह भी नहीं जानती कि आपका यह स्नेही गरीब नौकर किस तरह से हमारी यह चिन्ता आपको बतायेगा और आप किस तरह से इसे दूसरों तक पहुँचायेंगे। यदि आपने यह कलेण्डर न देखा हो तो अपने नौकर से कहिए, उसके नुचे पन्ने आपको ढूँढ़कर ला दे। इसे इस वर्ष 'जबलपुर साहित्य संघ' ने अपनी स्वर्णजयन्ती पर प्रकाशित किया है ऐसा उसने बताया था। साहित्य क्या होता है यह आप जानें। हम तो पेड़ों की डालियों, हरी पत्तियों और खिली धूप को ही पहचानते हैं और इतना ही पहचानने के लिए जीते रहना चाहते हैं। यदि आप ही हमें मार न डालें।

—हम हैं
आपके देश की
निरीह दुखी गिलहरियाँ

कप्पा और बप्पा रे बप्पा

आकुतागावा को जापान के समुद्र के किनारे एक राक्षस मिल गया था 'कप्पा', जिसका सिर कड़ाही की तरह था। जब तक उसमें पानी भरा रहता था तब तक उसमें अद्वितीय शक्ति रहती थी लेकिन अगर पानी गिर गया तो एक बच्चा भी उसे पछाड़ सकता था। हाथियों तक को उठाकर मसल देनेवाले इस राक्षस कप्पा से आकुतागावा की भिड़न्त हो गयी। आखिर आकुतागावा लेखक थे। बिना ताकत के लड़ने के पैंतरे जानते थे। उससे लड़ पड़े और समुद्र तट से दौड़ाते-

दौड़ाते इतनी दूर ले आये कि उसकी सिर रूपी कड़ाही का सब पानी छलककर गिर गया और वह अशक्त हो गया। जब काबू में आ गया तो गिड़गिड़ाने लगा और पूछने लगा क्या चाहते हो? आकुतागावा ने कहा, "हम तुम्हारा देश देखना चाहते हैं," और फिर उन्होंने कप्पाओं का देश देखा, जिसका वर्णन उन्होंने अपने उपन्यास 'कप्पा' में किया है जिसे जापान सरकार ने जब्त कर लिया था।

सो पाठको! बतर्ज आकुतागावा के यह स्तम्भकार, समुद्र तो दिल्ली में है नहीं, यहाँ की एक गरजती सड़क के किनारे चहलकदमी कर रहा था कि एक सम्पादक मिले (इसे राक्षस का पर्याय न मानें) बप्पा रे बप्पा। उनका खोपड़ा भी तवे की तरह छिछला था। इसमें पानी नहीं मिट्टी का तेल भरा हुआ था। बजाय लड़ने के वह इस स्तम्भकार को देख खुद ही भाग खड़े हुए। आदिवासियों की नकल में उछल-उछलकर दौड़ रहे थे सो अपने आप ही खोपड़े का तेल छलक गया। अशक्त हो गये। घिघियाने लगे। बोले, आप क्या चाहते हैं? हमने कहा: "तुम्हारा देश देखना चाहते हैं।" सो हम उनके देश के लिए उनके पीछे-पीछे चले।

कप्पाओं के देश में जाने का रास्ता पहाड़ों के बीच कहीं सुरंग से होकर था पर हमारे बप्पा रे बप्पा के देश में जाने का रास्ता एक ज्योतिषी की हवेली के पूजाघर की बेदी के नीचे होकर था।

"क्या नाम है इस देश का?"

"तन्त्रज्योतिषाण्ड।"

पाठकगण! उसका वर्णन करने के लिए एक पूरी पुस्तक दरकार है और भारत सरकार द्वारा जब्त किये जाने का भी खतरा है। पर कुछ झलकियाँ आपको अब अपने इस स्तम्भ द्वारा दिखा देना चाहता हूँ।

तन्त्रज्योतिषाण्ड में सब काम अपने-आप चलता था। पूछने पर बप्पा रे बप्पा ने बताया: "यहाँ आदमी काम नहीं करते, ग्रह काम करते हैं, नक्षत्र काम करते हैं।"

"यहाँ कोई प्रशासन है?"

"वैसे तो नहीं पर नौ ग्रहों के नाम पर नौ मन्त्रालय हैं।"

"मन्त्रालयों में लोग तो होंगे ही जो उसे चलाते हों।"

"ग्रहों को कौन चलाता है! ग्रह अपने आप चलते हैं।"

एक मन्त्रालय में गया तो देखा आधे लोग सो रहे हैं। आधे ताश खेल रहे हैं, गप्प मार रहे हैं। फाइलें रेंग-रेंगकर खुद-ब-खुद आती हैं। कभी पहाड़ बन जाती हैं, कभी टीला। लौटते समय एक-आध मेरे जूते से चिपक गयीं। उलटकर एक देखी तो उसमें कुछ नहीं था, बस जगह-जगह जन्मकुण्डली जैसे ग्रहों के चित्र थे और वंश विवरण था। फाइल का नाम 'प्रगति नं. 3333' था। खैर किसी तरह उसे जूते

से छुड़ाकर भागा। देखा सड़क पर मोटरें आ-जा रही हैं। टकरा रही हैं।

"यह क्या हो रहा है? कोई यातायात पुलिस अधिकारी नहीं है?"

"नहीं, हमारे यहाँ पुलिस आदि की व्यवस्था नहीं है। ट्रैफिक अपने आप चलता है। हम मानते हैं दुर्घटनाएँ तो ग्रहों का विधान हैं। विपरीत ग्रह मिलते हैं, दुर्घटना हो जाती है। सही ग्रह रहते हैं तो नहीं होती। सो हमने ट्रैफिक नियन्त्रण व्यवस्था हटा दी है।"

"रेलगाड़ियाँ, हवाई जहाज?"

"सब बिना सिगनल के चलते हैं।"

आगे बढ़े तो एक अस्पताल दीखा। वहाँ कोई डाक्टर नहीं था। मरीज़ कराह रहे थे। मरीज़ जो जी में आता उठा-उठाकर दवा पी रहे थे। इधर से कोई आता तो कोई भी इंजेक्शन जिसको चाहता लगा देता। उधर से कोई आता तो आँख, कान, नाक जिसकी चाहता निकाल लेता, काट देता। पूछा तो वही जवाब:

"जिसके भाग्य में जो है वही हो रहा है।"

एक स्कूल दीख गया। भीतर चला गया। मास्टर नदारद। पता चला—ग्रहों के कारण कुछ हड़ताल पर हैं, कुछ राजनीति कर रहे हैं और बाकी पढ़ाते नहीं, गप्प मारते हैं।

"और पढ़ाई?"

"जिसके भाग्य में पढ़ना लिखा होता है, पढ़ जाता है, अनपढ़ रहना लिखा होता है, अनपढ़ रहता है। अव्वल आना होता है, अव्वल आ जाता है।" बप्पा रे बप्पा की बात सुन दिमाग सनाका खा गया। किताबों की दूकान पर गया तो सब किताबें ज्योतिष और तन्त्र पर ही थीं। सोचा एक अखबार खरीदें। इससे इस देश के कुछ और हालचाल मिलें। लेकिन जितने अखबार खरीदे सबमें ज्योतिष और तन्त्र पर ही लेख थे। पत्रिकाएँ देखीं तो सब ज्योतिष और तन्त्र पर निकल रही हैं। हैरत में पड़ पूछा:

"यहाँ लोग कुछ और नहीं पढ़ते?"

"हमारे यहाँ बस यही पढ़ा जाता है।"

दूकानों से कुछ खरीदना चाहा। सोचा, नाक पोंछने के लिए रूमाल ही ले लूं। तो हर दूकान पर रूमाल का दाम ग्रहों के अनुरूप अलग-अलग था। घूमते-घूमते थोड़ी ही देर में सिर चकरा गया। गला सूखने लगा। एक जगह कोल्डड्रिंक पीना चाहा तो उसमें मकड़ी पड़ी थी—पता चला वह मुझे पीनी ही पड़ेगी। मेरे भाग्य में वही है। मना किया। दूकानदार माना ही नहीं। बोला, "यही नियम है यहाँ। नहीं पियोगे तो कानून के तहत गिरफ्तार कर लिये जाओगे।" आखिर क्या करता, गले के नीचे उतार ली। एक दूकान पर कुछ खाने की चीज़ें मिल रही थीं। भूख के मारे बुरा हाल था। सोचा, तकदीर से लड़ ही जाऊँ। पूछ लिया—

"यह रोटी किस चीज़ की है ? सब्जी के मसाले में क्या है ?"

जवाब मिला, "जो आपके भाग्य में है।"

खाकर उबकाई आयी। दूकानदार के मुँह पर कै करने की इच्छा हुई। कै की भी। पर वह बच निकला। उसके भाग्य में बच जाना लिखा था और मेरे भाग्य में लीद खाना। बप्पा रे बप्पा की बात माननी पड़ी। पूछा, "आप कहाँ जा रहे हैं ?"

बोले—"मैं जो पत्रिका निकालता हूँ उसका ज्योतिष और तन्त्र पर विशेषांक निकाला है। अभी उसका उद्घाटन है। तन्त्रज्योतिषाण्ड देश के महातन्त्रपति उसका उद्घाटन कर रहे हैं। उसका सर्कुलेशन सत्तर करोड़ हो गया। चलिए, वहाँ इस देश में सभी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक, लेखक, बुद्धिजीवी, राजपुरुष मिल जायेंगे।"

पाठकगण ! क्षमा कीजिएगा। मुझे लग रहा था कि यदि आगे एक कदम भी चला तो चकराकर गिर पड़ूँगा। ढेर हो जाऊँगा। सो उस तन्त्रज्योतिषाण्ड देश से उल्टे पैर भाग खड़ा हुआ और तमाम जन्मकुण्डलियों से भरी आल्मारियों की चक्करदार गलियों से चूहे की तरह निकलता हुआ फिर दिल्ली की सड़क पर आ गया। अभी भी साँस भारी चल रही है। मितली बनी हुई है। पर सोचा, यह किस्सा लिख दूँ। शायद मेरे ग्रह में यही लिखना रह गया था।

औरत के लिए यही एक रास्ता बचा है

"यह मेरी जिन्दगी और मौत का सवाल है। मैं मानती हूँ आपके घर में आपकी बहन बुखार में पड़ी है। फिर भी थोड़ी देर के लिए आप कल प्रदर्शन में जरूर आयें। बस साढ़े दस बजे मण्डी हाउस पर होगी।"

जिस लड़की से वह यह कह रही थी उसे यह स्तम्भकार जानता है। उसके साथ 'मानुषी' पत्रिका की सम्पादिका मधु किश्वर भी थीं। दूसरे दिन अशोक विहार में प्रदर्शन हुआ। 'दिनमान' का एक प्रतिनिधि उस वक्त वहाँ मौजूद था। ठसाठस भरी बस से उतरकर कोई अस्सी लड़कियों-औरतों ने उस घर को घेर लिया। देखते-देखते पास-पड़ोस के तमाम लोग आ गये। दो घण्टे तक प्रदर्शन चलता रहा—नारे लगते रहे—"एम. पी. बत्रा शर्म करो, चुल्लू भर पानी में डूब मरो।" "शादी को व्यापार बनाया तीन बीवियों को मार भगाया।" एम. पी. बत्रा जब प्रदर्शनकारियों का सामना करने आये तो प्रदर्शन का नेतृत्व करती अपनी बीवी को खुलेआम गालियाँ देने और मार डालने की धमकी देने लगे और चिल्लाकर प्रदर्शनकारियों को गालियाँ देकर कहने लगे, वह हजार शादियाँ और करेंगे, यह उनका निजी मामला है। इस पर उनके मुँह पर कालिख पोत दी गयी ! उन्होंने दुबारा यह दोहराया और दुबारा कालिख पोत दी गयी। यहाँ यह जानकारी जरूरी है कि ये सम्भ्रान्त सज्जन तथाकथित पढ़े-लिखे हैं। गवर्नमेण्ट पालिटेक्नीक जी. टी. कर्नाल रोड में लेक्चरार हैं।

दूसरे दिन दिल्ली के सभी राष्ट्रीय पत्रों में मोटी सुर्खियों में यह समाचार था, कहीं मुख्य पृष्ठ पर भी—'बीवी और धनलोलुप पति' या 'पत्नी को सतानेवाले पति का मुह काला किया गया।" पता चला बत्रा महोदय दो शादियाँ पहले भी कर चुके हैं और दोनों बीवियों को तलाक दे चुके हैं। पहली बीवी से एक लड़का भी है जो बड़ा हो गया है। उनके साथ रहता है और उस दिन प्रदर्शनकारियों से ईंट, पत्थर, बैट लेकर भिड़ने को तैयार था। इन्होंने तीसरी शादी बिना पहली शादियों के बारे में बताये हुए इस औरत से की जिसका नाम सुदर्शन है, जो एक स्कूल में पढ़ाती है और जिसने प्रदर्शन संयोजित किया। शादी के कुछ दिन बाद ही उन्होंने इसे दहेज के लिए तंग करना शुरू किया। दो महीनों में उसका जमा किया हुआ 16 हजार रुपया वह हड़प गये। फिर स्कूटर और गहनों की माँग करने लगे और उसे मारने-पीटने, सताने और अपमानित करने लगे। शादी की खुशी में स्कूल की टीचरों ने दावत माँगी। उसने जिस दिन घर पर दावत दी थी उसी दिन दावत के समय के पहले ही उसके गिड़गिड़ाने पर भी उसे इन सम्भ्रान्त सज्जन ने घर से निकाल दिया। ताकि स्कूल में वह बदनाम और अपमानित हो। उसकी पत्नी सुदर्शन ने 'दिनमान' को बताया, "मेरे सामने दो ही रास्ते थे। या तो मैं उसी घर में पति के साथ रहूँ और आग में जलायी या मारी जाऊँ, खुराना की बीवी की तरह। या खुद आत्महत्या कर लूँ, आग लगा लूँ तमाम औरतों की तरह; या तलाक लेकर अलग रहूँ। अलग रहने की सोच जब तलाक के लिए आरजू की तो बत्रा साहब ने फरमाया, दस हजार रुपये दो तब सोचूँगा। गाली-गलौज, मार डालने की धमकी। घर से निकाले जाने की घटना तो आम बात हो गयी थी। अतः मैं घर छोड़कर चली आयी। मैं अपना सामान और तलाक चाहती हूँ ताकि शान्ति से जी सकूँ। पर जीना दूभर हो गया है। यह आदमी गालियाँ दे-देकर गन्दे टेलीफोन करता है। अकेले मैं क्या कर सकती थी ? 'मानुषी' ने मेरी मदद की। उसकी सम्पादिका मधु किश्वर मेरे साथ पति को समझाने उनके दफ्तर गयीं। उनका माँ-बहन की गन्दी गालियों से स्वागत किया गया।" कोई भी कलम उतने गन्दे अलफाज़ उतार नहीं सकती। 'दिनमान' को इसे बताने में इस सामाजिक कार्यकर्ता मधु किश्वर की जबान अटक रही थी। उसने बताया, "अब दूसरी बार प्रदर्शन होगा बत्रा के दफ्तर के सामने। इस बार यह प्रदर्शन और व्यापक स्तर पर होगा। क्या जागरूक जनता साथ देगी ? क्या करें ! बस यही एक रास्ता बचा है।

ऐसी स्थिति में और कोई रास्ता नहीं। पुलिस कुछ करती नहीं। उस दिन प्रदर्शन में पुलिस काफी देर में आयी। एफ. आई. आर. भी उस दिन काफी आनाकानी के बाद बेमन से दर्ज किया उसने। सारे अखबारों में यह खबर छपने के बाद भी दिल्ली प्रशासन ने अपने इस प्राध्यापक को कोई चेतावनी नहीं दी, कोई कार्यवाही नहीं की। यह व्यक्ति सारे पड़ोसियों द्वारा 'घृणित व्यक्ति' कहे जाने के बाद भी सीना ठोककर इस समाज में रहता है, क्योंकि उसे उन ताकतों का समर्थन प्राप्त है जिनसे वह डर सकता है। या यह कहिए कि वे ऐसी तकलीफदेह अमानवीय घटनाओं के प्रति उदासीन हैं।"

यह स्तम्भकार सोचने लगा, ठीक है औरत के मर जाने के बाद या मारे जाने के बाद प्रदर्शन करने से क्या फायदा? ज़रूरी यह है कि औरत के जीते जी उसका हक दिलाने के लिए, उसे बर्बरों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए प्रदर्शन करो और लड़ो। सतायी हुई औरत का साथ दो। ताकि दहेज को लेकर सतायी जानेवाली औरतों को लगे कि वे अकेली नहीं हैं। समाज उनके साथ है, ताकि वे अपने ऊपर होनेवाले अन्याय से लड़ सकें। मोहल्ले-मोहल्ले में 'मानुषी' जैसे सामाजिक कार्यकर्ताओं के संगठन होने चाहिए जो स्थानीय स्तर पर सतायी जाती औरत का साथ दें, क्योंकि अकेली औरत की लड़ते-लड़ते हिम्मत टूट जाती है और हर तरफ अँधेरा देख वह आग लगा जल मरती है। इन आत्महत्याओं को रोको। सरकारी कानून, पुलिस आज भी बड़े लोगों के लिए है, उनसे निरीह को सहारा नहीं मिल सकता। उसे सहारा देना होगा। उसकी ही जमात की तमाम पढ़ी-लिखी लड़कियों और औरतों को उसके साथ मिलकर उसकी लड़ाई लड़नी होगी। तभी धनलोलुप वहशी भेड़ियों को उनकी माँद में ही कैद रखा जा सकेगा और उनके दाँत उखाड़े जा सकेंगे। यह घटना यही रास्ता दिखाती है।

औरत के सामने हिन्दुस्तानी

हंगरी की फ़िल्में, जो साल में 20 से अधिक शायद ही बनती हों, इस समय विश्व की सबसे अच्छी कलाकृतियों में गिनी जाती हैं। भारत के सैंकड़ों फ़िल्म सालाना ब्योंतनेवाले व्यवसाय ने ढिशुंग-ढिशुंग करके जिनके दिमाग को पिलपिला कर दिया है ऐसे फ़िल्म समीक्षकों के लिए बड़ी मुश्किल हो रही है कि कैसे वे उन हंगरी फ़िल्मों को समझें, जिनका उत्सव आजकल नयी दिल्ली में हो रहा है और 15 तारीख के बाद मद्रास, जबलपुर, जयपुर, अमृतसर, गौहाटी तथा जमशेदपुर में होगा।

यह मुश्किल उन पेशेवरों की व्यक्तिगत समस्या होनी चाहिए पर जब उनमें से कोई एक इससे पार न पाकर हिंसा पर उतर आये तो समझिए कि उसने बम्बइया फ़िल्म के सम्पूर्ण समर्पण में हाथ उठा दिया। पिछले हफ्ते हंगरी से नयी दिल्ली आये अतिथि, दो निर्देशकों और एक अभिनेत्री के प्रेस सम्मेलन में ऐसी ही एक घटना घटी।

नयी काट का सूट पहने और रोबीली शक्ल बनाये एक नौजवान ने एक पर्चा उठाया और उस पर छपी दो तस्वीरों को दिखा-दिखाकर अपनी बनावटी अंग्रेज़ी में पूछने लगा, "मारी चोमोस जो सामने बैठी हुई हैं, इन दो में से कौन-सा चित्र उनका है?"

दो में से एक तस्वीर एक निर्वसन लड़की की थी। 'अधूरा वाक्य' नामक लम्बी और कसकर गुँथी हुई फ़िल्म में मारी की तरह वह भी काम करती है। उसका चेहरा सामने बैठी युवती का नहीं था। वह थी ही एक अन्य पात्र और एक अन्य अभिनेत्री। दूसरी तस्वीर मारी की थी और उसमें वह नंगी नहीं थी। यद्यपि अन्यत्र इसी फ़िल्म में उसकी सम्पूर्ण देह दीखती है। इस तस्वीर में उसका उदास चेहरा देखकर साफ पहचाना जा सकता था कि यही व्यक्ति सामने बैठा हुआ है। तो नौजवान फ़िल्म समीक्षक पर हंगारी आयोजकों ने एक तिरस्कार भरी दृष्टि डाली और कई स्वरों ने एक साथ उसे बताया कि वह जानबूझकर एक विकृत सेक्सबुद्धि दिखा रहा है—पर इन शब्दों में नहीं। वे स्वर विनम्र थे। उन्होंने यही कहा: "नहीं, नहीं, वह तस्वीर इनकी नहीं है, इनकी तस्वीर वह दूसरीवाली है।"

मोटी खालवाला वह हिन्दुस्तानी अपने में बड़ा खुश होता हुआ कि मैंने कितनी चतुरता दिखायी, बेशर्मी के साथ अपनी जगह बैठ गया। फिर आगे की बातचीत में उसको दिलचस्पी नहीं रही।

मारी के अत्यन्त संवेदनशील चेहरे पर एक क्षण को अपमान के असमंजस की चोट दिखी फिर उन्होंने इस छिछोरेपन को माफ कर दिया और सवालों के गम्भीर जवाब देती रहीं।

वह फ़िल्म समीक्षक करना क्या चाहता था? क्या वह यह बताना चाहता था कि सामने बैठी स्त्री की तस्वीर वह चेहरे से नहीं शरीर के अन्य हिस्सों से पहचानने की कोशिश कर रहा है और उसने सामने बैठी स्त्री को फ़िल्म में नंगे देखा हैं, पर उसे भ्रम हो रहा है और इसीलिए वह यह मासूम सवाल पूछ रहा है कि क्या नंगी होकर तुम ऐसी ही दीखती हो?

मारी का सम्पूर्ण देह इस फ़िल्म में जहाँ दिखती है वहाँ उस देह का दृश्य उसकी आत्मा के आन्तरिक संघर्ष की पीड़ा को खुलकर उघाड़ने के लिए इस्तेमाल किया गया है, दर्शक के दिमाग को सहलाने के लिए नहीं और वह 'नंगा' दृश्य अश्लील नहीं है। अश्लील वह प्रश्न था जो एक नंगी तस्वीर दिखाकर किया गया

था। कह सकते हैं कि नंगई वह थी।

शुद्ध देह को हंगारी निर्देशकों ने कितनी अर्थमयता दी है, यह न समझ पाना तो इस नौजवान की असमर्थता थी ही। स्त्री के शरीर को लेकर सामन्ती पाशविकता और आधुनिक निर्भीकता का जो मेल बम्बइया सिनेमा तैयार करता है, इस समीक्षक का आदर्श वही था। अश्लीलता की हमारी समझ बढ़ाने के लिए हम उसे धन्यवाद दे सकते हैं परन्तु आधुनिक भारतीय सभ्यता की यह मिसाल मेहमानों के सामने पेश करने के लिए हम उसका क्या करें? तत्काल तो ऐसे समीक्षकों को प्रेस सम्मेलन से धकियाकर निकाल देना एक और आधुनिक भारतीयता ही होगी इसलिए वह उचित नहीं। परन्तु पीछे से यदि ऐसे फ़िल्मी भाई ये पंक्तियाँ पढ़ रहे हों तो आगे ज़रा हिन्दुस्तान के नाम का ख्याल रखें।

अन्तरात्मा की आवाज़

पिछले दिनों यह स्तम्भकार एक अदेखे शहर में दाखिल हुआ। सूर्योदय का समय था। देखता क्या है-एक मेहतर झाड़ू सिरहाने रखे सड़क के बीचोंबीच सोया हुआ है। चारों ओर कूड़ा पड़ा है। पूछने पर यह पता चला—सफाई वह अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ पर करता है। यदि सारे दिन यह आवाज़ न आयी तो शाम को वह सफाई करेगा और यदि शाम को भी नहीं आयी तो नहीं करेगा। आगे बढ़ा तो देखा एक हलवाई जलेबी बना रहा है। अजीब बदबू आ रही है। पूछा—किस तेल में जलेबी बना रहा है, तो जवाब मिला, 'रेड़ी के तेल में।' बातचीत करने पर पता चला कि वह उसकी अन्तरात्मा की आवाज़ थी कि शुद्ध घी में जलेबी न बनाये। थोड़ी देर बाद क्या देखा कि एक पुलिसवाला एक आदमी को बुरी तरह पीट रहा है। हिम्मत करके पूछा—

"क्या कसूर किया है इसने?"

उसने जवाब दिया—

"कसूर की क्या जरूरत है? मेरी अन्तरात्मा की आवाज़ आयी इसे पीटो, मैं पीटने लगा।"

यह स्तम्भकार डर के मारे भाग खड़ा हुआ कि कहीं उसकी अन्तरात्मा की आवाज़ इस स्तम्भकार के लिए न आने लगे।

पाठको, सच पूछिए तो यह स्तम्भकार उस अदेखे शहर का यह हाल देख, इतने से ही घबरा गया था। लेकिन क्या करता, आप लोगों की खातिर उसे सारा

दिन उस शहर में बिताना था। सिर इतने में ही चकराने लगा था। जेब से सिरदर्द की गोली निकालकर सोचा कि चाय पी लें कि देखता क्या है, चायवाला चाय में मक्खी, चींटी सब मिला रहा है। पूछा—

"भई, यह क्या कर रहे हो?"

वह बोला—

"देखिए साहब! मक्खी तो अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ से चाय में गिरी है, चींटी मैं अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ से मिला रहा हूँ।" जी मिचलाने लगा। स्तम्भकार भाग खड़ा हुआ। पास के सरकारी अस्पताल में पहुँचकर साँस ली। डाक्टर को शिकायत बताने लगा तो डाक्टर ने कान में उँगली डाल ली और आँख बन्द करके बैठ गया। पूछने पर पता चला—"वह अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ पर अभी आपको कोई इन्जेक्शन लगायेगा। और यदि अन्तरात्मा की आवाज़ आपरेशन की आयी तो अभी आपके भेजे का आपरेशन कर देगा।"

पाठकगण! बताइए, अब यह स्तम्भकार क्या करता? आप लोगों के प्रेम के कारण भाग निकला। अपना भेजा तो चिरवाने से रहा। धूप तेज थी। अदालत के सामने एक पेड़ की छाँह में डरता-डरता सोया कि कहीं पेड़ अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ से ऊपर न गिर पड़े। चिड़ियाँ बीट तो कर ही रही थीं। पर पेड़ गिरा नहीं। कुछ देर बाद अचानक आँख खुल गयी। देखा, काला कोट पहने कोई आदमी अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ पर इस पर पेशाब करके जा रहा है। सोचा यह क्या बदतमीज़ी है। अदालत में जाकर शिकायत करे। अदालत ठसाठस भरी थी। कोई हत्या का मुकद्दमा चल रहा था। हत्यारे का वकील इस बात की दलील दे रहा था कि हत्या अन्तरात्मा की आवाज़ पर की गयी है। प्रतिपक्ष कह रहा था, नहीं। जज साहब आँख बन्द कर सो रहे थे। थोड़ी देर बाद उनकी आँख खुली। बोले—

"मैं आप लोगों के हित में सो गया था। मैंने आप लोगों की दलीलें नहीं सुनीं। अब मैं फ़ैसला कल अन्तरात्मा की आवाज़ पर दूँगा।"

यह स्तम्भकार सोचने लगा कि अन्तरात्मा की आवाज़ जरूर कोई शक्तिशाली चीज़ है अन्यथा यह शहर चलता कैसे? दिन-भर बसों में लोग अन्तरात्मा की आवाज़ पर धकियाते रहे, दूकानदार अन्तरात्मा की आवाज़ पर ज्यादा दाम वसूल करते रहे। सड़क पर बिना दायें-बायें का ख्याल किये सवारी गाड़ियाँ अन्तरात्मा की आवाज़ पर चल रही थीं, कुचल रही थीं। अन्तरात्मा की आवाज़ पर एक जगह उसकी जेब कट गयी। जेबकतरे को पकड़ा, तो चार आदमी अन्तरात्मा की आवाज़ पर चाकू निकालकर खड़े हो गये। कोई अन्तरात्मा की आवाज़ पर भरे बाजार किसी की घड़ी उतरवा रहा था, कोई गले से सोने की जंजीर खींचकर भाग रहा था। पुलिस अन्तरात्मा की आवाज़ पर जिसे चाहे पकड़ रही थी, जिसे चाहे छोड़ रही थी। किसी तरह बचता-बचाता अखबार के दफ्तर

पहुँचा। देखा बाहर ही मोटी-मोटी सुर्खी लगी हुई है :

'इस शहर में कोई एक बाहरी आदमी बिना अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ पर घूम रहा है। पकड़नेवाले को अन्तरात्मा के अनुसार इनाम दिया जायेगा।'

यह स्तम्भकार समझ गया कि इसे ही पकड़ने की तैयारी है। इसने सोचा, कम-से-कम पकड़े जाने के पूर्व वह यह पता तो लगा ले कि यह अन्तरात्मा की आवाज़ है क्या ?

एक बुद्धिजीवी अख़बार के दफ्तर में जाते दीखे। वेषभूषा, लगता था अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुरूप ही उन्होंने बना रखी थी। उनसे स्तम्भकार ने कहा—

"नमस्कार !"

फिर इन्तजार करता रहा कि जब उनकी अन्तरात्मा की आवाज़ आयेगी तब वह जवाब देंगे। पर वह कमबख्त आयी ही नहीं। वह एकटक इस स्तम्भकार को घूरते रहे। इसने हिम्मत करके कहा—

"महोदय, मैं 'दिनमान' से आया हूँ। हमारी पत्रिका 'अन्तरात्मा विशेषांक' निकालने की तैयारी कर रही है। आपसे कुछ जानकारी चाहिए।"

"पूछिए?"

"इस अन्तरात्मा के बारे में आपकी क्या राय है ?"

"बहुत अच्छी चीज़ है। हम लेखकों और कलाकारों के लिए तो बहुत ही जरूरी है। राजनीतिक व्यक्ति की अन्तरात्मा की आवाज़ दबाव में आकर थोड़ी कमजोर भी हो सकती है पर हमारी तो मर जाती है, अतः हम कोई दबाव नहीं स्वीकार करते। जो चाहते हैं वह लिखते हैं, उसी का चित्रांकन करते हैं, उसी पर लेख लिखते हैं। हम तो चाहते हैं संगीत कार्यक्रमों में अन्तरात्मा की आवाज़ सुनायी जाये। सितार या सरोद के साथ अन्तरात्मावादन भी हो सकता है। अन्तरात्मा प्रदर्शनी, अन्तरात्मा काव्य-सम्मेलन, सभी होना चाहिए। मैं इसी के लिए सरकारी सहायता की ज़रूरत पर एक बयान देने जा रहा हूँ।"

"अन्तरात्मावादन के बारे में आप कुछ और बतायेंगे ?"

"जी हाँ, इसके लिए बड़ी साधना करनी पड़ती है। सबसे बड़ी साधना तो यह है कि इसे कब बजाया जाये, इसके लिए अवसर खोजना पड़ता है। बड़े खास, विशेष अवसरों पर ही जब किसी बड़े अस्तित्व का प्रश्न आ खड़ा हो तभी यह अन्तरात्मावादन हो सकता है। वादक की कुशलता यह है कि सब इतने मुग्ध हो जायें कि कुछ सोचने का होश न रहे। किसी संकट की स्थिति में भी यह अन्तरात्मा-वादन हो सकता है। उस समय देखना होगा कि कोई चूं-चपड़ न करने पाये, नहीं तो वादन का सौन्दर्य नष्ट हो सकता है।"

"अन्तरात्मा की आवाज़ क़ानून, संविधान, व्यवस्था इन सबसे किस तरह

बड़ी है ?"

"इस तरह कि इन सबकी रचना मानव ने अन्तरात्मा की आवाज़ पर ही की है। यदि अन्तरात्मा की आवाज़ न होती तो संसार में कहीं, कानून, व्यवस्था और संविधान कुछ भी न होता।"

"कानून, व्यवस्था, संविधान के परे भी अन्तरात्मा की आवाज़ सुनना क्यों ज़रूरी है, जबकि इनकी रचना आपके कथनानुसार अन्तरात्मा की आवाज़ पर ही हुई है ?"

"इसलिए कि कभी-कभी व्यापक हितों को देखते हुए अन्तरात्मा की आवाज़ इतनी बड़ी हो जाती है कि कानून, व्यवस्था और संविधान सब उसके सामने छोटे लगने लगते हैं। वे काम निकालने लायक नहीं रह जाते।"

"जैसे ?"

"जैसे, यह सवाल करने पर कानून, व्यवस्था और संविधान किसी को रोक नहीं सकता—लेकिन अन्तरात्मा की आवाज़ रोक सकती है—मेरी अन्तरात्मा की आवाज़ यह कह रही है कि तुम इस शहर में बाहरी आदमी हो, तुम्हें गिरफ्तार कर लिया जाना चाहिए।"

लेखक को पुरस्कार

मारिशस में पोर्ट लुई से एक अखबार निकलता है 'जनता'। उसके 23 फरवरी के अंक में मोटे-मोटे अक्षरों में पहली खबर है : "हमें अत्यन्त क्षोभ है कि सोमदत्त बखोरी को विश्व हिन्दी पुरस्कार का गौरव मिला लेकिन देश की किसी हिन्दी संस्था ने उनका सम्मान करने की आवश्यकता नहीं समझी। यह उदासीनता हमारे देश के हिन्दी मठाधीशों के हिन्दीप्रेम का शर्मनाक नमूना है।' ये उद्गार प्रतिष्ठित साहित्यकार अभिमन्यु अनत ने हिन्दी लेखकों द्वारा आयोजित समारोह में प्रकट किये। समारोह भारत संस्कृति केन्द्र में आयोजित किया गया था। अभिमन्यु अनत ने यह भी कहा कि "इस पुरस्कार का नियमन करके भारत सरकार ने बहुत सामयिक कदम उठाया है। इससे विदेश में रहनेवाले हिन्दी सेवियों को गौरव और प्रोत्साहन मिलेगा।"

इस स्तम्भकार ने यह खबर बहुत ध्यान से पढ़ी। बखोरी को पुरस्कार दिये जाने की उसे खुशी हुई और अभिमन्यु अनत की बात सही लगी। मारिशस ही क्यों, हिन्दुस्तान में भी इस पुरस्कार की कोई चर्चा नहीं हुई। सच तो यह है कि

पुरस्कारों के पीछे सम्मान का भाव नहीं रहता, वे खानापूरी हो गये हैं। सरकारी बन्दरबांट के समय लेखकों के मद में भी थोड़ा धन निकाल दिया जाता है। प्रदेश सरकारें अपने-अपने बजट के हिसाब से पैसा बाँट देती हैं और इस तरह लेखकों को जो साधारणतया धनाभाव से ग्रस्त रहता है कुछ पैसा मिल जाता है। सम्मान तो उसका क्या होता है भला ! बस दान ही दे दिया जाता है। सरकार भी इसे सम्मान भाव से नहीं, दान भाव से देती है। सम्मान होता तो उसका निर्वाह होता, दान है तो उसका खाँचा बना हुआ है। पुरस्कृत लेखक प्रदेश की राजधानी में बुलाये जायेंगे। वह भी लेखकों की सुविधा पर नहीं, उस प्रदेश के मुख्यमन्त्री या किसी अन्य बड़े नेता की सुविधा पर जिसे यह पुरस्कार देने के लिए निमन्त्रित किया जाता है। वह नेता हैं, मुख्यमन्त्री हैं, दाता हैं, हवाई जहाज़ से उड़कर जायेंगे। लेखक बीमार हो, उसके पास समय न हो, व्यस्त हो तो भी उसे रेलगाड़ी से आना होगा अपना सम्मान कराने के लिए ? सम्मान का यह कौन-सा तरीका है ? कविराज गोपीनाथ को साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया था। अकादेमी पुरस्कार दिया था। फरमान गया, पुरस्कार लेने दिल्ली आओ। उन्होंने लिख भेजा—"मैंने पुरस्कार पाने के लिए नहीं लिखा था। आपको यदि मेरा काम पुरस्कार योग्य लगता हो तो आप मेरे घर आइए, पुरस्कार दे जाइए। मैं स्वीकार कर लूंगा।" बाद में अकादमी ने बनारस में उनके घर जाकर पुरस्कार दिया।

बुलाकर पुरस्कार देना सामन्ती तरीका है। आप कोई राजा हैं नहीं कि आपने बुला भेजा। पकड़वा मँगवाया और इनाम, बख्शीश दे दी। आप जनसेवक हैं, मन्त्री हैं, आपका सिलसिला है। आप क्यों नहीं पुरस्कृत व्यक्ति के नगर में या उसके घर पर सम्मान समारोह करते और अपने किसी शासकीय प्रतिनिधि से, क्योंकि उस नगर के किसी श्रेष्ठ कलाकार को तो आप पुरस्कार देनेवाला बनायेंगे नहीं, पुरस्कार उसे दिलवाकर अपने को धन्य मानते। सच तो यह है कि कलाकार को पुरस्कार देकर आप धन्य होते हैं, उसे धन्य नहीं करते। लेकिन यह सोच सामन्ती दिमागवाले इस लोकतन्त्र में अभी नहीं बना है।

इस स्तम्भकार को भी उसकी एक काव्य-पुस्तक पर दो प्रदेशों ने पुरस्कार दिया। हर बार इसी तरह 'आओ' का फरमान आया। और वह इसी उधेड़बुन में नहीं जा सका। दाता के अपने नियम होते हैं जो पानेवाले को छोटा महसूस कराते हैं। यह स्तम्भकार इससे बचना चाहता था। यदि कोई बड़ा साहित्यकार पुरस्कार दे रहा होता, उसके हाथों पुरस्कार दिलाया जा रहा होता, या किसी बड़े कलाकार के हाथों मिल रहा होता तो पुरस्कार लेने जाने में इतनी उधेड़बुन न होती। एक अतिरिक्त खुशी होती जो उस पुरस्कार को दीप्त करती। अब देनेवाला हाथ पुरस्कार को दीप्त नहीं करता। कभी-कभी ध्यान में आता है, वह कौन हाथ है जो पुरस्कार देगा। क्या उसने हाईस्कूल के बाद से कोई कविता पढ़ी है ? वह कृति तो शायद देखी भी नहीं होगी जिस पर उससे पुरस्कार दिलाया जा रहा है। फिर यह सामन्ती सिलसिला क्यों ? कब तक चलेगा ?

पुरस्कार पाना अच्छा लगता है। एक सीमा तक अपने रचनाकर्म के प्रति सन्तोष भी जगाता है। पर दूसरे ही क्षण कलाकार उससे उबर जाता है। और जब वह देखता है देनेवाला हाथ कौन है, किसकी सुविधा को ध्यान में रखकर, किसकी शर्त पर, किसके गौरव का हिस्सा वह बनने जा रहा है तो आत्मग्लानि से नहीं, उदासीनता से भर जाता है। फिर भी वह पुरस्कार स्वीकार करता है क्योंकि वह करदाता की पूँजी है, जनता का धन है, उस साधारण जन का हिस्सा है जिसके लिए वह लिख रहा है और जिसके सहारे की उसे ज़रूरत है ताकि अपना खून जलाकर वह उसके लिए और लिख सके और उसके योग्य खुद को सिद्ध कर सके।

सच तो यह है कि लेखक को पुरस्कार धन में न देकर उसे सुविधाएँ दी जानी चाहिएँ। घर, बच्चों की निःशुल्क शिक्षा, मुफ्त दवादारू आदि—यदि सचमुच लेखक का कल्याण अभीष्ट है।

सौन्दर्य कहाँ है ?

दिल्ली विश्वविद्यालय छात्र संघ की ओर से सूचना प्रचारित की गयी कि 23 मार्च को तालकटोरा उद्यान के क्रीड़ाघर में पुलिस की समुचित देखरेख में 'मिस दिल्ली विश्वविद्यालय प्रतियोगिता' आयोजित की जायेगी। जब यह सूचना अन्य लड़कियों के कालेजों को पहुँची तो अनेक में विशेषकर इन्द्रप्रस्थ कालेज में बवेला मच गया। उन्होंने छात्र संघ को विरोधपत्र भेजा। सख्त शब्दों में लिखा :

"यह ज्ञान का मन्दिर है। हम कोई जिन्स नहीं हैं कि हमारी नाप-तौल हो। यह सब व्यावसायिक बाज़ार में होता है, शिक्षा के प्रांगण में नहीं होगा।"

इस विरोधपत्र पर आठ स्त्रियों और छात्राओं के संगठनों के हस्ताक्षर थे। पत्र में कहा गया था, 'समाज में स्त्रियों के दमन को देखते हुए तो ज़िम्मेदार छात्र-समाज को स्त्रियों के हक के लिए लड़ना चाहिए न कि उन्हें उपभोक्ता सामग्री समझना चाहिए। उन्हें मानना चाहिए कि व्यक्तित्व का जहाँ तक सवाल है स्त्री और पुरुष समान हैं। हमारा ख्याल है कि जो चेतना नारी-सौन्दर्य-प्रतियोगिता कराती है वही लड़कियों को छेड़ती और परेशान करती है।' पत्र में धमकी भी दी गयी कि 'यदि यह सौन्दर्य-प्रतियोगिता रद्द नहीं की गयी तो लड़कियाँ सीधी कार्यवाही करेंगी।' मिस दिल्ली विश्वविद्यालय प्रतियोगिता 'स्त्री का अपमान

करना है।'

दिल्ली विश्वविद्यालय छात्र संघ ने सोचा भी नहीं था कि इस पर इतना तूफान मचेगा। उन्होंने सफाई जारी की कि यद्यपि प्रतियोगिता के निर्णायकों में एक सौन्दर्य प्रसाधन विशेषज्ञ भी होंगी लेकिन यह सौन्दर्य प्रतियोगिता नहीं है। यह व्यक्तित्व-प्रतियोगिता है। इसमें अंगों की नापजोख नहीं होगी। इसमें बुद्धिमत्ता, वाकपटुता और व्यवहार-कुशलता की जाँच की जायेगी। यह व्यक्तित्व-परीक्षण होगा न कि रूप-परीक्षण। भाग लेनेवालों को सौन्दर्य-प्रतियोगियों की तरह परेड भी नहीं करनी होगी, बल्कि उनकी जाँच-परीक्षा चुनाव के दो दिन पहले स्त्री निर्णायकों के द्वारा की जायेगी। कोई अशोभनीय घटना न हो इसलिए पुलिस की व्यवस्था की गयी है।

अखबारों में यह विवाद पढ़कर यह स्तम्भकार चकरा गया। सबसे पहले तो उसकी समझ में यही नहीं आया कि ऐसी 'व्यक्तित्व प्रतियोगिता की आज ही जरूरत क्यों महसूस की जा रही है, जबकि बसों में, सड़कों पर लड़कियों की छेड़-खानी को लेकर चारों तरफ इतना शोर हो और पूरा एक आन्दोलन ही चल रहा हो। ऐसे समय जब छेड़खानी में लड़की को खुलेआम बस में झापड़ मारने तक की खबरें आ रही हों, इस व्यक्तित्व-प्रतियोगिता का क्या मतलब है? कौन-सा सम्मान स्त्री को दिलाना चाहते हैं, कौन-सी नयी प्रतिष्ठा जिसके लिए ऐसी प्रतियोगिता आयोजित की जाये? नारी की शालीन मूर्ति को आप पुरस्कृत करेंगे और आपके भाई उसे भरे बाजार तिरस्कृत करेंगे। यह बात कुछ समझ में नहीं आयी। यदि दिल्ली विश्वविद्यालय छात्र संघ ने बसों और बाजारों में लड़कियों की निर्लज्ज छेड़खानी के विरुद्ध दस्ते बनाने का एलान किया होता तो शायद कुछ हवा बदलती। यह स्तम्भकार बड़ी आसानी से समझ सकता है कि छात्राओं ने ऐसा व्यक्तित्व-परीक्षण देने का घोर विरोध क्यों किया? उन्हें क्यों यह अपमानजनक लगा? क्यों उन्होंने सोचा कि इस आयोजन का परिणाम सीधा नहीं संशयात्मक है, कहीं नीयत अच्छी नहीं है? अन्यथा कोई भी लड़की यह सुनना अपमानजनक क्यों मानेगी कि वह दिल्ली विश्वविद्यालय की सबसे अधिक बुद्धिमान, शिष्ट, शालीन लड़की है। उन्हें लगा कि इसकी यह 'इमेज' न उभारकर ऐसी इमेज उभरेगी या उभारी जायेगी कि वह सबसे हसीन और तेज़ लड़की है। वैसे यह भी बुरा नहीं है। लेकिन माहौल बुरा है और बुरे माहौल में अच्छी चीज़ भी बुरी हो जाती है। सो हो गयी। छात्र संघ का उद्देश्य सही भी हो सकता है लेकिन वह ग़लत रोशनी में देखा गया।

अभी दिल्ली के एक राष्ट्रीय दैनिक में एक स्त्री पत्रकार का एक विवरण छपा था कि कैसे इन्द्रप्रस्थ कालेज की एक छात्र नेता को, जिसने छेड़खानी के विरुद्ध जुलूस निकालने में हिस्सा लिया था, भरी बस में एक लड़के ने झापड़ मार दिया

और सारी बस देखती रही। इस स्तम्भकार ने सोचा था शायद इस घटना की निन्दा दिल्ली विश्वविद्यालय छात्र संघ करेगा लेकिन अखबारों में उसकी निगाह में नहीं पड़ा। यह घटना अभद्र, अशोभनीय ही नहीं, घोर निन्दनीय है। आप बस में जाती एक लड़की को झापड़ मार सकते हैं सिर्फ यह दिखाने के लिए कि स्त्री-पुरुष समानता का उसका नारा गलत है, कम-से-कम शारीरिक रूप से पुरुष स्त्री से ज्यादा ताकतवर है। और इस घटना की ताईद करते हुए जैसे सभी टुकुर-टुकुर देखते रहे वैसे छात्र संघ भी देखता रहा, जो एक श्रेष्ठ व्यक्तित्ववाली लड़की को ताज पहनाना चाहता है। यदि छात्र संघ ने इस जगजाहिर अशोभनीय घटना की निन्दा ही नहीं की होती बल्कि अपनी ओर से छेड़खानी विरोधी छात्र दस्तों के निर्माण की घोषणा भी की होती तो इस स्तम्भकार का ख्याल है कि व्यक्तित्व-प्रतियोगिता को सही रोशनी में देखा जाता।

वैसे कौन लड़की ऐसी होगी जो यह नहीं चाहेगी कि वह बुद्धिमान, वाक्पटु और शालीन मानी जाये और उसके लिए पुरस्कृत हो। यह दूसरी बात है कि कुछ इससे असहमत हों कि मिस दिल्ली विश्वविद्यालय का यह ताज पहनाने उसे फिल्मी हीरो देवानन्द पधारें जिसकी योजना बनायी जा रही थी। लेकिन यह चाहना गलत चाहना नहीं है। हर लड़की यह भी चाहती है कि वह सुन्दर मानी जाये। सब मानें लेकिन कोई एक खासतौर से माने। इसीलिए वह इतना सजधज-शौक-श्रृंगार करती है।

विश्वविद्यालय और कालेज की लड़कियों के बारे में खासतौर पर यह कहा जाता है कि वह बहुत बनावसिंगार करती हैं। हर नया फैशन वहीं से चलता है और वहीं टूटता है। कालेजी छोकरियों के फैशन की नकल फिर समाज के अन्य तबके की लड़कियाँ भी करती हैं। फिर भी कालेज की लड़कियों ने सौन्दर्य प्रति-योगिता में जाने से इनकार किया। क्या बात है?

यह सवाल जिन लोगों के मन में उठता है उनके लिए ज़रूरी है कि इस पर गम्भीरता से विचार करें। कालेज की लड़की की 'इमेज' अब बदल रही है। वह अब उतनी फैशन की गुड़िया नहीं रही जितना कि उसे समझा जाता है। वह खुद को बदल रही है और समाज को उसे बदलने में भरपूर योग देना चाहिए। वह लड़कों के ही समान है और उनके साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर समाज की पुनर्प्रतिष्ठा में योग देना चाहती है। यह क्षण उसे अपमानित करने का नहीं बल्कि उसके योग को स्वीकार करने और उसके लिए मार्ग प्रशस्त करने का है। हीन-भावना से ग्रस्त कुछ छात्र अक्सर छात्राओं का अनादर करते हैं लेकिन इससे चेतना सम्पन्न व्यक्ति को ग्लानि ही होती है, उन्हें भी आत्मग्लानि होनी चाहिए। अच्छा हो यदि सौन्दर्य-प्रतियोगिताएँ न हों। और यदि हों तो उनको बाज़ारू रूप न दिया जाये जैसा कि विज्ञापन के लिए व्यावसायिक फर्में करती हैं। बल्कि यह

मानकर चला जाये कि बहादुरी और निर्भीकता सौन्दर्य का विशेष अंग है। अतः सबसे बहादुर और निर्भीक लड़की ही चुनी जाये और उसे समादृत किया जाये। इस स्तम्भकार को खुशी है कि कालेज और विश्वविद्यालय की छात्राओं के मन में शारीरिक नापजोख के खिलाफ चेतना उत्पन्न हुई है और बाजारू सौन्दर्य प्रतियोगिता को उन्होंने अपमानजनक बताया है। अब जरूरत इतनी ही है कि वह साहस-निर्भीकता जैसे सौन्दर्य के गुणों को और दृढ़ता से अपनायें और एलान करें कि वे मिस्टर दिल्ली विश्वविद्यालय के रूप में ऐसे छात्रों को पुरस्कृत करेंगी जो सौम्य, शिष्ट, शालीन हों, समाज में भद्र आचरण करें और नयी समाज-रचना में तनमन से विसर्जित हों। मिस दिल्ली विश्वविद्यालय का जवाब उनकी ओर से यही हो सकता है—माकूल जवाब।

सुख लो और अपमानित करो

अखबार एक ओर रखते हुए एक सज्जन, जो शर्माजी के यहाँ अक्सर आते-जाते हैं, बोले—

"लगता है इस देश में पुंसत्व बहुत बढ़ गया है।"

"क्या मतलब?" शर्माजी ने पूछा।

"अखबार उठाइए—जहाँ देखिए, वहाँ बलात्कार की खबरें।"

"बलात्कार तो सारे राजनीतिज्ञ मिलकर जनता के साथ कर रहे हैं।"

"वो तो ठीक है। लेकिन मैं पुरुषों द्वारा स्त्री पर बलात्कार की बात कह रहा हूँ। आपकी क्या राय है?"

"कह नहीं सकता। पता नहीं बलात्कार ज्यादा बढ़े हैं या बलात्कार की खबरें ज्यादा छापने की प्रवृत्ति। अखबारवालों को बलात्कार की खबरें छापने में चटपटा मसाला छापने जैसा मजा आता है। पाठक की निगाह, वे जानते हैं, सबसे पहले बलात्कार की खबरों पर जायेगी। इन खबरों को इस तरह छापा जाता है जैसे उनमें मजा लिया जा रहा हो, इस तरह नहीं छापा जाता जिससे उस ग्लानि का पता चले जो ये खबरें भरती हैं।"

"यह तो खूब रहा! बजाय बलात्कार करनेवालों पर बरसने के आप अखबारवालों पर बरस रहे हैं, जो बलात्कार की खबरें छापते हैं। फिर उन पर बरसेंगे जो खबरें पढ़ते हैं।" स्तम्भकार ने कहा।

'हाँ। बलात्कार एक शर्मनाक घटना है। इसे न रस लेकर छापा जा सकता है, न रस लेकर पढ़ा जा सकता है। छापते और पढ़ते समय उस तकलीफ का अहसास

होना चाहिए जिसे वह औरत भोगती है जो तोड़ी गयी है। लेकिन यहाँ हालत यह है कि चटपटे मसाले की इतनी खोज है कि यदि बलात्कार करते हुए का चित्र मिल जाये तो अखबारवाले उसे लपककर छापें और पढ़नेवाले दीदा गड़ाकर उसे देखें। मैं इस प्रवृत्ति की निन्दा कर रहा हूँ। बलात्कार की खबर भूकम्प की खबर की तरह है, जहाँ घने अवसाद के अलावा और कुछ नहीं बच रहता। उस तहस-नहस में आप रस नहीं ले सकते।"

"तो क्या आप चाहते हैं इस तरह की खबरें न छापी जायें, न पढ़ी जायें?" स्तम्भकार ने पूछा।

"नहीं, ये खबरें पश्चाताप से छापी जायें और शर्म से पढ़ी जायें। लेकिन होता यह है कि शर्म और पश्चाताप कहीं नहीं है। छापने और पढ़नेवालों में तो नहीं ही है, बलात्कार जैसा जघन्य कर्म करनेवालों में भी नहीं है। वह सरेआम समाज में इस तरह सिर उठाकर घूमता है जैसे कोई मैदान फतह कर आया हो और उसका यश अखबारों द्वारा फैल रहा हो। मैं एक सरकारी अधिकारी को जानता हूँ जो कभी बलात्कार के कारण नौकरी से हटाये गये थे। वह आज भी एक प्रतिष्ठित नागरिक की तरह समाज में सिर उठाकर घूम रहे हैं जैसे वही एकमात्र पौरुष के पुंज हों। दुख इसी बात का है कोई उन पर लानत नहीं भेजता। न छापते समय अखबारवाले, न पढ़ते समय पाठक, न वह समाज जो उसे जानता है, जिसके बीच वह उठता-बैठता है। यदि ऐसे आदमी पर उसका परिचित समाज लानत भेजे, उस पर सामाजिक प्रतिबन्ध लगाये और उसे अप्रतिष्ठित करे तो आज बलात्कारों की बढ़ती हुई स्थिति सुधर सकती है। यदि बलात्कारी आदमी को चारों ओर घृणा से देखती निगाहें मिलें तो जो सजा उसे मिलेगी वह दूसरों के लिए भी उदाहरण होगी। लेकिन यह सजा उसे नहीं मिलती है। बस कानूनी खानापूरी हो जाती है और उस पर अपने दुराचरण के लिए समाज की ओर से कोई आँच नहीं आती।"

"क्या अत्यधिक पुंसत्वशील आदमी बलात्कार करता है? क्या यह रोग नहीं है? और यदि रोग है तो उसकी सामाजिक उपेक्षा क्यों?" शर्माजी के यहाँ आये सज्जन ने पूछा।

"नहीं, जिसमें पौरुष होता है वह बलात्कार नहीं करता। वह खुद सिर उठाकर जीना और सिर उठाकर जीने देने का मन्त्र अपनाता है—सुख लो और अपमानित करो का नहीं। कहीं-न-कहीं रोगी वह जरूर होता है। अपने को बस में न रख पाना, सन्तुलित न रख पाना एक तरह से रोग ही है। लेकिन यह छूत का रोग है। इस तरह के रोगी को समाज में फूलते-फलते देखकर इसका वंश बढ़ता है। लोग इसे एक नगण्य अपराध मान लेते हैं।"

"फिर बलात्कार करनेवाले आदमी के साथ क्या किया जाये?"

"मैं बता चुका हूँ। यदि किस्सा औरत की निजी अदालत से निकलकर समाज

की अदालत में आ गया है तो उसका सामाजिक दण्ड आदमी के भुगतने के लिए हो और औरत को बचाया जाये। औरत के मन से यह बात निकाल दी जाये कि बलात्कार के बाद वह समाज के लिए बेकार हो गयी। यह अहसास आदमी को कराया जाये कि वह बेकार हो गया, अब उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा। लेकिन होता इसका उलटा है। प्रताड़ित स्त्री समाज से बेगानी कर दी जाती है और प्रताड़क हैवान समाज का पूर्ववत हिस्सा बना रहता है।" शर्माजी ने कहा।

"आप ठीक कहते हैं। जो शर्म बलात्कार करनेवाले को और उसे पालनेवाले समाज को भोगनी चाहिए, उसे स्त्री भोगती है। सबसे ज्यादा मार उस निर्दोष पर ही पड़ती है।"

"वह कुछ ज्यादा ही भोगती है। औरत का यह मान लेना कि बलात्कार के बाद वह एकदम लुट गयी, गलत है। मैं उस औरत को माफ कर सकता हूँ जो बलात्कार के बाद हत्या का रास्ता न अपनाये, लेकिन उसे नहीं जो आत्महत्या का रास्ता अपनाती है। आत्महत्या का कोई कारण उसके लिए नहीं है, क्योंकि कसूर उसका नहीं है। उसने अपने शरीर की जिस सीमा तक रक्षा कर सकती थी, की। और अन्त में नहीं कर सकी तो एक लोलुप के हाथों अपमानित हुई। अपमानित होने पर आत्महत्या ही औरत के लिए रास्ता न रह जाये, यह सामाजिक अदालत को देखना है और उसे भी यह समझना चाहिए कि यह उसके लिए कम दूसरों के लिए शर्म की बात अधिक है।" शर्माजी ने कहा।

"आज का युग ही बलात्कार और हिंसा का है।" स्तम्भकार ने कहा।

"हाँ, आप विकसित पश्चिमी देशों को देखकर कह रहे होंगे। लेकिन अपने देश की स्थिति अभी ऐसी नहीं है। इसलिए ऐसी कुरूप घटनाएँ पश्चिम के मुकाबले कम हैं। लेकिन जिस तरह हत्या और बलात्कार की खबरों को रस लेकर छापा जाता है, और पढ़ा जाता है, और उस पर पूरा समाज निर्विकल्प मौन साधे रहता है। उसे देखकर आगाह करने की ज़रूरत महसूस होती है कि सामने गड्ढा है। मैं ऐसे आदमी की कल्पना नहीं कर सकता जो किसी को अपमानित कर और क्लेश पहुँचाकर अपना सुख लूटता है। यद्यपि आज मैं चारों तरफ ऐसे ही आदमियों से घिरा हूँ। चारों तरफ यही रवैया जारी है। जनता को अपमानित कर और नाना क्लेश पहुँचाकर आज का राजनीतिज्ञ सुख लूट रहा है। एक व्यापक बलात्कार के तहत पूरा समाज घुट रहा है, टूट रहा है। उसका सामना करना होगा। 'सुख लो और अपमानित करो, अब इस समाज में किसी भी स्तर पर नहीं चलने देना है।" शर्माजी ने कहा और गम्भीर चिन्ता में डूब गये। यह स्तम्भकार सोचने लगा कि यह कैसे सम्भव है। पाठकगण, आप उसकी मदद करें।

दिमाग की गुटर-गूँ

जिस दिन से अखबारों में यह खबर छपी है कि हरियाणा के मुख्यमन्त्री भजनलाल ने यह एलान किया है कि वह उस व्यक्ति को एक लाख रुपया देंगे और राज-पण्डित की उपाधि से सम्मानित करेंगे जो यह बता सके कि कुरुक्षेत्र में भगवान कृष्ण ने किस जगह गीता का उपदेश दिया था, शर्माजी के एक मित्र बहुत उतावले हो रहे हैं यह पुरस्कार और सम्मान जीतने के लिए। उनका कहना है कि वह सिद्ध कर सकते हैं, किस जगह गीता का उपदेश दिया गया था और इस स्तम्भकार को और शर्माजी को वह जगह ले जाकर दिखाने को तैयार हैं। बहुत पीछे पड़े हुए हैं कि चलकर वह जगह देख ली जाये। शर्माजी ने उनसे कहा—

"आपको इतना भी नहीं मालूम कि यह जानने की चेष्टा करना ही बकवास है।"

"बकवास क्यों है? एक लाख रुपया मिल रहा है!"

"बकवास इसलिए कि जहाँ गीता का उपदेश दिया गया होगा वहाँ कोई स्मारक खड़ा करने का संकेत तो पुराण में कहीं मिलता नहीं। यदि ऐसा होता तो भी खुदाई करके उसका भग्नावशेष खोजा जा सकता था। फिर कृष्ण और गीता कोई ऐतिहासिक प्रमाण तो नहीं रखते। पौराणिक साहित्य के ही अंश हैं।"

"मुझे इतिहास और पुराण के विवाद में नहीं पड़ना है। मेरे लिए तो केवल इतना ज़रूरी है कि मैं यह सिद्ध कर दूँ कि अमुक स्थल पर गीता का उपदेश दिया गया था। मैं वह जगह देख भी आया हूँ और निशान भी लगा आया हूँ।"

"एक ऐसी बात जिसके सींग-पूँछ के बारे में कुछ पता ही नहीं, आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं? काव्य सत्य को तथ्य में कैसे बदल सकते हैं?"

"बहुत आसान है। दूसरा कैसे यह सिद्ध कर सकता है कि यह स्थान गीता-उपदेश-स्थान नहीं है? देखा तो किसी ने नहीं। केवल तर्क द्वारा यह सिद्ध ही करना है। मैं तर्क द्वारा सिद्ध कर ले जाऊँगा।" शर्माजी के मित्र ने बड़े विश्वास से कहा।

"कैसे सिद्ध कर ले जायेंगे?" शर्माजी हँसे।

शर्माजी के मित्र ने जेब से एक फोटो निकाली जो कुरुक्षेत्र-मैदान के किसी खाली जगह की थी और एक गड्ढे पर उँगली रखकर बोले—'देखिए, यही वह स्थान है। यहाँ भगवान कृष्ण का रथ काफ़ी देर तक खड़ा रहा था, इसीलिए यहाँ की धरती अभी तक दबी हुई है। यह गड्ढा पुरातन काल से है। सारे गड्ढे बरसात और आँधी में पट जाते हैं, बताइए, यह गड्ढा क्यों नहीं पटा? इससे साफ़ जाहिर है यहाँ कुछ अलौकिक घटा था। कोई यह सिद्ध नहीं कर सकता कि यह गड्ढा

महाभारत काल का नहीं है। न ही यह सिद्ध कर सकता है कि जहाँ ऐसी दिव्यदृष्टि-सम्पन्न अलौकिक घटना घटी हो वहाँ की धरती पर इसका असर नहीं पड़ेगा। यह गड्ढा अनुग्रहीत धरती का कृष्ण के अमर उपदेश के प्रति पूजांजलि है।"

"यह तो किसी भी गड्ढे के बारे में कहा जा सकता है?" शर्माजी ने कहा।

"लेकिन, मैं तो इसी एक गड्ढे के बारे में कह रहा हूँ," शर्माजी के मित्र बोले।

"दूसरा तर्क?" शर्माजी फिर हँसे।

"दूसरा तर्क है कि इस स्थल का इतना प्रताप है कि यहाँ पर बैठकर आज तक किसी भिखारी ने भीख नहीं माँगी। इस देश के चप्पे-चप्पे पर भीख माँगनेवालों के चरण पड़े हैं, केवल यही वह जगह है जहाँ उनके चरण नहीं पड़े। कर्म करने की बात इस ज़मीन के टुकड़े के प्राणों में बस गयी है। दूसरे यह भी कि यहाँ बैठकर भीख माँगने का मतलब ही फल की आशा न करना होगा। यहाँ बैठकर यदि भीख कोई माँगता भी है तो उसे मिलने की कोई आशा नहीं करनी चाहिए।"

"यह तो कोई प्रमाण नहीं हुआ। तुम्हारी घोषणा के बाद यदि कोई वहाँ बैठकर भीख माँगने लगे?"

"कैसे अब माँग सकता है? यह गीता का प्रवचन स्थल है, इसे नापाक करने की किसी की जुर्रत नहीं पड़ सकती। जब मैंने उसे गीता-स्थल घोषित कर दिया तो ऐसी हिम्मत कोई कर कैसे सकता है?" शर्माजी के मित्र ने कहा।

"यदि किसी ने किया तो?"

"मैं उसे मारूँगा।"

"पकड़े जाओगे?"

"क्यों पकड़ा जाऊँगा। यह उस स्थल के पक्ष में जायेगा जहाँ अन्याय के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने को कहा गया था। इससे तो और सिद्ध हो जायेगा कि यही वह स्थल है जहाँ से लड़ने का भाव अर्जुन में आया था। इससे अधिक प्रमाण क्या चाहिए कि आज भी वहाँ पहुँचते ही लड़ने का भाव अपने आप उमड़ आता है। मेरे अन्दर लड़ने का भाव आने से ही यह सिद्ध हो जायेगा कि यही वह पवित्र स्थल है। आज भी वहाँ वैराग्य का नहीं, लड़ने का भाव आता है।"

शर्माजी ने स्तम्भकार से कहा—

"देख रहे हैं आप, कहाँ-कहाँ दिमाग गुटर-गूँ कर रहा है लोगों का। इस तरह की अनर्गल खोज के लिए लोगों को उकसाकर क्या मिला? हर आदमी सूत न कपास जुलाहे से लट्ठम-लट्ठा कर रहा है। गीता का उपदेश किस जगह दिया गया था, इसे जानने की जरूरत? गीता में जो कहा गया है उसे जानने की जरूरत तो समझ में आती है। यदि किसी को राजपण्डित की उपाधि और एक लाख रुपया देने की इच्छा है तो उसके लिए यह सब करने की क्या जरूरत है? दे दीजिए। उसके लिए कोई वैज्ञानिक, कोई तथ्यपरक मसला रख दीजिए। हरियाणा का

प्रामाणिक इतिहास लिखवा लीजिए। इस तरह का सवाल उठाकर लोगों को शेख-चिल्ली तो मत बनाइए।"

शर्माजी की बात स्तम्भकार की भी समझ में आ रही है। जब से यह फुलझड़ी अखबारों में छूटी है, तब से उसने तमाम शेखचिल्ली दिमाग बेपर की उड़ाते देखे हैं। एक-से-एक लन्तरानियाँ लोग हाँक रहे हैं। एक लाख रुपया बहुत होता है। लोगों को घर बैठे अच्छे-खासे मनोरंजन का साधन मिल गया है। यह देश यों ही गपोड़ी है और अब गप-शप की चारों तरफ बहार छायी हुई है। एक साहब ऐसा यन्त्र बना रहे हैं जिसमें गीता के पृष्ठ डालते ही ठीक उस जगह सुई रुक जायेगी जहाँ गीता का प्रवचन हुआ था। हाथ का कमाल है उनका। वह वैज्ञानिक रीति से यह प्रवचनवाला मामला हल करना चाहते हैं। आखिर जब कमाल का सवाल रखा गया हो तो कमाल के जवाब लोग देंगे ही। तो लीजिए, अब कमाल-ही-कमाल देखने को मिलेगा। बस इतना ही ध्यान रखियेगा कि कहीं आपका भी दिमाग गुटर-गूँ न करने लग जाये।

गरीब और राशन कार्ड

चार-पाँच महीने पहले की बात है। वह औरत काफी परेशानी की हालत में आयी और बोली—"साब, हमारा राशन कार्ड बनवा दो। दौड़ते-दौड़ते थक गये साब, हमारी कोई नहीं सुनता।"

"तुम कब से दिल्ली में रह रही हो?"

"जमाना हुआ साब! यहीं पैदा हुए।"

"फिर राशन कार्ड क्यों नहीं बनवाया?"

"इसी झंझट के कारण। हम झुग्गीवालों को बहुत तंग करते हैं। कारड बनाते नहीं। कहते हैं झुग्गीवालों का कारड नहीं बनता। हाथ-पैर जोड़ो तो बहुत पैसा माँगते हैं। कहाँ से इतना पैसा लायें। अब मुश्किल होय रही है साब! बिना कारड के नहीं चल रहा है। आपकी सिफारिस होय जाये तो···"

उसका नाम-पता लिखकर रख लिया। वह चली गयी। सोचा राशन-अधिकारी को लिखेंगे, पर एक की जरूरत और दूसरे के समय निकालने के बीच कभी-कभी काफी लम्बी दूरी हो जाती है। सो यह मामला खिंच गया। अभी पिछले दिन वह फिर आयी। परेशान भी थी और कुछ खिझलायी हुई। गुस्से में बोली, "कुछ कीजिए साब! अब देखो, हमारा राशन कारड रख लिया। बोलता

है, इसकी तारीख बढ़वानी पड़ेगी, दस रुपया लाओ। हम कहा, हम गरीब आदमी कहाँ से इतना रुपया लावें। तो कहता है तभी तो तुमसे दस रुपया माँग रहे हैं। उतने में ही काम करवा देंगे। सबसे पन्द्रह लेते हैं। अब देखो साब, ई जादती है कि नहीं? पच्चीस रुपया देकर कारड बनवाया। बोले तीन महीने बाद तारीख डलवाना, कच्चा कारड बना है। तीन महीने बाद फिर दस रुपया दिया, तारीख डलवायी और साब अभी चौथा महीना है, बोला कि सब कारड कैंसिल हो गये हैं। 15 रुपया लाओ, इन्हें फिर से बनवाना पड़ेगा। अब देखो, जब 10 रुपया तारीख डलाने का दिया तो कहा कि 7 महीने तक का हो गया। अब एक महीना बाद कहता है कैंसिल हो गया! ई जादती है कि नहीं साब?"

"तुम्हारे साथ ही ऐसा हुआ है कि सबके साथ हो रहा है?"

"कारड तो बहुत रखे हैं साब! कहता है।"

"कौन कहता है?"

"राशनवाला दूकानदार साब! कहता है सबसे 15-15 रुपया लेगा कारड नया कराने का। इस साल बने सारे कारड कैंसिल हो गये हैं। हमने कहा, हम गरीब आदमी कहाँ से दें? तो कहता है कि हम को भी तो ऊपर देना पड़ता है, हम कहाँ से देंगे?"

फिर थोड़ी देर बाद रुककर बोली—

"सब मिले हैं साब!"

"अब क्या करोगी?"

"क्या बतायें साब! रोज-रोज रुपया कहाँ से लायें। आप बताओ क्या करें? आप कुछ कह सुन दो। चीनी के बिना काम नहीं चलता साब! नहीं तो और बाबू लोगों के कारड पर राशन लेकर काम चला लेते। पर चीनी सभी को चाहिए। चीनी, मिट्टी का तेल, कोयला बिना कैसे काम चले। ढाई रुपये में एक बोतल मिलता है। बच्चे न होते तो चला भी लेते।"

"राशन कार्ड कहाँ है?"

"दूकानदार ने रख लिया है।" फिर चुप हो गयी।

"तारीख डलवाने के पैसे सबको देने पड़ते हैं?"

"हाँ, झुग्गीवालों को, सबको। लेकिन साल-छह महीने में एक बार। यहाँ तो रोज-रोज माँग रहे हैं साब!"

वह सिर झुकाये चली गयी।

इसकी शिकायत किससे की जाये? राजधानी के लाखों झुग्गीवालों को राशन दफ्तर के इस भ्रष्टाचार का सामना करना पड़ रहा है। दूकानदार और राशन क्लर्क और शायद अधिकारी भी, सभी उनको नोचने और लूटने में मिले हुए हैं। पुलिस से कहें? क्या वह घूसबन्दी में मदद करेगी? बड़े अधिकारियों से कहें? क्या वे इसकी जाँच-पड़ताल करेंगे, इसे रोकेंगे? राजनीतिक दलों से, सामाजिक कार्यकर्ताओं से कहें? क्या वह बिना यह हिसाब बैठाये कि चुनाव के लिए इनकी संख्या कितनी है इनकी मदद करेंगे? यदि कोई इनकी लड़ाई के साथ लड़ने को तैयार हो—पुलिस, राशन-अधिकारी, सामाजिक कार्यकर्ता, तो उसकी जानकारी के लिए यह औरत 28 नम्बर धोबीघाट महावत खाँ रोड (गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान के पीछे की सड़क) पर झुग्गियों में रहती है और वह राशन का दूकानदार इन्हीं झुग्गीवालों का राशन का दूकानदार है। वहीं रहता है। दूकानदार का पता इस धोबीघाट का कोई भी धोबी बता सकता है। और इस औरत की परेशानी वहाँ रहनेवाले किसी भी धोबी की परेशानी से जानी जा सकती है।

जानवर और नारी

आज से 40 बरस पहले यथार्थवाद का अर्थ था—शराब और औरत। मतलब साहित्य के यथार्थवाद से है। बात भी उसी की हो रही है क्योंकि कलकत्ते के एक साप्ताहिक ने पेशा करनेवाली स्त्रियों से कुछ वार्तालाप शब्दश: छापकर उसी गुजरे ज़माने की याद एकाएक जगा दी है।

उस ज़माने में हिन्दी का लेखक कहता था कि जीवन का सच्चा अनुभव प्राप्त करने वेश्या के घर जा रहा हूँ और कभी-कभी तो सचमुच उस दुखियारी स्त्री की कहानी उसकी जबानी लिख भी डालता था। जिस समाज ने इस औरत को वेश्या बनने पर मजबूर किया उसकी निर्दयता पर आँसू बहाते हुए लेखक यह भी अनुभव करता था कि उसने कहीं पर ज़रूर उस समाज पर चोट की है। क्या यह चोट काफी नहीं कि वह वेश्या के कोठे पर खुद गया—और नहीं भी गया तो क्या यही कुछ कम है कि वह वेश्या को साहित्य का विषय बना रहा है? शीघ्र ही ऐसा बहुत-सा साहित्य हिन्दी में पैदा हो गया जो उस समय के प्रतिमान से क्रान्तिकारी भी था और कामोत्तेजक भी। परन्तु कुल मिलाकर वह क्रान्ति का झण्डा या खड़ा होने योग्य कुछ भी खड़ा करने में बहुत अक्षम था। और तवायफों में से कितनों का उद्धार उस साहित्य ने या उस समाज ने किया, यह पूछना बेकार है। उद्धार करने की आकांक्षा होती भी कहाँ से? सभी तो वेश्याओं पर तरस खाकर उन्हें पूजने लगे थे।

सिर्फ एक किताब याद आती है जिसमें कुछ जान थी। उसका नाम था, 'समाज की चिनगारियाँ' और वह लिखी थी जहूरबख्श ने। वही जहूरबख्श जिन्होंने वीरों की कहानियाँ बच्चों के लिए भी लिखी थीं और जिनका घर कुछ बरस पीछे

साम्प्रदायिक दंगे में जला दिया गया था। 'समाज की चिनगारियाँ' में शायद दस-पन्द्रह कहानियाँ थीं : हर एक किसी ऐसी औरत की रामकहानी जिसे हिन्दुओं के अत्याचारों से भागकर मुसलमान या वेश्या होना पड़ा था।

कलकत्ते के समाजवादी साप्ताहिक 'चौरंगीवार्ता' के लेखक ने जिन औरतों से बात की है उन्हें आज धर्म बदलकर समाज के अत्याचारों से बच लेने की सुविधा नहीं है। स्त्री का व्यापार 50 वर्ष में पूँजीवाद की उन्नति के साथ-साथ बढ़कर बहुत बड़ा कारोबार हो गया है और 'चौरंगीवार्ता' से अपनी कहानी सुनानेवाली औरतें उसकी सबसे निचली सीढ़ी पर खड़ी हैं। वे कभी-कभी तो इतनी भाव-विहीन सत्यपरकता से कोई-कोई बात कहती हैं कि सत्य भयंकर हो उठता है। बातचीत एकदम गैरबनावटी है, इसीलिए थोड़े में पूरी असलियत बता देती है।

श्री रमेशचन्द्र सिंह द्वारा सम्पादित 'चौरंगीवार्ता' साधारण मूल्य का अखबार है : सिर्फ 20 पैसा प्रति अंक। और प्रकाशित भी किसी प्रकाण्ड दूकान से नहीं होता—प्रकाशक हैं प्रख्यात समाजवादी श्री यमुनासिंह, इण्डियन मिरर स्ट्रीट। इससे उसकी यह लेखमाला बहुत प्रचारित नहीं हो पा रही है। किन्तु जिन्होंने इसे पढ़ा होगा, उन्होंने एक बार समझा होगा कि आज के समाज में पुरुष स्त्री के प्रति कितना नृशंस हो गया है। यदि कहीं उन कवियों ने भी इसे पढ़ा हो जो 1966-67 में राजनैतिक सत्ता के डगमगाने पर घबराकर सारा संत्रास औरत की जाँघों पर उतारने लगे थे तो उन्हें एक बार कलकत्ते के उन स्थानों में जाना चाहिए, जिनका जिक्र वार्ता में आया है। वहाँ वही जाँघें कुछ पैसों में मिल जायेंगी। पर वे जायेंगे नहीं। वे गुस्सा भी उसी औरत पर उतारते हैं जो उन्हें मिल नहीं सकती।

आँख की किरकिरी

पिछले दिनों दिल्ली के एक अंग्रेजी दैनिक में 'एक लोकसभा सदस्य की पत्नी' की एक चिट्ठी छपी—सम्पादक के नाम। पता नहीं कितने लोगों की नजर इस पर गयी और इसे पढ़कर लोगों के मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई? लेकिन अधिकारियों की नजर तो शायद इस पर गयी ही होगी और हो सकता है कि इसके अनुरूप कुछ कार्रवाई भी शुरू कर दी जाये—बहुत सम्भव है, क्योंकि पत्र किसी साधारण जन का नहीं, एक 'लोकसभा सदस्य की पत्नी' का है। पत्र में लिखा था : 'लिटन रोड में 7 जून को 'श्रीमती मरगाथम चन्द्रशेखर के पति श्री राघवेलु चन्द्रशेखर एम. पी. को छुरा भोंके जाने की घटना (और फलस्वरूप बाद में अस्पताल में उनकी मृत्यु)

से कानून और व्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारियों को सतर्क हो जाना चाहिए। एम. पी. बँगलों के आस-पास कई ऐसे क्षेत्र हैं, 'जिन्हें किसी के अधिकार क्षेत्र में नहीं' वाली ज़मीन कहा जा सकता है, और जहाँ पर अनधिकृत झुग्गियाँ खड़ी कर दी गयी हैं, जिनमें अवांछित गतिविधियोंवाले अवांछित लोग रहते हैं, बँगलों के नौकरों के क्वार्टरों से इन झुग्गियों की निकटता के कारण, इनकी आपसी साँठगाँठ से चोरियाँ-डकैतियाँ सम्भव हो सकती हैं (और होती हैं), कोई भी इन लोगों पर हाथ नहीं उठा सकता, क्योंकि इनके सर पर 'बड़े' दादाओं का हाथ है। बहुत बार परेशान होकर घरों की औरतों ने इन झुग्गियों को हटाये जाने की माँग की है लेकिन वे असफल रही हैं। अगर अधिकारीगण इन्हें हटा नहीं सकते, तो वे सतर्क तो रह सकते हैं।'

इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है कि पुलिस व अन्य अधिकारीगण सतर्क रहें, अपराध न होने पायें, और अपराधियों को उचित दण्ड मिले, लेकिन इस चिट्ठी में यह चिन्ता साफ झलक रही है कि 'ऐसा एम. पी. बँगलों के आस-पास हो रहा है, बस यही बुरा है।' और कितनी आसानी से झुग्गियों में रहनेवालों और घरेलू कर्मचारियों पर शक कर डाला गया है—वे झुग्गियों में रहते हैं, घरेलू कर्मचारी हैं तो मानो चोरी करना तो उनका पेशा ही है। 'अनधिकृत' और 'अवांछित' जैसे शब्दों का प्रयोग यही बताता है कि जो झुग्गियों में रहते हैं, पत्र लेखिका के अनुसार, उनका इस समाज से क्या लेना-देना हो सकता है। और कैसा आसान नुस्खा है : झुग्गियाँ हटा दो। समस्या हल हो जायेगी। यही नहीं कि झुग्गियाँ हटा दो बल्कि यह भी कि कम-से-कम उन्हें एम. पी. बँगलों के पास से हटा दो। इस पर पत्र में एक शब्द नहीं है कि झुग्गियों में रहनेवालों की बेहतरी के लिए क्या किया जा सकता है या किया जाना चाहिए—उनके आवास, रोजगार और शिक्षा के लिए। बस वे आँखों के सामने न पड़ें तो समस्या का हल है। चिट्ठी से यह भी साफ झलकता है कि पत्र-लेखिका जो कुछ लिख रही है, उसके बारे में उसे कोई दुविधा या शंका नहीं है। वह अपने हिसाब से समाज-सुधार और कानून-व्यवस्था बनाये रखने की ही तो पुरजोर सिफारिश कर रही है! इसमें भला ऐसी बुराई क्या है! बल्कि यह तो उसकी एक जिम्मेदारी है, जिसे वह निभा रही है।

अजीब आँख की किरकिरी है यह गरीबी! और इसकी यह हिम्मत कि लोक-सभा सदस्यों के बँगलों के पास फटकने की जुर्रत करे! आँखें खोलो तो सामने झुग्गियाँ नजर आती हैं। कौन बताये लोगों को (सिवाय 'एक लोकसभा सदस्य की पत्नी' के) कि इन्हें देखकर कितना कष्ट होता है, कि घरेलू कर्मचारियों को भी 'भ्रष्ट' कर रही हैं ये झुग्गियाँ!

जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, पुलिस से सतर्क रहने का अनुरोध अपनी जगह बिल्कुल सही है। और किसी क्षेत्र विशेष में बढ़ते अपराधों की ओर अधिकारीगण का ध्यान खींचा जाना तो बिल्कुल स्वाभाविक बात होगी। लेकिन उक्त पत्र में

झुग्गियों में रहनेवालों, और घरेलू कर्मचारियों की उनसे साँठगाँठ जिस अनायास ढंग से मान ली गयी है, वही चौंकानेवाली बात है! कई बार पुलिस भी यही करती है। किसी क्षेत्र में चोरी हो तो आस-पास के तमाम ऐसे लोगों की धर पकड़ करती है, जो अपने बचाव के लिए मानो अपनी गरीबी की दुहाई देने के अलावा और कुछ कर पाने की स्थिति में नहीं होते। संदिग्ध माने जाने की यह स्थिति बराबर उनके विपरीत जाती मालूम पड़ती है।

पुलिस अत्याचारी क्यों?

अभी एक राष्ट्रीय दैनिक में एक खबर पढ़ने को मिली कि कानपुर (देहात) के सिकन्दरा थाने में स्थानीय पत्र के एक सम्वाददाता केदार नाथ द्विवेदी को झूठे आरोपों पर थाने ले जाया गया और प्यास लगने पर जब उन्होंने पानी माँगा तो थानेदार के हुक्म पर पुलिस के एक सिपाही ने उनके सामने ही कुल्हड़ में पेशाब करके उसे पीने को दिया। जब द्विवेदी ने उसे पीने से इनकार किया तो पेशाब उन पर फेंक दी गयी। पत्रकार द्विवेदी का कहना है कि इस थाने के गाँव भाल में 15 जुलाई को रामआसरे नाम का एक धोबी अपने घर पर पूजापाठ का एक आयोजन कर रहा था। कुछ सवर्णों ने इस पर उसे मारा-पीटा और उससे कहा कि वह पूजापाठ का यह आयोजन नहीं कर सकता। रामआसरे धोबी ने उसी दिन सिकन्दरा थाने में इसकी रपट दर्ज करा दी। उसे बताया गया कि मामले की जाँच होगी। 16 जुलाई को सिकन्दरा के थानेदार भाल आये और उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं का साथ दिया और हरिजनों को पीटा जो यह पूजापाठ करने में साथ थे। उसी दिन जब इस पत्रकार ने गाँव में जाकर मामले की छानबीन करने के बाद थानेदार से इस मामले में आगे पूछताछ करने की कोशिश की, तो उसे अपमानित किया गया। उसे जमीन पर रामआसरे धोबी तथा अन्य हरिजनों और एक शिक्षक के साथ जो इस मामले में हरिजनों का साथ दे रहा था, बैठने को कहा गया।

इसके बाद सबको सिकन्दरा थाने ले जाया गया जहाँ सबके खिलाफ रपट दर्ज की गयी और उन्हें हवालात में बन्द कर दिया गया। थानेदार के हुक्म से नाली बन्द करके कमरे में पानी भर दिया गया था जिससे कि सब लोग रात-भर पानी में खड़े रहें।

इस घटना से बहुत कुछ पता चलता है। इतना ही नहीं कि पुलिस कितनी बर्बर और असभ्य है बल्कि यह भी कि वह सवर्णों के साथ मिली है क्योंकि खुद

सवर्ण है और हरिजनों से नफरत करती है। पुलिस की नौकरी में आने पर भी वह इतनी सुसंस्कृत और उदार नहीं हुई है कि सबको बराबर समझ सके। हरिजनों के साथ उसकी घृणा इतनी ज्यादा है कि जो हरिजन का साथ देता है वह भी उसके लिए घृणित है और घृणा का पात्र है। उसके लिए हरिजन का साथ देनेवाला आदमी जमीन पर बैठने लायक है, उसके बराबर बैठने लायक नहीं है। हरिजन का साथ देना पेशाब पीने की तरह है। जो हरिजन का साथ दे सकता है, वह पेशाब भी पी सकता है—इतना घृणित और निन्दनीय काम है हरिजन का साथ देना। इस घटना से यह भी पता चलता है कि पुलिस को इस समाज में किसी के प्रति भी आदर नहीं है सिवाय उस व्यक्ति के जो सत्ता में है। यदि पत्रकार की जगह कोई सरकार का मन्त्री होता या पहुँचवाला साधारण नेता ही होता तो पुलिस का आचरण दूसरा होता, इतना असभ्य नहीं होता।

इस घटना से यह भी पता चलता है कि पुलिस जानती है कि ऐसी तमाम हरकतों के बावजूद उसका बाल भी बाँका नहीं होगा। उसके बड़े अफसर उसका साथ देंगे और सरकार उसका साथ देगी।

अभी पिछले दिनों 28 अप्रैल को उदयपुर से अहमदाबाद जानेवाली गाड़ी में डकैती पड़ी, लूटपाट हुई। पुलिस ने राजस्थान किसान संगठन के संयोजक एम. एस. चौधरी और बाँसवाड़ा के घण्टाली ग्राम में सामाजिक कार्य एवं अनुसन्धान केन्द्र की निदेशक श्रीलता स्वामीनाथन को दबोच लिया और उन्हें डकैत सिद्ध करने की कोशिश करने लगी। किसान संगठन के बहुत-से लोगों को उसने हिरासत में लिया। बाद में डाकुओं का पता चल गया और ये लोग मुक्त हुए। ऐसा क्यों होता है? इन सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ बेहद अपमानजनक बर्ताव किया गया जिसकी तफसील जयपुर की 'इतवारी' पत्रिका में पढ़ने को मिली। इस घटना की याद इस मौके पर इसलिए आ रही है कि पुलिस क्यों उन लोगों के साथ घृणित बर्ताव करती है जो निचले तबकों के बीच—हरिजनों और आदिवासियों के बीच काम करते हैं, उनका साथ देते हैं और इस बात की कोशिश करते हैं कि उन्हें उनके अधिकारों के प्रति सचेत करें और इतना जागरुक करें कि वे अन्याय, शोषण से मुक्त रह सकें। श्रीलता स्वामीनाथन को दिल्ली का सांस्कृतिक जगत एक अरसे से बहुत अच्छी तरह जानता है। वह धुर आदिवासी गाँव में एक टापरा बनाकर रहती हैं, स्कूल, अस्पताल चलाती हैं और आदिवासियों के बीच काम करती हैं। इसी तरह एम. एस.चौधरी किसान संगठन के तहत एक अरसे से आदिवासियों में काम कर रहे हैं। ऐसे लोग भी क्यों पुलिस को डकैत लगने लगते हैं? शायद इसलिए कि ये गरीबों और शोषितों के साथ खड़े हैं।

और तफसील में जाने पर पता चला कि पुलिस जब गाँवों में जाती है या पुलिस अधिकारी जाते हैं, तो ठहरते हैं गाँव के पैसेवाले वर्ग के पास ही—साहूकार,

कक्ष में अलग-अलग क्षेत्रों से आये हुए दो दर्जन व्यक्ति यह विचार कर रहे थे कि तस्करी को रोकने में नागरिकों का क्या योगदान हो सकता है? इनके नेता थे श्री मधु मेहता; जिन्होंने कुछ महीने पूर्व बम्बई में कलमनुमा पिस्तौल का रहस्योद्घाटन करके तहलका मचा दिया था।

श्री मधु मेहता कुछ महीने पूर्व सक्रिय राजनीति में थे, परन्तु अब वह केवल सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में वातावरण बनाने में लगे हुए हैं। उनका कहना है, "समाज में एक तरह की बर्बरता व्याप्त हो गयी है, उसे समाप्त करके हमें पुनः मानव बनना है।"

वस्तुतः पुनः मानवीकरण के आधार पर ही हिन्दुस्तानी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ है और चूंकि श्री मेहता के अनुसार इसके लिए मूल्यों में परिवर्तन जरूरी है, इसलिए वह तस्करी समाप्त करने पर बल देते हैं। उनका दावा है कि तस्करी का सामान खरीदने तथा प्रयोग करने से इनकार करके नागरिक नये परिवर्तन का श्रीगणेश कर सकते हैं।

श्री मेहता के अनुसार "हमारे यहाँ की राजनीति कुछ इस तरह से चली है कि लोग समाज के प्रति उदासीन और विमुख हो गये हैं। ऐसा नहीं है कि वे राष्ट्रहित में कुछ करना नहीं चाहते, पर हुआ केवल यह है कि अवसर न मिलने के कारण वे खामोश होकर बैठ गये हैं। हिन्दुस्तानी आन्दोलन देश के खामोश, किन्तु जागरूक, बहुमत को आह्वान देता है कि वह अपनी खामोशी को तोड़े और परिवर्तन के लिए एकजुट हो जाये।"

हिन्दुस्तानी आन्दोलन की शुरुआत बम्बई में तस्करी के सामान के बहिष्कार से हुई। मगर अब यह अन्य राज्यों में फैल रहा है। उत्तर प्रदेश और दिल्ली में इस के संगठन के लिए समितियाँ बन गयी हैं तथा शीघ्र ही भ्रष्टाचार के विरुद्ध इनका मोर्चा शुरू होनेवाला है।

इस समय यद्यपि कोई भी भारतीय इस आन्दोलन का सदस्य बन सकता है। परन्तु उसे अनुशासित ढंग से काम करने के अलावा एक आचार संहिता का पालन करना होगा। इस आचार संहिता से विमुख होनेवालों को इस आन्दोलन से अलग होना पड़ेगा।

हिन्दुस्तानी आन्दोलन के मुख्य मुद्दे इस प्रकार हैं: (1) जाति, धर्म या विचारों की भिन्नता के बावजूद प्रत्येक सदस्य अपने को पहले हिन्दुस्तानी मानेगा, (2) प्रत्येक सदस्य राज्यों की सीमाओं या भाषायी विवादों से अलग रहेगा, (3) प्रत्येक सदस्य समाज और देश से कुछ प्राप्त करने की जगह उसे कुछ अर्पित करने का व्रत लेगा और (4) प्रत्येक सदस्य तस्करी से आये सामान के बहिष्कार का व्रत लेगा।

अब आप सोचिए कि कोई अपने आपको क्या मानता है। इसकी जाँच वे लोग

कैसे करेंगे जो अपने को क्या मानते हैं, इसका ही पता नहीं। ऊपर खादी का कुरता नीचे रेशमी बनियान। यह भी हर सदस्य समाज, देश से प्राप्त करने की जगह कुछ अर्पित करने का व्रत लेगा। शब्द सुन्दर हैं लेकिन इसके पीछे विचार? समाज-देश को क्या देना है, क्या पाना है यह तो तब तय होगा जब एक साफ ढाँचा हो। यहाँ तो समाजवादी (!) ढाँचा है यानी ऐसा ढाँचा जिसकी बुनियाद ही इस पर टिकी है कि कुछ साफ न हो और उसी बुनियाद पर यह आन्दोलन टिकाया जा रहा है जिसमें स्वयं कुछ साफ नहीं। यानी सब साफ है। जिसे चलना हो चले!

फुटपाथ : दृष्टि का फेर

देश की तथाकथित समाजवादी व्यवस्था का झगड़ा फुटपाथ से है। वह हर मौके पर फुटपाथ को कठघरे में खड़ा कर देती है। घर का कूड़ा फुटपाथ पर फेंककर अपने घर को साफ दिखाना हमारी पुरानी आदत है। व्यवस्था भी यही करती है। चोरबाज़ारी और जखीरेबाजी के लिए छोटे दूकानदारों को पकड़ना और उन्हें बेइज़्ज़त कर शहर में घुमाना राजनीतिक संस्थाओं और पुलिस दोनों को रास आता है। दस टीन डालडा छिपाकर रखने या उसे चोरबाजारी से निकालने के लिए छोटा फुटपाथी व्यापारी आसानी से पकड़ा जाता है, उस पर, इतना हल्ला मचाया जाता है मानो क्रान्ति हो गयी। लेकिन लाखों टीन गोदामों में सड़ानेवाला और ऐन सरकार की नाक के नीचे उसके दाम बढ़वाने की हिम्मत रखनेवाला बड़ा व्यापारी चैन की नींद सोता रहता है। न उसे सामाजिक क्रान्तिकारी छूते हैं, न पुलिस, न शासन तन्त्र। हर अपराध के लिए फुटपाथ सज़ा पाता है। आज देश का मन ऐसा बना दिया गया है, जो यह मानता है कि गन्दगी फुटपाथ पर है, उसे बदलो सब बदल जायेगा। राजमार्ग तो स्वच्छता का पर्याय है ही। आप कत्ल करके घर में सोये हों कुछ नहीं होगा। भूखे पेट, बेघरबार फुटपाथ पर सो रहे हो तो हिकारत से देखे जाओगे और हवालात की हवा भी खाओगे। बड़ी दूकान में अश्लील साहित्य बेच रहे हो तो कुछ नहीं होगा, फुटपाथ पर बेच रहे हो तो धर लिये जाओगे। आलीशान कोठी की वेश्यागिरी छिपा दी जायेगी, फुटपाथ की गरीब औरत समाज का अभिशाप मानी जायेगी। भीतर दूकान में गन्दा मिलावटी माल आप बेच रहे हों तो बेचिए, फुटपाथ पर शुद्ध सस्ते माल का खोम्चा लगाकर भी बैठे तो चालान हो जायेगा। कोई भी सामान फुटपाथ पर आते ही सस्ता, नकली और खराब हो जाता है। भीतर दूकान में जाते ही इसका विपरीत

माना जाने लगता है। फुटपाथ का हड्डी बैठानेवाला पहलवान मुफ्त हड्डी बैठाने का काम करने पर भी ठग कहा जाता है, आशंका की दृष्टि से देखा जाता है और भारी रक़म वसूलकर ग़लत हड्डी बैठाकर पैर काट देनेवाला अस्पताल का डॉक्टर पद्मश्री पाता है। मतलब यह कि एक ग़लत दृष्टि समाज की विकसित हो गयी है जो आम आदमी विरोधी है। यह दृष्टि वर्ग दृष्टि है। सम्पन्नता और समृद्धि से बड़े मूल्य जोड़ने तथा विपन्नता और ग़रीबी से घटिया मूल्य जोड़ने की आदत इसे पड़ गयी है। इसीलिए सड़क पर ठेला या रेड़ी लगानेवाले को पकड़ लिया जाता है और पूरी सड़क को आलीशान शामियाना लगाकर अपना घर बना लेनेवाला शादीप्रसाद या भोजबहादुर चमचमाता रहता है, वह निरपराध माना जाता है चाहे दो दिन तक सड़क की सवारियों और आदमियों को कितना ही लम्बा चक्कर लगा-कर जाना पड़े। जितना बड़ा शामियाना, जितना बड़ा भोज उतना ही सही और मुक्त आदमी। अगर सम्भव हो तो यह दृष्टि फुटपाथ के आदमी को फुटपाथ के कुत्ते की तरह ज़हर दे दे।

सच यह है कि बड़ी दूकानवाले अपने सामने फुटपाथ पर दूकान लगने नहीं देते और शुद्ध, असली, सही माल का एगमार्क उन्हीं के पास है। साहित्य और संस्कृति में पाखाना भी वह यह एगमार्क लगाकर बेच सकते हैं और आप फुटपाथ पर थाली में असली खोये के पेड़े लिये बैठे रह जायेंगे। हो सकता है दस-बीस पारखी खरीद भी लें, आपकी थाली खाली हो जाये पर नाम घण्टेवाले संस्कृति-जीवियों का ही चलेगा।

अत: असली लड़ाई तो इस दृष्टि से है जो अपनी गन्दगी फुटपाथ पर छिपाती है, अपनी वाहवाही के लिए फुटपाथ को कोसती है, जो यह मानकर चलती है कि फुटपाथ पर चित्र लगाये बैठा चित्रकार समाज का सही चितेरा नहीं है, नहीं तो ललितकला अकादमी की दीर्घा में होता, फुटपाथ का गायक असली गायक नहीं है अन्यथा फ़िल्मों में होता या विदेशों में होता, फुटपाथ का कवि अच्छा कवि नहीं है अन्यथा रेडियो में होता या साहित्य अकादमी में होता। कम-से-कम अखबार के दफ़्तर में तो होता ही। यह वही दृष्टि है जो कपड़े, कार, बँगला और आधुनिका बीवी से आदमी की औक़ात समझती है। बिना यह दृष्टि बदले फुटपाथ को समझ पाना कठिन है और ग़रीबी हटाना भी कठिन है। फुटपाथ को साफ करना, रेड़ी खोम्चेवाले या बिसातियों को पकड़ ले जाना, ग़रीबी हटाना नहीं है। दूकानवालों को फुटपाथ पर बैठाना ग़रीबी हटाना है—चाहे वह दूकानवाला साहित्य और संस्कृति का भी क्यों न हो—इनके फुटपाथ पर आने से समाज की मानसिक ग़रीबी भी हटेगी। अभी तो शासनतन्त्र, पूँजीपतियों, संस्कृतिजीवियों, सभी ने फुटपाथ को कठघरे में खड़ा कर रखा है।

जूता और प्रतिष्ठा

अभी एक सुबह इस स्तम्भकार की बच्ची स्कूल का थैला लटकाये सामने आ खड़ी हो गयी :

"जल्दी से एक कागज़ पर लिख दीजिए कि मेरे पैर में तकलीफ़ है, इसलिए जूता नहीं पहन रही हूँ।"

उसके पैर में एक मामूली चोट थी, जो पक रही थी। जूता-मोज़ा पहनने में तकलीफ़ होती थी। उसका स्कूल वैसे सम्भ्रान्तवर्ग का पब्लिक स्कूल नहीं है। पर स्कूली-पोशाक जैसे अनेक छोटे-मोटे मामलों में उनका अनुकरण ही स्कूल का अभीष्ट है।

"क्या यह चोट स्कूलवालों को दिखायी नहीं देगी?"

"पता नहीं। कहते हैं 'ड्रेस' में न आओ तो लिखाकर लाओ। नहीं तो सज़ा मिलती है।"

"लेकिन तुम ड्रेस में हो। जूतों की जगह बस चप्पल हैं। क्यों है, यह कोई अंधा भी जान लेगा। बता देगा।"

"क्यों देर करते हैं, जल्दी एक लाइन लिख दीजिए, वरना बस छूट जायेगी। यह सब कोई नहीं सुनता।"

और वह लिखाकर ले गयी। मैं सोचता रहा, यह कौन-सा अनुशासन है? यदि मैं न लिखकर देता तो क्या सचमुच उसे जूता न पहनने की सजा मिलती? स्कूल-वालों को वह चोट दिखाकर नहीं समझा सकती थी? पिता की गवाही ज़रूरी थी?

तभी उस दिन के अख़बार पर नज़र गयी। समाचार मद्रास का था। लिखा था, "एक कन्वेण्ट स्कूल का चार साल का बच्चा जूता पहनने पर चिल्लाने लगा। माँ-बाप ने उसकी चिल्लाहट पर ध्यान नहीं दिया। डाँट-डपट और धमकाकर स्कूल रवाना कर दिया। स्कूल पहुँचकर भी वह रोता रहा। शिक्षक को भी यही उपाय समझ में आया कि उसे सज़ा दे, कोने में खड़ा कर दिया जाये। आधे घण्टे में बच्चा नीला पड़ गया, गिरा और मर गया।"

बाद में पता चला कि उसके जूते में एक बिच्छू था। बिच्छू ने इतना काटा था कि बच्चा जान से गया और खुद बिच्छू भी जूते के भीतर से मरा हुआ निकला।

इस ख़बर को 'हृदय विदारक' कहना दुख को छोटा साबित करना है। यह ऐसी बेचैनी देती है जिसको बताया नहीं जा सकता। शिक्षा के सहारे हम किस प्रकार का समाज बनाने जा रहे हैं? यह कैसा समाज है जहाँ बच्चे की तकलीफ़ न

माँ-बाप समझ सकते हैं न स्कूल? वह कौन-सी प्रतिष्ठा है और उस प्रतिष्ठा का क्या मतलब है जो इन सबको प्यारी है? मद्रास के सन्दर्भ में तो, जहाँ की जलवायु ही ऐसी है कि जूते-मोजे जरूरी नहीं हैं, उसे इस हद तक लाज़िमी बनाना क्या बताता है? इस साहबी शिक्षा का भविष्य क्या होगा? यह सवाल कब तक हम खुद से नहीं पूछेंगे?

माँ-बाप को क्या अधिकार है कि अपनी झूठी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए बच्चों के साथ ऐसा हृदयहीन व्यवहार करें जो अमानुषिकता में बदल जाये। और स्कूली शिक्षक? जिन्हें हर कहीं नर्सरी कक्षा के बच्चों के रोने का एक ही इलाज मालूम है सज़ा देना। लगता है एक सज़ायाफ्ता समाज में सज़ा के अतिरिक्त कोई कुछ भी देख पाने में असमर्थ है।

क्या कोई भी उस पीड़ा को महसूस कर सकता है जो उस मासूम बच्चे ने तिल-तिल झेली होगी? जूते में कैद पैर को बिच्छू चलनी कर रहा होगा और बच्चा माता-पिता, स्कूल, समाज सबके भय से जूता उतारकर नहीं फेंक पा रहा होगा! उसकी इस यातना का अनुमान लगा पाना असम्भव है, जब तक कि यही सज़ा जिम्मेदार लोगों को भी न झेलनी पड़े।

अब वह बच्चा नहीं है। लेकिन उस जैसे लाखों बच्चों के प्रतिष्ठापूजक माता-पिता हैं और वह पूरी शिक्षा-व्यवस्था है जो जाने कब तक एक बिच्छू की तरह कैद हमारे बच्चों के मासूम पैरों को डंक मारती रहेगी। यह केवल एक चूक नहीं है, इस बात का प्रतीक है कि कैसे छोटी-छोटी आज़ादियाँ अन्ततः एक बड़ी मानसिक आज़ादी से ही जन्म ले सकती है और वह हमें नसीब नहीं है।

एक मरीज़ का दर्द

इस स्तम्भकार को अभी राजधानी के एक अस्पताल में एक मरीज़ के सिरहाने हाथ से लिखी एक कविता उसकी रोग शैया के पास दीवार पर चिपकी दिखायी दी। इसके पहले कि वह इसे उतार पाता वार्ड की नर्स उतार चुकी थी। स्तम्भकार की उससे मिन्नत करने और उस कागज़ के टुकड़े (उसके लिए कागज़ का टुकड़ा ही था) में ज़्यादा रुचि दिखाने के कारण यह उसके हाथ आ गयी। मरीज़ ज़ाहिर है पेट के रोग से बहुत परेशान होगा और दलिया खाने की हर किसी की सलाह से इतना ऊब गया होगा कि सिवा रचनात्मक भड़ास निकालने के उसके पास कोई चारा शेष नहीं रहा होगा। कविता इस प्रकार है—

हाज़मा खराब है थोड़ा खाओ,
छोड़ो पकवान अब दलिया बनाओ।
चाहे नमकीन हो चाहे हो मीठा,
ताज़ा पिसा हो, बासी हो, सीठा,
खूब खुश रहो अपना जियरा जुड़ाओ,
थोड़ा खाओ न मरो, न मुटाओ,
हाज़मा खराब है बचकर खाओ,
छोड़ो पकवान अब दलिया बनाओ।
दलिया में बड़े गुण कहता है डॉक्टर
चिन्ता नहीं इसमें खाने की बाँटकर
इसके लिए किसी को चक्की नहीं पीसना
थोड़ा दरेदना है, निपोरो खीस ना
हाज़मा खराब है मत शरमाओ,
छोड़ो पकवान अब दलिया बनाओ।
लवणभास्कर या यूनीज़ाइम
कार्मिनेटिव मिक्सर, सोडा, लाइम,
फ़ायदा क्या खाते रहने से हर टाइम
फिर भी डकारते, करते जैसे माइम
हाज़मा खराब है मत घबराओ,
छोड़ो पकवान अब दलिया बनाओ।
दलिया सही नुस्खा है हिकमती हकीम का
वरना पड़ेगा करना सेवन नीम का
इस को खा जिये सौ वर्ष महर्षि कर्वे
पाचक है यह बहुत जैसे छन्द बरवे
हाज़मा खराब है तो देर मत लगाओ,
छोड़ो पकवान अब दलिया खाओ।
पकवान का शोर करते हैं छोटे बच्चे
या वे जो होते हैं अक्ल के कच्चे
सीधी बात यह है अगर आदमी हो सच्चे
जीवन में नहीं खाना चाहते गर गच्चे।
कहा मानो पकवान पर हाथ मत लगाओ,
कम से कम दलिया खाने के योग्य रह जाओ।
पकवान के हित रोना बेकार है
दलिया ही माता, पिता, प्रभु, प्रिया, यार है

दलिया ही यह सारा संसार है
दलिया बिना आज जीवन बेकार है।
दलिया खाओ और दलियामय हो जाओ
दलिया - वीर, दलिया - सिंह, कहलाओ
जाओ, जाओ, न हमें सताओ
अब छोड़ो पकवान दलिया खाओ।

चोर और ईश्वर की मिली भगत

पिछले सोमवार 10 अगस्त की शाम को एक 11 महीने का बच्चा पप्पू दिल्ली में जामा मस्जिद के पास मेनहोल में गिर गया और दूसरे दिन सुबह दस बजकर पैंतालीस मिनट पर लालकिले के पास मेनहोल खोलकर उसे निकाला गया। बच्चा जीवित था। शाम को वह जामा मस्जिद के सामने दिल्ली विकास प्राधिकरण के पार्क में अपने दादा के साथ घूमने गया था। दादा किसी से बात करने लगे और खेलते-खेलते वह खुले हुए मेनहोल में चला गया। पुलिस, दमकल विभाग सब देर रात तक उसे निकालने की कोशिश करते रहे, पर वह सड़क के नीचे बहनेवाले गन्दे नाले की गन्दगी की दुनिया में बह गया था। फिर सब थक गये। सुबह फिर खोज शुरू हुई और लालकिले के पास नाली में से रोने की आवाज़ सुनकर उसे निकाला गया। यह घटना अखबारों में छपी है और दिल्ली के घर-घर में उसकी चर्चा हुई है। जो बातचीत आमतौर पर इस शर्मनाक घटना को लेकर होती रही है उसके कुछ टुकड़े यहाँ पेश हैं—

'किस्मत की बात है। नहीं तो भला 11 महीने का बच्चा 15 घण्टे तक गन्दी नाली में पड़ा रहे और उसका बाल भी बाँका न हो!'

"जाको राखे साइयाँ मार सके नहिं कोय। ओ भाई, ईश्वर के हाथ बहुत बड़े हैं। वह बचाना चाहे तो कोई मार नहीं सकता।"

'कैसा दादा था, बच्चे को छोड़कर बात करने में लग गया? ये बूढ़े जो हैं किसी काम के नहीं होते। इन्हें तो बस कोई गप्प मारने के लिए मिल जाये फिर दुनिया-जहान भाड़ में जाये। मिल गया होगा कोई जवानी का साथी, फिर नाती-पोतों का कौन ख्याल रखता है। यह तो कहो खुदा ने बचा लिया!'

'खासा मजबूत और तन्दुरुस्त बच्चा रहा होगा जो सब झेल ले गया! कमजोर बच्चा होता तो घबरा के ही मर जाता।'

"इससे यह पता चलता है कि बच्चे में कुतूहल रहता है। जिज्ञासा बच्चे में सबसे ज्यादा होती है। वह जान लेना चाहता है कि कहाँ क्या है। यदि यह जिज्ञासा न होती तो वह खुले मेनहोल में क्यूँ झाँकता? लेकिन नहीं, वह जानना चाहता था इसीलिए झाँक रहा था। बच्चा था, गिर गया। ज्ञान के अर्जन की शुरुआत इसी तरह से आँख खोलते ही शुरू हो जाती है और आदमी कितना जोखिम उठाकर सीखता जाता है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती! इस जोखिम का हर आदमी का अपना इतिहास होता है, जो कहीं-न-कहीं रोमांचकारी होता ही है।"

"अब बतायें ये डाक्टर साले कि कैसे बच गया? नीचे नाली में मारू ज़हरीली गैस होती है। आक्सीजन होता ही नहीं और ये कहते हैं बिना आक्सीजन के आदमी जी नहीं सकता। ज़हरीले कीड़े-मकौड़े होते हैं—काट लें तो लहर न आये। इतनी दुर्गन्ध और सड़ाँध होती है कि एक ही भभके में अच्छे-से-अच्छा आदमी बेहोश हो जाये। फिर 15 घण्टे वह बच्चा वहाँ कैसे साँस लेता रहा? दें जवाब डाक्टर लोग। है कोई जवाब? भैया यह जिन्दगी और मौत उसकी लीला है। यह डाक्डरी-वाक्डरी, वैद-हकीमी सब खाने-कमाने का सिलसिला है—हम तो यही जानते हैं।"

"अरे, क्या सुनाते हो यह किस्सा! सारा देश ही एक खुला हुआ मेनहोल है और हम सब इसमें गिर पड़े हैं—इस सड़ाँध में जिन्दा हैं। कैसे जिन्दा हैं यह कोई पूछता है? आदत पड़ जाती है, आदत। गरीब का बच्चा रहा होगा। यह सड़ाँध झेल गया—टाटा-बिड़ला का बच्चा होता तो झेल पाता? इस देश का गरीब आदमी और उसका बच्चा सबकुछ झेल सकता है।"

"भई, इससे याद आया। श्रीलाल शुक्ल ने अपने एक उपन्यास में मेनहोल में घुसनेवाले मेहतर का बड़ा भयावह, दिल दहला देनेवाला चित्रण किया है। यह अच्छा प्रतीक है यार! किसी ने कविता में इसका इस्तेमाल नहीं किया? निराला ने भी नहीं। अज्ञेय तो क्या करेंगे भला!"

"अब देखिए राजनैतिक पार्टियाँ इसका फायदा उठायेंगी। मिल गया मौका उन्हें। बिल्ली के भाग्य से छींका टूटा। दिल्ली में यह घटना हुई तो हल्ला हो गया। अरे इस देश में कितने बच्चे बिना जगत के कुओं में गिर जाते हैं, तालाब में डूब जाते हैं, बह-बिला जाते हैं, किसी के कान पर जूँ रेंगती है—सरकार के, राजनीतिक पार्टियों के? बहुत बड़ा देश है अपना, यह सब लगा ही रहता है।"

पाठको! अब यह सिलसिला समाप्त करता हूँ। आपने लेखक, बुद्धिजीवी, राजनीतिक व्यक्ति, साधारण नागरिक सबका हाल देख लिया है। इस शर्मनाक घटना पर हर ओर यही सब सुन-सुनकर बेहद तकलीफ हुई। क्या हो गया है हमारे समाज को? ऐसा क्यों है कि हम सब या तो वाक् विलास में पड़ जाते हैं या ईश्वर

और नियति से जुड़ जाते हैं और बड़ी-से-बड़ी दुर्घटना से बेगाना रिश्ता बना लेते हैं? क्यों नहीं किसी ने भी मेनहोल खुला छोड़ने पर गुस्सा प्रकट किया? क्यों इस खबर को पढ़ते ही सबको बच्चे के बच जाने पर ही हैरत हुई। उसी पर सब सोचते रहे इस पर उन्हें गुस्सा नहीं आया कि मेनहोल खुला क्यों था? क्यों नहीं किसी ने कहा मेनहोल खुला छोड़ना नागरिक प्रशासन का अक्षम्य अपराध है। सबसे पहले ध्यान तो इधर ही जाना चाहिए था। पर बीच में ईश्वर, नियति और जाने क्या-क्या आते रहे। यह नहीं आया कि नागरिक प्रशासन की सबसे पहले निन्दा की जाये! क्या समाज चाहता है कि शहर के सारे मेनहोल खुले छोड़ दिये जायें क्योंकि 'जाको राखे साइयाँ मार सके नहिं कोय', बचनेवाला तो बच ही जायेगा!

इस घटना पर बच्चे के बच जाने के बावजूद समाज को नागरिक प्रशासन पर गुस्सा आना चाहिए था और इतना प्रबल जनमत उस पर हावी होना चाहिए था कि प्रशासकों के दिमाग के ढक्कन खुल जाते और राजधानी के खुले मेनहोलों के ढक्कन लग जाते। लेकिन ईश्वर, नियति और वाक्-विलास ने ऐसा नहीं होने दिया। राजधानी की हर गली, हर सड़क पर अभी भी मेनहोल खुले हुए हैं और प्रतीक्षा की जा रही है ऐसे लोगों की जो उसमें गिरें और उनके मरने-जीने का जिम्मा ईश्वर का हो, नगर प्रशासन का नहीं—न दिल्ली विकास प्राधिकरण का, न दिल्ली नगर निगम का। वे आसानी से कहते रहें—यह घटना एक के क्षेत्र में नहीं दूसरे के क्षेत्र में हुई थी, ढक्कन चोरी चले जाते हैं और बरामद होने पर पुलिस के पास पड़े रहते हैं। कितने इने-गिने ढक्कन हैं बेचारों के पास! चोर भाइयो इन पर दया कीजिए। तब तक तो जरूर ही जब तक समाज के लोगों के और प्रशासन के लोगों के दिमाग के ढक्कन न खुल जायें। आखिर चोर भाइयो, मिली भगत तो आपकी और भगवान की है! आप ढक्कन चुराकर बेच खाते हैं, भगवान आपके बहाने लोगों को मारता-जिलाता है। दोनों एक-दूसरे के काम आते हैं। न आप ढक्कन चुरायें न भगवान को मारने-जिलाने का मौका मिले। नगर प्रशासन आप दोनों के बीच में क्यों आये? बीच में तो वे आते हैं, जिनके दिल और दिमाग के ढक्कन खुले हैं, जो मेनहोल का खुला होना ही देख पाते हैं और इसे प्रशासन का बहुत बड़ा अपराध मानते हैं और उसे क्षमा करने को तैयार नहीं हैं। उसे कड़ी-से-कड़ी सजा देने के पक्ष में हैं।

रोशनी की तलाश में

श्रेष्ठ बाल-साहित्य की चिन्ता

इस देश में फिलहाल अच्छा बाल-साहित्य नहीं लिखा जा सकता। अच्छा, यानी देशकाल से बँधा हुआ होकर भी देशकाल से परे, जीवन के उत्स से जुड़ा हुआ। इसके तीन कारण हैं : पहला, हमारा कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं है, न उसकी कोई परिकल्पना ही है। दूसरा, हमारी कोई सामाजिक दृष्टि नहीं है। हम कैसा आदमी और कैसा समाज बनाना चाहते हैं, इसकी चिन्ता नहीं है। इन दोनों कारणों का मूल आधार इस देश की भ्रष्ट राजनीति है और मूल्यविहीन सत्ता-संघर्ष है। तीसरा, और प्रमुख कारण, आज का बाल-लेखक स्वयं है। अपनी संवेदना के क्षेत्र में वह वस्तुतः बच्चों से जुड़ा हुआ नहीं है, न अपनी युग-चेतना से। बिना दोनों से एक साथ जुड़े हुए बाल-साहित्य नहीं लिखा जा सकता।

सच तो यह है कि अच्छे साहित्यकार का बच्चों से कोई सरोकार नहीं है। वह उनके लिए लिखता ही नहीं। दूसरे दर्जे का, अधिकतर घटिया दर्जे का लेखक कुछ मामूली पैसों के लालच में बच्चों के लिए कलम उठाता है। और जो भाषा बोलता है, उससे बच्चे का न आन्तरिक स्वस्थ संवाद हो सकता है और न बच्चे में मुक्ति का अहसास जग सकता है। बच्चे में मुक्ति का अहसास जगाना यानी यह भाव कि वह अपने समाज को ही नहीं सम्पूर्ण मानव-नियति को बदल सकता है, बाल-साहित्य का पहला काम है।

पहले के साहित्य में बच्चा यह पाता था कि यदि वह निडर और वीर है तो अकेला तलवार उठाकर हर मुसीबत का सामना कर अन्त में सारी कठिनाई पर विजय प्राप्त कर अपने सपनों को सत्य कर सकता है, उनको वर सकता है। अब, आज के युग में मूल्यों के स्तर पर सपना क्या हो सकता है, यह बाल-साहित्यकार नहीं जानता और उसे कैसे सत्य किया जा सकता है या वरा जा सकता है यह और भी नहीं। वह अभी भी अतीत के मूल्यों पर ही सिर पटक रहा है। चाहे वह बाल-लेखक हो या बाल-सम्पादक। यह दुर्भाग्य की बात है कि नये समाज की परिकल्पना लेखक के पास नहीं है और उसकी रचना के लिए किस तरह का संघर्ष जरूरी है

यह तो वह और भी नहीं जानता। इस तरह उसके और बच्चे के बीच में एक दीवार खड़ी है जिसे वह पहचानता नहीं और अन्धे की तरह उसी से टकराता रहता है जबकि बच्चा, राजा-रानी और परियों के पुराने संसार के चंगुल से निकल चुका है।

आज के लेखक और सम्पादक उसे परियों के महल के तहखाने की जो चाभी देते हैं, उससे कहीं ज्यादा उसकी परिकल्पना उस चाभी से बँधी है जिससे मोटर चलने लगती है। वह उसे ज्यादा पहचानता है। उसे न केवल इतना बताना कि उस चाभी से मोटर कैसे चलती है बल्कि यह भी कि चाभी बनानेवाली और इस्ते-माल करनेवाली ताकतें कौन हैं और उन ताकतों में वह कहाँ है और उस चाभी को प्राप्त करने के लिए अन्याय और शोषण के दुर्गम पथ को कैसे पार किया जा सकता है। इतना समझ में आ जाने के बाद ही लेखक, बच्चे से सार्थक संवाद की स्थिति में आ सकेगा।

यहाँ यह प्रश्न उठाना कोई खास मतलब नहीं रखता कि संवाद किस बच्चे से? गाँव के या शहर के? जाहिर है बातचीत का सन्दर्भ शहरी, पढ़ने-लिखने में समर्थ बच्चे से है, उस बच्चे का नहीं है जो पैदा होते ही रोटी कमाने की फिक्र में जुट जाता है। कैसी विडम्बना है कि हम गाँव के बच्चे तक बाल-साहित्य पहुँचाने की ख्याली बात कर रहे हैं, जबकि उसको दो जून रोटी पहुँचाने की ख्वाहिश भी पूरी होते नहीं दीख रही है। गाँव के बच्चे के पास मौखिक बाल-साहित्य की अपार सम्पदा है। परम्परा से चली आती नानी की कहानियाँ हैं। इन कहानियों के द्वारा उसकी ऐसी मानसिकता बनाने का षड्यन्त्र सदियों से चल रहा है जिससे कि वह हर तकलीफ, अन्याय, शोषण को अपने कर्मों का फल मानकर जी सके और पीड़ा के हर क्षण मे अपनी नियति पर सिर पटककर खामोश हो जाये।

उस बाल-साहित्य की जगह नया आप तब तक नहीं दे सकेंगे, जब तक आप उसे शिक्षित न कर लें। लेकिन इस देश के करोड़ों ग्रामीण बच्चों की शिक्षा कौन चाहता है? उसके परिवार को आर्थिक शिकंजे में इतना कस दिया गया है कि बच्चा उसे तोड़ने की छटपटाहट से ही अपना बचपन शुरू करता है। अतः यह सवाल कि गाँव के और शहरे के बच्चे का साहित्य कितना अलग-अलग हो ढपोर-शंखी सवाल लगता है। सूत न कपास जुलाहों में लट्ठमलट्ठा। इस सवाल से जूझना मौजूदा व्यवस्था से जूझना है और बिना उसे बदले हुए इस सवाल का हल नहीं निकल सकता। इसलिए शुरू में ही कहा गया है कि इस देश में श्रेष्ठ बाल-साहित्य नहीं लिखा जा सकता।

आप कह सकते हैं कि बाल-साहित्य ग्रामीण बच्चे के लिए, जिसे यदि वह पढ़ न सके तो सुन ही सके। कौन सुनायेगा, फिल्में? बच्चों की एक भी फिल्म ग्रामीण बच्चों को ध्यान में रखकर नहीं बनायी गयी है। जो भी बनी हैं बच्चों के अनुपात

को ध्यान में रखकर नहीं के बराबर। वह शहरी बच्चों के लिए हैं। शहरी बच्चों की जरूरत ही उससे पूरी नहीं होती। वह बड़ों की ही फिल्में देखते हैं, बड़ों की ही दुनिया में रहते हैं। क्या इसे और साफ कहने की जरूरत है कि आज का हमारा बच्चा बड़ों का बोझ अपने कन्धों पर लादे डोलने के लिए अभिशप्त है।

अतः यह साफ-साफ दीखता है कि व्यक्ति, समाज, संस्थाएँ, सरकारी तन्त्र, सब बच्चे से बिना कोई सरोकार रखे, बच्चे की बात करके अपना धन्धा चलाते हैं। कम-से-कम सही लेखक को जिन बच्चों से प्यार हो, इस धन्धे से दूर ही रहना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय बाल-दिवस इस दिशा में एक और बड़ा धन्धा है, वैसे ही बाल-लेखक 'त्योहार' पर जीता है। आँख फाड़े हर तीज-त्योहार, होली-दिवाली पर ढेरों वाहियात रचनाएँ लिखकर अखबारों का पेट पालता है और अपना भी। बच्चा वैसे-का-वैसा रह जाता है।

यदि एक भी लेखक ऐसा हो जिसे बच्चों से प्यार हो, जिसे आप बच्चों के पार्कों में, बच्चों के स्कूलों के सामने उनके साथ खेलते, बतियाते, रचते देख सकें तो मेरा सब कहा झूठा माना जाये, लेकिन ऐसा नहीं है। पर ऐसा होना चाहिए। आज की स्थिति में जब न राष्ट्रीय चरित्र है, न सामाजिक दृष्टि है, न बच्चों से प्रतिबद्ध लेखक हैं, ऐसे लेखकों की और ज़रूरत है जो युगभाव लेकर बच्चों से सीधा रिश्ता कायम करें। उनके साथ चलें। उन्हें कविताएँ सुनायें, कहानियाँ सुनायें और अपनी उन रचनाओं का परीक्षण करें जिन्हें वह अपने घर पर बैठे श्रेष्ठ मानते हैं। सबसे जरूरी है नाटक। उनके साथ नाटक करें। ऐसा नाटक जिसे बच्चे खेल सकें। जिसमें गाना, नाचना, उछलकूद भी हो और जो इतना लचीला भी हो कि वह खुद उसमें जो चाहे जोड़-घटा सकें। जिसकी भाषा नर्सरी राइम की तरह, गेंद की तरह उछले।

बच्चा हर चीज से खेलना चाहता है। भाषा से भी वह खेलना चाहता है। उसे लपेटना, खोलना, उछालना चाहता है। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है उसकी उधेड़-बुन बढ़ती है। भाषा में इतनी ताकत होनी चाहिए कि बच्चा अपनी उम्र के साथ-साथ उन्हीं शब्दों से और बड़े अर्थ ग्रहण करता जाये, जिनसे वह खेलता रहा है। यह बड़ी रचना की पहचान है। बड़ी रचना उस औजार की तरह होती है, जिससे छोटा बच्चा जमीन खोदता है और ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है, उसका नया-नया इस्तेमाल सीखता जाता है और मशीनें ठीक करने लगता है। पर ऐसी लगन नहीं है।

यह लगन आने के बाद ही जबान यानी भाषा की लड़ाई की बात की जा सकती है और रचनात्मक स्तर पर पर वह लड़ाई हर लेखक की अपनी रचनात्मक लड़ाई है। उसमें साझेदारी भी हो सकती है पर तभी जब वह निष्ठा दिखायी दे और ऐसे निष्ठावान मिलकर बैठें। अतः अभी इतना ही।

यदि कुछ बातें सख्त हों तो इस टिप्पणीकार को क्षमा किया जाये। लेकिन यदि कोई बच्चा आपके पास या आपकी गोद में हो तो इस कथन के सन्दर्भ में उसकी आँखों की ओर जरूर देखिए।

विचारधारा और संगीत

एक तो ऐसे भी दिल्ली में वसन्त के बावजूद इस मौसम की शामें खुश्क होती हैं। किन्तु इन्हीं दिनों अगर राजस्थान से धूल लेकर आनेवाली सूखी हवा बह चले तो फिर जाड़े से मुक्ति के आनन्द में बाधा उपस्थित हो जाती है। लेकिन पिछले सप्ताह जिस दिन जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में बिस्मिल्लाह खाँ का शहनाई-वादन था, उस दिन तो न सिर्फ इस मौसम की सूखी हवाएँ चल रही थीं बल्कि बदलियों की हल्की परतें भी रह-रहकर आकाश को घेर रही थीं। मौसम की इस लगभग प्रतिकूलता के बावजूद बिस्मिल्लाह खाँ की शहनाई सुनने के लिए संस्थान के आँगन में काफी लोग इकट्ठा हुए थे। इकट्ठे लोगों में से ज्यादातर लोग तन्मय होकर शहनाई का आनन्द ले रहे थे और बिस्मिल्लाह खाँ द्वारा बार-बार बाँधे और खोले जा रहे थे। लेकिन मंच के पीछे कुछ ऐसे युवक भी थे जो ठीक वहीं पर इस बात को लेकर लम्बी बहस में फँसे हुए थे कि आखिर सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में संगीत की भूमिका क्या है? विचारधारा और संगीत में क्या सम्बन्ध है?

जो लोग यह बहस कर रहे थे वे परिचित क्रान्तिकारी मित्र हैं। उन्हें यह कहने में हिचक नहीं थी कि शास्त्रीय संगीत और नृत्य-जैसी कला-विधाएँ सामन्ती समाज की देन हैं और उसी के हितों की रक्षा करती हैं। क्रान्तिकारी मित्र यह जानना चाहते थे कि उन प्रतिरोधों के सन्दर्भ में शास्त्रीय संगीत की आखिर क्या प्रासंगिकता है? क्रान्तिकारी मित्रों के बीच जाकर फँसने से संगीत के इस कार्यक्रम के आस्वाद से वंचित रह जाने का खतरा उठाकर भी मन हुआ कि उनसे पूछें कि जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में करोड़ों रुपये के खर्च से जो आपको पढ़ाया जाता रहा है, उसकी क्या प्रासंगिकता है और उन्हें समझायें कि प्रासंगिकता तो आपकी है और इस बात की है कि आप संगीत का क्या करते हैं। जो बहस हुई उसका सारांश इस प्रकार है:

"क्या आप मानते हैं कि मूलतः कला का काम मनुष्य-विरोधी स्थितियों के बीच संवेदना को मानवीय बनाना है।"

वे इससे सहमत थे।

फिर असहमति कहाँ थी?

शायद उस साक्षात्कार से ही कोई तकलीफ उन्हें हो रही थी जो मन के भीतर कुछ देर तक कोई अनुभव पकाने से होती है। मन में देर तक कुछ पकना क्या सामन्तवादी लक्षण है? यह प्रश्न पूछने का मन हुआ पर पूछा नहीं गया। क्योंकि संयोग ऐसा था कि बिस्मिल्लाह जो बहुत जल्दी-जल्दी तान-पलटे लेकर सम पर आ-आकर निराश कर रहे थे, कुछ पकाने ही नहीं दे रहे थे। (एक प्रश्न उठता है कि शहनाई क्या इसके लिए समर्थ भी है? और यदि है तो क्या यह श्रोताओं की ही असमर्थता थी जिसका ध्यान रखकर बिस्मिल्लाह बजा रहे थे?) पर कलाकार के भीतर बनावट न हो तो वह सुननेवाले में धीरज भी पैदा कर सकता है।

भारतीय संगीत में जो राग है, उन्हें साधक के स्वर में सुनें तो वे आपकी संवेदना को निरन्तर मानवीय बनाते हैं, जिससे आपमें विचार की और प्रतिरोध की शक्ति बढ़ती है। हाँ, पाश्चात्य संगीत में एक अतिरिक्त गुण है कि वह नाटकीय होता है: जबकि भारतीय संगीत छन्दमय होने के कारण नृत्य के अधिक निकट रहता है। इतना ही नहीं, आप इस संगीत को आत्मस्थ करते हुए दृश्य और स्थितियों की ज्यादा तीव्रता से प्रतीति करते हैं। भैरवी के सुनते हुए क्या आपने सुबह को अनुभव करने की कोशिश की है? शायद वह तब वही सुबह नहीं होती है जो भैरवी के अभाव में थी। भैरवी सुबह के साथ आपके तादात्म्य को और घना कर देती है। और इस तरह आप जीवन की स्वाभाविकता का अनुभव और भी तीव्रता से करते हैं। और आप एक सम्पूर्ण जीवन जीने की ओर बढ़ते हैं।

क्रान्तिकारी मित्रों ने इसका विरोध तत्काल नहीं किया। या तो वे इतने क्रान्तिकारी नहीं हुए थे कि बिना विश्लेषण के ही लगातार क्रान्तिकारी फतवे देते चले जायें। या संगीत के बारे में जितना जानते थे वह उनके मार्क्स के ज्ञान से भी कम था। थोड़ी देर बाद वे आगे आये और संगीत सुनने बैठ गये। घण्टे-भर सुनते रहे। जब बाहर खुले में आये तो चुप थे। बाहर निकलते ही एक क्रान्तिकारी ने कहा : इस संस्थान के गुलमोहर कितने अनुर्वर हैं, पूरा मौसम बीत जाता है लेकिन कोई खिलता ही नहीं। उनकी इस शिकायत से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकला कि यह जो गुलमोहर में फल न होने की शिकायत है, वह संगीत के प्रभाव से उपजी है। पर यह क्रान्तिकारी को बताया जाये तो शायद वह कहेगा कि फूल भी वर्गसंघर्ष के प्रतिकूल हैं, बशर्ते कि वे लाल न हों—हाँ, गुलाब के हों तो और बात है, वह नेहरू का रंग है।

राजनैतिक नाटक

पिछले कुछ अर्से में हिन्दी में नाटकों की हवा काफी कुछ बदली है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के नाटकों की ओर से नाटक लिखनेवालों और खेलनेवालों का ध्यान ऐसे नाटकों की ओर जाने लगा है जो आज की राजनैतिक-सामाजिक स्थिति से अधिक जुड़े हों। यह स्थिति स्वागत-योग्य है। रंगकर्मियों की चिन्ता अब ऐसे नाटकों को खेलने की होती जा रही है जो इन्सान के मन की रचना से अधिक समाज की रचना के सन्दर्भ में प्रासंगिक हों। इसीलिए अब मोहन राकेश उतने नहीं खेले जाते, जितना ब्रेख्त के नाटकों का अनुवाद तथा हिन्दी में लिखे कुछ एक-दो राजनैतिक नाटक खेले जाते हैं। अन्य भारतीय भाषाओं से अनूदित वे ही नाटक ज्यादा खेले जा रहे हैं जो देश की सामाजिक-राजनैतिक संरचना से अधिक प्रतिबद्ध हैं, जिसमें विजय तेन्डुलकर और बादल सरकार के कुछ नाटक आते हैं।

इस स्थिति से पता चलता है कि देश के सांस्कृतिक जगत का मन बदल रहा है यद्यपि उतनी तेजी से साहित्य नहीं बदल रहा है। फिर भी आज कविता, कहानी, उपन्यास सभी क्षेत्रों में सामाजिक, राजनैतिक प्रासंगिकता ही उभरकर आ रही है और हिन्दी ही नहीं भारतीय स्तर पर भी ऐसी ही रचनाएँ प्रथम पंक्ति में हैं। नाटक भी ऐसे ही खेलने के लिए चुने जा रहे हैं। यहाँ उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं क्योंकि यह स्थिति इतनी स्पष्ट है कि इसे उदाहरण देकर पुष्ट करने की ज़रूरत नहीं है।

यदि नाटक तक ही अपने को सीमित करें तो हिन्दी में एक-दो को छोड़कर राजनैतिक नाटक नहीं हैं। यह आश्चर्य की बात है कि रंगकर्मियों का रुझान ऐसे नाटकों की ओर होते हुए भी ऐसे नाटकों की कमी है। उन्हें अनुवादों के पीछे भागना पड़ रहा है। वैसे ऐसे नाटकों की कमी नहीं है जिनमें राजनैतिक फ़िकरेबाजी होती है। राजनैतिक फ़िकरेबाजी, राजनैतिक नाटक नहीं है, न ही भौंड़े व्यवस्था-विरोध का नाटक, राजनैतिक नाटक है। राजनैतिक नाटक ज्यादा गहरी चीज़ है। उसमें व्यवस्था-विरोध हो सकता है लेकिन केवल व्यवस्था-विरोध के आग्रह का नाटक सही अर्थों में राजनैतिक नाटक नहीं होता। राजनैतिक नाटक सामाजिक-राजनीतिक बुनावट को, उसके आर्थिक ताने-बाने को वर्गचेतना के साथ गहराई से प्रस्तुत करता है। यह विवेचना अनुकूल व्यवस्था का समर्थन भी कर सकती है और प्रतिकूल व्यवस्था का विरोध भी। आज राजनैतिक नाटकों के नाम पर बहुत ऐसे नाटक खेले जाते हैं जिनमें राजनैतिक फ़िकरेबाजी होती है या सतही तौर पर व्यवस्था का विरोध होता है। यह दोनों ही इतने वायवीय होते हैं कि प्रभावहीन होते हैं। सही राजनैतिक नाटक शोषण और अन्याय को जन्म देने-

वाली ताकतों पर प्रहार करता है—उनकी जड़ पर प्रहार करता है, केवल उनकी डालियाँ नहीं काटता।

आज व्यवस्था-विरोधी लेखन एक फैशन होता जा रहा है—कविता और कहानी की तरह नाटक में भी। ऐसे लेखन में संसद, सरकार, नौकरशाही, सेठ-साहूकार, भ्रष्टाचार सभी पर फ़िकरेबाजी होती है। यह तो पता चलता है कि लेखन इनका विरोधी है लेकिन इनका चरित्र और वे मूल कारण जो इन्हें मौजूदा कुरूपता प्रदान कर रहे हैं, वे स्पष्ट नहीं होते। अतः लेखन बिना बुनियादी बातों को समझे और उन्हें प्रेषित किये ही एक विद्रोही तेवर दिखाता है और शहीदाना मुद्रा में खड़ा हो जाता है। इसका कोई मतलब नहीं होता।

नाटक में तो और भी नहीं जहाँ पूरी बनावट का मतलब ही उस बुनियाद को दिखाना होता है जो कि जोकुछ घट रहा है, उसकी जिम्मेदार है।

हिन्दी के तथाकथित तमाम राजनैतिक नाटक वास्तव में राजनैतिक नाटक नहीं हैं। वे या तो नारेबाजी से या फ़िकरेबाजी से भरे होते हैं। इसी अर्थ में वे सही व्यवस्था-विरोधी नाटक भी नहीं हैं। व्यवस्था-विरोध गालियाँ देना नहीं है। यों भी सही सार्थक विरोध गालियाँ देना नहीं होता। क्योंकि गालियाँ देने से गालियाँ खानेवाला जीवित रहता है, उसका अहित नहीं होता। अक्सर व्यवस्था चाहती भी है कि उसे गालियाँ देनेवाले लोग बने रहें और वह यह कह सके कि उसने गालियाँ देनेवालों को स्वाधीनता दे रखी है—विरोधियों का वह सम्मान करती है। लेकिन वस्तुतः यह नपुंसक विरोधियों का सम्मान होता है। लेकिन सही राजनैतिक नाटक ऐसा सतही विरोध नहीं करता। वह गलत व्यवस्था—शोषक या अन्यायी व्यवस्था के अस्तित्व के लिए चुनौती बनता है क्योंकि वह उन चालों को बेनकाब करता है, जिनपर वे अपना साम्राज्य खड़ा करते हैं।

इस तरह व्यापक अर्थों में वह व्यवस्था-विरोध से नहीं मानवीय नियति से जुड़ता है और देशकाल से ऊपर भी उठ जाता है। अतः सही राजनैतिक नाटक सामाजिक-राजनैतिक तन्त्र को उसके आर्थिक ताने-बाने के साथ वर्गचेतना की भूमि पर परखता हुआ उसे मानवीय नियति से जोड़कर देशकाल से ऊपर उठाता है। क्योंकि उसका विरोध शोषण और अन्याय से है और इसको बनाये रखनेवाली ताकतें हर युग में अपना मुखौटा बदलती रहती हैं, सच्चे कवि और नाटककार को उसे समझना होता है और उससे जूझने के लिए हमेशा तैयार रहना पड़ता है। हिन्दी के नाटककार के पास अभी यह तैयारी नहीं है। उसे ब्रेख्त से बहुत कुछ सीखना है और उसे आगे बढ़ाना है।

इसलिए इस कथन को कि हिन्दी में सही राजनैतिक नाटक नहीं है अन्यथा न लिया जाये। बल्कि इस बात को रेखांकित करके समझा जाये कि इस हिन्दी-मंच को सही राजनैतिक नाटकों की जरूरत है क्योंकि देश का सांस्कृतिक परिवेश

बदल चुका है और सारा देश अनेक स्तरों पर एक व्यापक शोषण और अन्याय के दौर से गुज़र रहा है। रंग-जगत तेजी से बदल रहा है। नाटक देखने और करने-वालों की ज़रूरतें बदल गयी हैं, उनकी माँगें बदल रही हैं। इन माँगों को पूरा करने के लिए सही राजनैतिक नाटकों की ज़रूरत है। तथाकथित व्यवस्था-विरोधी या फ़िकरेबाजीवाले नाटक की नहीं।

हिन्दी-साहित्य : दो अतियों के बीच

आज साहित्य दो अतियों के बीच साँस ले रहा है। एक कलावादी अति है, दूसरी जनवादी। एक के पास आज भी—कला, कला के लिए है—का नारा है, शोषित समाज और जन से उसे कोई मतलब नहीं। दूसरी के पास 'साहित्य जन के लिए' का नारा है पर उसे अपने दल को छोड़ जन से जैसे कोई मतलब नहीं। कलावादी चाहता है कि समसामयिक-सामाजिक राजनीतिक यथार्थ से कटकर, प्रेम, प्रकृति, अध्यात्म-जैसे शाश्वत विषयों पर ही लिखा जाये और जनवादी चाहते हैं कि इन शाश्वत विषयों को तिलाञ्जलि देकर केवल सामाजिक, राजनैतिक शोषण और जन-समस्याओं पर ही लिखा जाये, वह भी उनके संगठन के चश्मे से देखकर। अन्यथा जो आप लिखेंगे वह आम आदमी के जीवन से जुड़ा होने पर भी जन-साहित्य नहीं होगा। लेखक पहले एक राजनीतिक संगठन का सदस्य हो फिर जन-साहित्य लिखे। बिना ऐसा किये वह जन-साहित्य नहीं लिख सकता। कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टी सबकी जन-साहित्य की परिभाषा यही है कि लेखक उनकी पार्टी का सदस्य है या नहीं, उनकी पार्टी के चश्मे से राजनैतिक-सामाजिक लड़ाई को देख रहा है या नहीं। फल-स्वरूप साहित्य का उनके लिए कोई अर्थ नहीं, जन-साहित्य का भी उनके लिए अर्थ नहीं, केवल पार्टी-साहित्य का ही उनके लिए अर्थ है। पार्टी-साहित्य यानी उनकी पार्टी का लेखक जो साहित्य लिख रहा है, वही उनके लिए श्रेष्ठ साहित्य है, बाकी सब बकवास है।

अभी एक हिन्दी-समीक्षा की पुस्तक देखने में आयी जिसमें हिन्दी के एक समर्थ कवि के बारे में पुस्तक के अन्त में कहा गया था—"अभी इन्हें और परिश्रम की ज़रूरत है।" जैसे कविता परिश्रम करने से आ जाती है! पुस्तक स्वर्गीय गोपालन को समर्पित है और उसके लेखक मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य

हैं। पार्टी के कवियों की उपलब्धि और उद्धरणों से किताब भरी हुई है। उन्हें न कवि की पहचान है, न कविता की पहचान है, बस पार्टी का ज्ञान है। जन-साहित्य की बात ऐसे करते हैं जैसे 'जन' को इन्होंने खरीद लिया है। हर राजनीतिक पार्टी समझती है उनकी पहचान और उनकी समस्याओं का निदान उसी के पास है। चाहे दक्षिणपन्थी हो या वामपन्थी, चाहे वह प्रतिक्रियावादी कहलाती हो, चाहे खुद को प्रगतिवादी कहती हो। जन की बपौती उसी की है और उसके पार्टी-लेखक की है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है, संकीर्ण मनोवृति है। यह चश्मा देने की नहीं पाठकों को अन्धा करने की कोशिश है। पर यह कोशिश बहुत चलती नहीं।

साहित्य के क्षेत्र में आज यह दिलचस्प स्थिति है कि प्रतिक्रियावादी, एक दीर्घ-कालीन सामन्तवादी साजिशों के सूक्ष्म शिकार कलावादियों का नारा बुलन्द करते हैं। उन्हें रास आता है कि कविता प्रेम, प्रकृति, अध्यात्म, अमूर्त देशप्रेम, हिन्दू संस्कृति आदि पर ही लिखी जाये। यदि शोषित गरीब की यातना का उल्लेख भी आ गया तो कविता का शील भंग हो गया। और जनवादी; प्रेम, प्रकृति आदि की बात सुनते ही उखड़ जाता है। उसे लगता है उसकी लड़ाई ही कमजोर हो गयी, उसे आगे बढ़ाने की जगह पीछे ठेला जा रहा है। दोनों अपनी-अपनी जगह दृढ़ हैं। एक-दूसरे के विषयों को घुसपैठ मानते हैं जैसे मानवता के विनाश के लिए बहुत बड़ी साजिश हो। इन दोनों खेमों के समीक्षक अपनी-अपनी लाठी (अभी आग्नेय अस्त्रों की नौबत नहीं आयी है।) अपनी-अपनी फौज (लूली-लँगड़ी ही सही) लिये साहित्य के मैदान में परेड कर रहे हैं।

व्यक्ति सामने है। चाहे किसी पत्रिका का लेख हो या पुस्तक-समीक्षा दोनों में यही खण्डित अधूरी दृष्टि ही नजर आती है। यदि एक कलावादी समीक्षा कर रहा होगा तो वह बड़ी आसानी से कह देगा—"अच्छी-भली कविता राजनीतिक आग्रह के कारण नष्ट हो गयी।" और यदि जनवादी कर रहा होगा तो पहले अपने दल का बिल्ला देखेगा और नहीं है तो कहेगा—"कवि अभी भ्रमित है उसमें दृष्टि का अभाव है।" ऐसे फ़िकरे समीक्षा में आम हो गये हैं। अब पूछिए इनसे यदि कविता अच्छी-भली है तो आप राजनीतिक स्पर्श से क्यों भड़के? जीवन में राजनीति के स्पर्श से तो नहीं भागते? यह क्या अछूत स्पर्श है। आप इससे डरते क्यों हैं? प्रेम और प्रकृति का स्पर्श, देशप्रेम और हिन्दू जाति का स्पर्श तो आपको स्वीकार नहीं है जो समाज की बुनियाद पर चोट करता है। यहाँ स्पर्श का अर्थ वायवी नहीं है तात्पर्य पकड़ से ही है, जिसकी पकड़ में कवि की संवेदना है। घटिया खेमेबाज समीक्षक इस शब्द को लेकर ही न दौड़ पड़ें। इसीलिए स्पष्ट कर दिया।

सो जनवादी समीक्षक के पास कला-दृष्टि नहीं है, कलावादी समीक्षक के पास जनवादी दृष्टि नहीं है। एक को जन से प्रयोजन नहीं, दूसरे को कला से

प्रयोजन नहीं। हमें दोनों के प्रयोजन हैं—कला से भी, जन से भी। दोनों एक दूसरे के शत्रु नहीं हैं। हम एक समग्र दृष्टि चाहते हैं। अधूरी दृष्टि नहीं अपनाते। हम समग्रता में रचते हैं। न एक की तरह आन्तरिक यात्रा को ही सबकुछ मान बैठते हैं न दूसरे की तरह बाह्य-यात्रा को ही। हमारी निजता भी समाज का हिस्सा है। समाज से ही हमारी निजता की पहचान बनती है।

साहित्य से हम कुछ भी निकाल देने के पक्ष में नहीं हैं—ऐसा कुछ भी जो हमारी अनुभूति का अंग है जिससे हमारी संवेदना झंकृत होती है। हमारे लिए प्रेम उतना ही अनिवार्य है, जितना कि क्रान्ति। दोनों बुनियाद में अलग-अलग हैं भी नहीं। प्रेम, यौवन, प्रकृति उतने ही सत्य हैं जितने शोषण, अन्याय, यातना। सबकुछ हम झेलते हैं। अनुभव करते हैं, लिखते हैं। इससे जीवन पूर्ण होता है। कविधर्म भी पूर्ण होता है।

हमारी लड़ाई हर मोर्चे पर है क्योंकि हर मोर्चा खुला हुआ है और हममें वह सामर्थ्य है कि हर मोर्चे पर हम लड़ सकें। हम अपनी लड़ाई को एकांगी नहीं करते।

हम मानते हैं और मानते रहेंगे कि कलम लेकर बैठा हुआ आदमी सम्पूर्ण आदमी होता है, उसकी जिम्मेदारी बड़ी होती है। यदि वह किसी भी लड़ाई को आधा देखता है या आधा लड़ा है तो वह कलम उठाने का नैतिक अधिकार खो बैठता है, यदि वह आधा लिखता है, समग्रता में नहीं रचता तो वह डरा हुआ है चाहे वह प्रतिक्रियावादी ताकतों से जुड़ा हुआ हो चाहे तथाकथित प्रगतिवादी ताकतों से। तथाकथित इसलिए कि प्रगतिशील दृष्टि अधूरी दृष्टि नहीं होती, समग्र दृष्टि होती है क्योंकि बिना समग्र दृष्टि के प्रगतिशीलता का कोई अर्थ नहीं होता। हिन्दी-समीक्षक जितनी जल्दी इसे समझ जायेंगे उतना ही अपना कल्याण करेंगे। जहां तक लेखक का सवाल है, आज का हर सच्चा, ईमानदार, निर्भीक, समर्थ लेखक इसे मानता है और वही है जो सार्थक रच रहा है।

कुछ एक लोग ज़रूर चूक गये हैं। उन्होंने अपने को काट लिया है। अपने लिए वर्जित क्षेत्र बना लिये हैं। यह दुर्भाग्य की बात है। सच्चा लेखक कोई वर्जित क्षेत्र नहीं बनाता। उसका वर्जित क्षेत्र वही है जो उसकी अनुभूति का अंग नहीं है। वह क्षम्य भी है। किसी एक परिधि में ही उनकी सेवाएँ मूल्यवान हो सकती हैं। लेकिन जो जान-बूझकर वर्जित क्षेत्र बनाते हैं चाहे वे जनवादी हों या कलावादी, रचनात्मक स्तर पर अपनी कलम के साथ विश्वासघात करते हैं।

जनवाद का 'एगमार्क'

बाजार जाइए तो 'एगमार्क' लगा तेल, मसाला खरीदिए। चाहे उसमें जितनी ही मिलावट और गन्दगी क्यों न मिली हो आप विशुद्ध चीज़ लेकर आये हैं, यह भरोसा आपमें बनाने की कोशिश इस 'एगमार्क' के द्वारा की जाती है। वही हाल साहित्य का होता जा रहा है। जिस कवि या रचना पर जनवाद के 'एगमार्क' का ठप्पा लग जाये वही सही जनसम्पृक्त रचना है, वही साहित्य है, यह भाव आपमें जगाया जा रहा है। साहित्य में यह 'एगमार्क' कई कम्पनियाँ लगाती हैं—एक भाकपा की कम्पनी है, नामी कम्पनी; एक माकपा की है, अपेक्षाकृत नयी और कई कम्पनियाँ मार्क्सवादी लेनिनवादी भी हैं, पर अभी उनकी उतनी शोहरत नहीं है।

दोनों कम्पनियों के अपने-अपने समीक्षक हैं, अपने-अपने कवि और लेखक हैं, दोनों अपने को मार्क्सवादी भले ही कहें, पर अब साहित्य में मार्क्सवाद नाम की कोई चीज़ नहीं रह गयी है। जब राजनीति में ही नहीं रह गयी है तो साहित्य में जिसे कि ये कम्पनियाँ चला रही हैं कहाँ रह जायेगी भला। अब तो राजेश्वरराव-वाद, ज्योतिबसुवाद, डांगेवाद —यही चल रहा है। हैरत होती है यह देखकर कि भाकपा और माकपा के समीक्षक, जिन्हें कवि, लेखक तैयार करने और उनपर जनवाद का 'एगमार्क' लगाने का 'पार्टीवर्क' सौंपा गया है, उनकी अपनी पार्टी में ही क्या हैसियत है ! पार्टी के नेता क्या अपना वक्तव्य या प्रस्ताव बनाते समय उनका सहायता लेते हैं ? इन समीक्षकों और उनके द्वारा ठप्पा-प्राप्त कवियों, लेखकों का साहित्य में क्या स्थान है, यह जानने के पहले तो यही जानना चाहिए कि उनकी पार्टी में ही क्या स्थान है और क्या अहमियत है ?

यहाँ जनवादी कवि, लेखक की साहित्यिक स्थिति के बारे में हम अभी कुछ नहीं कह रहे, उनकी राजनैतिक हैसियत के बारे में ही बात कर रहे हैं। हिन्दी-कविता में एक जमाना राष्ट्रवाद का था। राष्ट्रवाद शब्द राष्ट्रीय आन्दोलन से आया था। उनके कवियों की कांग्रेस में प्रतिष्ठा और मान्यता थी। यदि यह मान लें कि ये राष्ट्रीय कवि तत्कालीन राजनैतिक संगठन—कांग्रेस के आदेश पर लिखते थे (वैसे ऐसा नहीं था, राष्ट्रवाद स्थिति थी, ठप्पा नहीं, जनवाद की तरह) तो भी कांग्रेस का नेता उनका महत्त्व समझता था। पर आज भाकपा, माकपा का नेता अपने कवियों, लेखकों को क्या समझता है ? उन्हीं दिनों एक शब्द उभरा 'प्रगति-वाद' जो सोवियत संघ की देन है और कुछ दबदबा जनवाद शब्द भी लाया, जो चीन की देन है। प्रगतिवाद चलाने की हिन्दी में कोशिश की गयी। कुछ चला, पर मुरझा गया। अच्छा-खासा शब्द था पर जाने क्यों ये लोग उससे ऊब गये। माली की गलती से मुरझाया पौधा जैसे तिरस्कृत कर दिया जाये ! उसकी जगह अब

इधर जनवाद शब्द चलाया जा रहा है। देखें कब तक चलता है और कब इसे बरखास्त कर दिया जायेगा। तो अब यह जनबाद सभी चला रहे हैं। राजेश्वरराव-वादी भी, ज्योतिवसुवादी भी और डांगेवादी भी चलायेंगे यदि थोड़ा और मजबूत हो जायेंगे।

हम कविता और राजनीति का रिश्ता सुनकर भड़कने वालों में नहीं हैं, न ही ऐसा रिश्ता होने से हमें परहेज है। बल्कि मानते हैं कि आज के समय में यह रिश्ता जरूरी है। लेकिन यह रिश्ता मजबूत तो हो। कविता भी दीखे और राजनीति भी। जनवाद का 'एगमार्क' क्या यह कर पा रहा है?

थोड़ी देर को आप कविता को भूल भी जायें; उसके मूल गुणों, उसके सौन्दर्य-बोध को और मान भी लें कि इसे देखना रूपवाद है तो क्या इन दलों की राजनीतिक कविता वह काम कर रही है जो उसे करना चाहिए? माकपा और भाकपा किसी मसले पर क्या कहते हैं यह हम राजेश्वरराव और ज्योसतिबसु का प्रस्ताव पढ़कर ही जानना बेहतर समझेंगे, न कि इनके कवियों की कविता पढ़कर। क्योंकि उनकी भाषा है इनसे बेहतर है। इन पार्टियों के कवियों का अपनी ही पार्टी को कोई योगदान नहीं, न पार्टी की बहस को राह दिखाते हैं, न पार्टी के नेताओं को और आकर्षक भाषा देते हैं, न उनकी उलझनों (कन्फ्यूजन) को दूर करते हैं, न पार्टी की अन्दरूनी विसंगतियों को साफ करते हैं। ऐसी स्थिति में इनका पार्टी के लिए ही क्या मतलब रह जाता है? राजनैतिक कविता का काम कर्म की ओर प्रेरित करना है, भावविलास की ओर नहीं---यह मान लीजिए और देखिए कि इनकी कविता क्या कर रही है। किस कर्म की ओर प्रेरित कर रही है? यदि ये जनवादी कवि अपनी पार्टी को कुछ नहीं दे पा रहे तो क्या जन को दे पा रहे हैं, जिसका तिलक लगाये हुए हैं? दत्ता सामन्त की बम्बई की छः महीने की हड़ताल पर माकपा-भाकपा के इन जनवादी कवियों में से किसी एक ने भी एक भी कविता लिखी? नहीं लिख सकते थे क्योंकि वह माकपा-भाकपा की करायी हुई हड़ताल नहीं है। पार्टी का आदेश नहीं था, कैसे लिखते; जबकि 1930 के काफी पहले ढाई महीने की कम्युनिस्टों द्वारा करायी गयी हड़ताल का वर्णन करते कम्युनिस्ट कवि आज भी नहीं अघाते। क्या दत्ता सामन्त की हड़ताल का जन से, मजदूरों से सरोकार नहीं? जनवादी कवि को काव्य और आचरण दोनों के आधार पर तौलना होगा। यदि वह न पार्टी के काम का है न जन के, तो यह उस पर लगा जनवादी 'एगमार्क' लेकर हम क्या करेंगे?

पार्टी-नेता को कवि, लेखक से कोई सरोकार नहीं जबकि कवि उसका मुँह जोहता है। यदि राजनीति पर गम्भीर विनिमय दरकार है तो आज के राजनीतिक कविता लिखनेवाले जनवादी कवि से आपको क्या मिलेगा? नेता के पास जाना होगा। रामविलासजी ने मुक्तिबोध को मार्क्सवादी नहीं पेटीबोर्जुआ लेखक कभी

कहा था, क्योंकि उनके लेखन से साफ नहीं होता था कि वे किस पार्टी के लेखक हैं। क्या इन जनवादी कवियों के लेखन से मालूम होता है कि ये किस पार्टी के लेखक हैं? हाँ, मसलों पर इनकी खामोशी से जरूर मालूम हो सकता है कि ये किस पार्टी के लेखक हैं। चाहे वह दत्ता सामन्त की हड़ताल हो, चाहे अफगानिस्तान पर रूस का हमला। चाहे पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया की स्थिति। अतः इस स्थिति में रहना कि यदि पार्टी की राजनीति गलत है तो आपकी कविता की चिन्ता भी गलत है—एक दुखद स्थिति है—पार्टियों के जनवादी कवि इसे जितनी जल्दी समझ लें, बेहतर है।

और यदि ये कविगण कहते हैं कि हम कविता को इन राजनैतिक घटनाओं की ओर नहीं मूल स्रोतों की ओर ले जा रहे हैं तो फिर काव्य के सौन्दर्य और मानवीय चिन्ताओं की ओर गहरे जाना होगा जहाँ किसी पार्टी के जनवादी 'एगमार्क' की जरूरत नहीं है। इन्दिरा गाँधी के गोली चलाने पर तो कविता लिखना लेकिन ज्योतिबसु के गोली चलाने पर न लिखना, फिर सम्भव नहीं है। नहीं होगा।

विश्वसनीयता के लिए जरूरी

हिन्दी में साहित्य के इने-गिने पुरस्कार हैं। युवा लेखकों के लिए तो और भी कम हैं। इस दिशा में लोग पहल क्यों नहीं करते, इस प्रश्न पर अनेक ऐसे लोग जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं और साहित्य से प्रेम रखते हैं, यही कहते पाये जाते हैं कि 'यह गाली खाने का ही काम है।' एक हद तक यह सच भी है। एक का निर्णय दूसरे को पसन्द नहीं आता। यह शायद साहित्य के क्षेत्र में अन्य कलाओं के मुकाबले कुछ ज्यादा है। निर्णय का कितना भी व्यापक आधार हो उसमें मूल्यांकन के अतिरिक्त कुछ और खोजने की प्रवृत्ति बनी ही रहती है। लेकिन यह प्रवृत्ति पूरी तरह निराधार नहीं है, इसको कमोबेश आधार साहित्यकार स्वयं देते हैं। आज एक भी साहित्यकार, समीक्षक, आलोचक, हिन्दी-जगत् में ऐसा नहीं है, जिसकी निष्पक्षता पर लोगों को विश्वास हो। यदि निर्णायक का नाम लोगों को मालूम हो जाये तो अक्सर यह अटकल सही हो जाती है कि पुरस्कार किसको मिलेगा। साहित्य अकादमी तक के पुरस्कार इस पक्षधरता के आरोप से मुक्त नहीं रह पाते।

आज समीक्षकों, आलोचकों और साहित्यकारों पर यह अविश्वास इसलिए भी है कि उनकी समीक्षा-पुस्तकों और समीक्षा-लेखों में यह पक्षधरता साफ-साफ दीखती है। यह पक्षधरता मूल्य-स्तर पर इतनी नहीं होती जितनी परिचय, मित्रता,

राजनैतिक गुटबाजी (जिसे विचारधारा कहा जाता है) के स्तर पर होती है। यह मान भी लें कि साहित्यिक मूल्यवत्ता की पहचान अपने में सबसे अलग कोई चीज़ नहीं होती तो आज के समीक्षक अपनी राजनैतिक विचारधारा के तहत मूल्यांकन करते हुए भी उस 'भाई-भतीजावाद' के दोष से मुक्त नहीं हो पाते जिससे पूरे देश का सत्ता-जगत् ग्रस्त है। साहित्यिक सत्ता और राजनीतिक सत्ता का आचरण एक जैसा हो गया है। युवा लेखक इसका शिकार सर्वाधिक होता है। यदि प्रोत्साहन देनेवालों या मूल्यांकन का नाटक करनेवालों से उसका समीकरण नहीं बनता है तो वह अकेले अपनी रचना के मोर्चे पर लड़ता, टूटता रहता है। प्रकाशन के उदार, निष्पक्ष माध्यमों के न होने से वह उन समीकरणों के बनाने में अपनी सर्जनात्मक शक्ति का अपव्यय करता है जो रचना में लगनी चाहिए। वह साहित्य में 'चलती दुकानों' से जुड़ता है और इससे उसकी रचना की दुनिया और उसके लेखों-वक्तव्यों और जुड़ाव की दुनिया अक्सर अलग हो जाती है, जिसका असर रचना की गुणवत्ता पर कहीं-न-कहीं पड़ता ज़रूर है, क्योंकि बाजार में निकलने और दूकानों पर बैठने के लिए उसी तरह के कपड़े पहनने ही पड़ते हैं। इससे छुटकारे का कोई उपाय नहीं है। पक्षधर चालबाज समीक्षकों, आलोचकों और ख्यातिप्राप्त साहित्यकारों को बदला नहीं जा सकता। युवा रचनाकारों को खुद यह जोखिम उठाना है कि वे रचें और बेचें।

ऐसी स्थिति में यदि पुरस्कारों की संख्या बढ़े और थोड़ी बहुत 'गाली खाने के लिए' ऐसे लोग भी तैयार हों जो केवल साहित्य के सुधी पाठक हों, लेखन या प्रकाशन-कर्म से न जुड़े हों तो शायद उन कुछ ऐसे युवा साहित्यकारों पर भी नज़र जाये जो आज के चक्रव्यूहों में प्रवेश से बचकर रचते हैं। चक्रव्यूह-भेदन तो आसान है पर उससे सही सलामत निकल आना दिन-पर-दिन कठिन होता जा रहा है। पुरस्कार देनेवाली संस्थाओं ने यह काम तो शुरू कर दिया है (अच्छा और सराहनीय है) कि निर्णायकों के नाम घोषित कर दें लेकिन ज़रूरी है कि पुरस्कृत कृति पर निर्णायक के समीक्षात्मक निबन्ध छापे जायें ताकि स्पष्ट हो कि पुरस्कृत रचना का आधार किसी तरह की गुटबाजी नहीं, मूल्यगत ही है और उनकी विश्वस-नीयता व्यापक साहित्य जगत् में प्रमाणित हो, झूठे आरोपों की प्रवृत्ति समाप्त हो। कम-से-कम वह सीमित मूल्यगत आधार ही स्पष्ट हो, जिसके तहत रचना पुरस्कृत हुई। यह ज़रूरी काम है। कभी-कभी पुरस्कार की राशि युवा-साहित्य-कारों के लिए उतनी उत्साहवर्धक नहीं होती, जितना उसका सही मूल्यांकन।

दूसरों की भावना और अपनी संस्कृति

पिछले दिनों राजधानी के सांस्कृतिक जगत में एक ऐसी घटना घटी जिस पर जितना विक्षोभ प्रकट किया जाना चाहिए था उतना नहीं प्रकट किया गया। इसका कारण यह नहीं था कि विचित्रता ने लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं किया बल्कि यह था कि घटना में निहित बुनियादी सांस्कृतिक मूल्यों की तरफ लोगों का ध्यान नहीं गया।

राजधानी में एक नृत्यांगना हैं भारती शिवाजी—युवा कलाकारों में अपनी मौन-साधना, विनयशीलता और प्रतिभा में अनन्य। मोहनी अट्टम की वह सर्वोत्तम कलाकार हैं। जून में उनके पास 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद' (आई. सी. सी. आर.) से एक पत्र आता है कि उन्हें भारतीय स्वाधीनता दिवस के अवसर पर कराची के भारतीय दूतावास में भरत-नाट्यम और मोहनी अट्टम का प्रदर्शन करना है। इसके लिए वह तैयारी करती हैं—एक कलाकार मद्रास से, तीन केरल से, एक जमशेदपुर से, इस कार्यक्रम के लिए बुलाती हैं। ये कलाकार तीन-चार दिन पहले इतनी दूर की यात्रा कर दिल्ली आते हैं। नृत्यांगना के साथ अभ्यास कर कार्यक्रम के लिए तैयार होते हैं। 13 अगस्त को पाकिस्तान इण्टर-नेशनल एयरलाइन्स का टिकट बुक होता है। 13 को ही सुबह ग्यारह बजे भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद से खबर मिलती है कि पाकिस्तान दूतावास से वीज़ा मिल गया जो तब तक मिला नहीं था, क्योंकि कराची से पुष्टि नहीं हुई थी। अब नृत्यांगना विदेशी मुद्रा आदि का प्रबन्ध कर पासपोर्ट आदि लेने 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद' आती है, फिर आठ सदस्यों के अपने संगत कलाकारों के साथ पालम हवाई अड्डे पर शाम 5 बजे पहुँचती है। हवाई जहाज की उड़ान सवा सात बजे हैं। पौने छह बजे भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद का अधिकारी आता है और बताता है कि "कराची में आपका प्रोग्राम स्थगित हो गया है। ऐसी खबर कराची के भारतीय दूतावास से अभी आयी है।" नृत्यांगना को अपने कलाकारों के साथ निराश और अपमानित होकर वापस लौटना पड़ता है। यह ऐसा धक्का है जिसका अनुमान, जो कलाकार नहीं है और नृत्य की दुनिया को ठीक से नहीं जानता, नहीं लगा सकता। संगत कलाकारों के इतनी दूर से आने, यहाँ उनके ठहरने, खाने-पीने तथा अभ्यास-काल की उनकी फीस देने, आदि पर भी नृत्यांगना को खर्च करना पड़ा।

इन संगत कलाकारों को वहाँ के कार्यक्रमों को स्थगित करने का जो आर्थिक नुकसान सहना पड़ा, यह कौन समझ सकता है? आठ-नौ हजार रुपया नृत्यांगना का इस सबमें खर्च हुआ है। ये दूरागत सीधे-सादे कलाकार सरकारी तन्त्र को नहीं

जानते। अपना टिकट तक सँभालकर रखना होता है, उन्हें नहीं मालूम। आने-जाने का किराया लेने के लिए (जिसे भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद ने देने का वादा किया है) अनेक औपचारिकताओं का निर्वाह करना होता है, इससे अनभिज्ञ हैं। वे किस तरह अपनी क्षति पूर्ति करेंगे? उसे नृत्यांगना को ही पूरा करना होगा, क्योंकि वह नृत्यांगना को ही जानते हैं। जो अपमानजनक स्थिति हुई है, उसकी सफाई उनके सामने कैसे दी जाये? वह तो नृत्यांगना के प्रति ही एक अविश्वास लेकर लौटेंगे चाहे वह उनका सारा हर्जाना भर दे। "क्या अगली बार बाहर जाने का मेरा निमन्त्रण ये लोग अब स्वीकार करेंगे?" नृत्यांगना के इस सवाल का जवाब किसके पास है,इस स्थिति में निहित जो अपमान है उसे भूल भी जायें तो?

गलती किसकी है? पाकिस्तानी दूतावास यह कहकर माफी माँग लेता है कि कुछ गलत फहमी हो गयी। भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद, उसके सचिव तक नृत्यांगना से इस स्थिति के लिए क्षमा माँग लेते हैं। (यद्यपि यह सब जबानी होता है। क्षमायाचना का कोई भी लिखित औपचारिक पत्र किसी की ओर से नृत्यांगना को नहीं भेजा जाता) नृत्यांगना सब सह लेती है। कोई हो-हल्ला नहीं मचाती। अखबारवालों से भी कुछ कहने से बचती है, उनसे भेंट और साक्षात्कार आदि के लिए मना कर देती है और अपनी भावना की चोट और आर्थिक चोट को पी जाती है। कलाकारों के जाने का खर्च यदि 'आई. सी. सी. आर.' दे भी देता है तो बाकी खर्चा कौन देगा? नृत्यांगना के सिवा?

सांस्कृतिक जगत् को इस स्थिति में चुप नहीं रहना चाहिए और कराची स्थित भारतीय दूतावास को इसके लिए क्षमा माँगनी चाहिए और इस सन्दर्भ में अपनी सांस्कृतिक नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए।

सभी जानते हैं कि पाकिस्तान में स्त्रियाँ सार्वजनिक रूप से मंच पर नृत्य नहीं कर सकतीं। कानूनन इसका निषेध है। पिछले दिनों तो भारतीय शास्त्रीय संगीत को लेकर एक लम्बा विवाद वहाँ चला था। रागों के भारतीय नाम वे बदलना चाहते थे। राधा-कृष्ण का नाम गाने में आने का वहाँ विरोध चला था। उसका इस्लामीकरण का आन्दोलन वहाँ हुआ था। चित्रकला को भी वहाँ प्रश्रय नहीं है। एक चित्रकार के अमूर्त चित्रों की प्रदर्शनी में अचानक एक जनरल पहुँच गया। उसने उसे तुरन्त पत्र भेजा कि यह प्रदर्शनी कैसी है जिसमें मस्जिद का कोई चित्र नहीं है? उसने मस्जिद के चित्र की माँग की। कलाकार ने तुरन्त अपनी प्रदर्शनी मारे डर के समेट ली, नृत्यांगनाओं में कुमुदनी लखिया अवश्य भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल में गयी थी और किरण सहगल और रसिका खन्ना अपने निजी कारणों से वहाँ अपना नृत्य निजी स्तर पर दिखा भी आयीं। रसिका खन्ना के माथे पर लगी बिन्दी देखकर लाहौर हवाई अड्डे पर पूछा गया—

"यह क्या है?"

"बिन्दी है।" उसने बताया।

"किसलिए लगाते हैं?"

"सुन्दरता के लिए।"

"सारे यूरोप में नहीं लगाते। हम लोग नहीं लगाते। क्या हम लोग सुन्दर नहीं हैं?"

सामान की तलाशी लेते समय उसके नृत्य-पोशाक के बारे में जब पूछा गया कि यह क्या है, तब उसने यह कहकर कि यह रात में पहनकर सोने के कपड़े हैं किसी तरह मुक्ति पायी। वहाँ पर एक परिचित स्कूल के हॉल में चुने हुए जान-पहचान के निमन्त्रित लोगों के सामने उसने नृत्य किया। नृत्य-कला की कितनी प्यास वहाँ है इसका प्रमाण यही है कि जान-पहचान के जो लोग किसी तरह नृत्य देखने से रह गये वे पछता रहे थे।

एक वृद्ध महिला से जब किसी मित्र के घर में उसका परिचय कराया गया और उस वृद्धा को मालूम हुआ कि यह नाचती है तो उसने पूछा—"घर में नाचती है न? मर्दों के सामने तो नहीं नाचती?"

ऐसा सांस्कृतिक माहौल है वहाँ कि कट्टर वृद्ध मुल्ला लोग कला और नृत्य के खिलाफ़ हैं पर जागरूक लोक-मानस में इसकी बेहद प्यास है, जिसका पता वहाँ के लोग जब भारत आते हैं तब चलता है।

अतः यह कहना कि कराची स्थित भारतीय दूतावास को पाकिस्तान सरकार की सांस्कृतिक नीति की जानकारी नहीं थी, गलत है। कराची स्थित भारतीय दूतावास ने पहले इस कार्यक्रम को स्वीकारकर, फिर जो अस्वीकार किया उसका तर्क यह दिया कि इससे पाकिस्तान की भावनाओं को चोट पहुँचेगी। आश्चर्यजनक दलील है यह। यदि संसार के सभी दूतावास अपनी संस्कृति का इसलिए निरादर करने लगें चूँकि वह उस देश को पसन्द नहीं, जहाँ उनका दूतावास है तो यह आजादी कैसी? हर देश के दूतावास को कम-से-कम अपने दूतावास की सीमा में हर तरह की आजादी होती है। वह वहाँ कुछ भी कर सकता है। कराची का भारतीय दूतावास अपने दूतावास की सीमा में यह आयोजन क्यों नहीं कर सकता था? ऐसे आयोजन पहले भी वहाँ हुए हैं। अब क्या हो गया? क्या पाकिस्तान से मैत्री-सम्बन्धों में इससे व्याघात पहुँचता? सच तो यह है कि दो देशों के बीच मैत्री-सम्बन्धों में व्याघात संस्कृति से नहीं पहुँचता बल्कि संस्कृति से सम्बन्ध मजबूत होते हैं। यदि व्याघात पहुँचता है तो राजनीतिक कारणों से। व्याघात के कारण अलग-अलग देशों से सैनिक अस्त्र खरीदना तो हो सकता है, अलग-अलग गुटों के प्रति झुकाव हो सकता है लेकिन अपनी संस्कृति, अपनी कला, अपने साहित्य, नृत्य, संगीत से व्याघात नहीं उत्पन्न हो सकता। यह बात कराची के भारतीय दूतावास को समझनी चाहिए।

दूसरों की भावना के आदर का तरीका अपनी संस्कृति का निरादर नहीं होता। अपने दूतावास में अपनी भारतीय दृष्टि, अपनी भारतीय संस्कृति को स्थापित रखना ज़रूरी है। पाकिस्तानी कानून दूतावास के बाहर हैं और वहाँ उनका आदर करना होगा। ज़रूरी है कि इस प्रसंग में भारतीय दूतावासों की सांस्कृतिक नीति पर फिर से विचार किया जाये और उन्हें यह आदेश दिया जाये कि वह चाहे जिस देश के भी हों भारतीय दृष्टि और भारतीय संस्कृति की छवि अपने दूतावास में धूमिल न होने दें बल्कि उसे पूरी तरह बनाये रखें, क्योंकि दूतावास तो एक देश होता है, अपनी पूरी आत्मा के साथ।

पाकिस्तान की संस्कृति में इतनी जकड़न क्यों है? यहाँ हम यह विचार नहीं कर रहे हैं, न यह कह रहे हैं कि सभी इस्लामी देशों में नृत्य-संगीत को खुली छूट है, स्त्रियाँ सार्वजनिक रूप से नृत्य करती हैं, हम यह कह रहे हैं कि भारतीय दूतावास को पाकिस्तान में उसकी सांस्कृतिक दृष्टि के हिसाब से अपनी सांस्कृतिक दृष्टि की पूंछ नहीं काट लेनी चाहिए थी। आशा है आगे वह ऐसी अशोभनीय स्थिति से खुद को बचायेगा और भारत के कलाकारों का अपमान नहीं करेगा, बल्कि उनकी और अपनी संस्कृति की प्रतिष्ठा में कोई कसर नहीं उठा रखेगा।

पेटियों में बन्द साहित्य

अभी डाक से एक पुस्तक और एक पत्र इस स्तम्भकार को प्राप्त हुआ है। पुस्तक है स्व. विपिन जोशी (बालकृष्ण जोशी 'बिपिन') का काव्य-संग्रह 'साधना के स्वर' और पत्र उनके एक आत्मीय का है। पत्र में, इस स्तम्भ में 21-27 सितम्बर को स्व. शिवचन्द्र शर्मा के माध्यम से उठाये गये सवालों का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि "विपिन जोशी मृत्यु पूर्व बारह-तेरह वर्षों से हमारे ही परिवार में रहते थे। उस समय विपिनजी की गणना स्थापित और ख्यातिलब्ध गीतकारों में होती थी। उन्होंने एक पुस्तक 'साधना के स्वर' प्रकाशित करवायी थी, वह भी उनके सामने छपकर न आ सकी। उनकी तेरहीं के दिन उसका विमोचन हुआ था। 'साधना के स्वर' की भूमिका स्व. माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखी थी। मृत्योपरान्त उनका शेष अप्रकाशित साहित्य एक पेटी में बन्द हमारे पास रखा गया जो आज तक रखा है···कम-से-कम तीन पुस्तकें प्रकाशित हो जायें, इतना उनका अप्रकाशित साहित्य आज हमारे पास मौजूद है। वर्ष में कई बार उन कागजों को धूप दिखाना और नेप्थलीन की गोलियाँ डालना—वर्षों से यही चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में

अनेक बार अनेक स्तरों से मध्य प्रदेश सरकार का ध्यान आकर्षित कराना चाहा परन्तु···आज विपिनजी के अनेक ऐसे मित्र और शिष्य हैं जो कि साहित्य से लेकर राजनीति पर छाये हुए हैं। उन्होंने भी कभी अपने मित्र या गुरु की कृतियों का जीर्णोद्धार करने की नहीं सोची···" फिर पत्र में उनकी लम्बी सूची है।

फिर 'साधना के स्वर' में लिखी गयी माखनलाल चतुर्वेदी की भूमिका पढ़ी—"हर तरह से मैं विपिन की कविता का गुणगान करता हूँ···इटारसीजैसे छोटे गाँव में सुदूर रहकर विपिन ऐसी कविताओं को बनाते और दुलकाते रहते हैं···उनके गीत न केवल मध्य प्रदेश की अपितु हिन्दी संसार की निधि हैं।"

फिर कवि का वक्तव्य है, जिसमें कहा गया है—"मैंने जब कविता लिखना शुरू किया तब छायावाद का सायंकाल और प्रगतिवाद का प्रातःकाल था, दोनों वादों की अस्तोदय लालिमा की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था···।"

फिर एक कविता पर निगाह रुक गयी—

> तुम चाहो तो अन्धकार में किरनें भी बो सकते हो,
> तुम चाहो तो मरुप्रान्तर में झरने भी बो सकते हो,
> दुखियों के सन्तप्त हृदय में सपने भी बो सकते हो,
> अमर शान्ति के लिए क्रान्ति के नगमें भी बो सकते हो,
> अपनी शक्ति समझकर अपने सपनों को साकार हो।

सोचने लगा, कपड़ों के फैशन की तरह हर दस साल बाद जहाँ कविता का फैशन भी बदल जाता हो, वहाँ पुरानी कविता अपनी ईमानदार बुनावट के बावजूद कैसे खड़ी रह सकती है और उन्हें भा सकती है, जो बाजार में अपनी दूकान चलाने के लिए कविता के नये फैशनों की वकालत ही नहीं करते, उन्हें प्रचलित करने के लिए हर ढंग अपनाते हैं। चार प्रभावशाली लोग जिस कपड़े को पहन लें वही फैशन बन जाता है, चल निकलता है। कविता के साथ भी आज यही हो रहा है, फिर विपिन जोशी की कविता कैसे टिकेगी? न ऐसे प्रेमी हैं अब, न ऐसे पारखी। इसलिए ऐसा साहित्य पेटियों में बन्द रहेगा और उनके आत्मीय उन्हें धूप दिखाते रहेंगे। पन्तजी के टक्कर के कवि बल्कि उनसे अधिक जीवन से जुड़े कवि चन्द्रकुंवर बर्तवाल का साहित्य ऐसे ही उनके किसी मित्र की पेटी में पड़ा, उनके निधन के बाद सड़ गया। और यदि है कहीं तो इस स्तम्भकार को नहीं मालूम। यदि अप्रकाशित रहता तो माखनलाल चतुर्वेदी का भी इसी तरह पेटियों में बन्द पड़ा रहता। मुक्तिबोध का (जिनका नाम लेकर तरनेवालों की संख्या इतनी बड़ी है) जिनके नाम के उल्लेख के बिना आज की कविता-चर्चा नहीं होती, उनकी पेटी भी उनके पहले काव्यसंग्रह के बाद पन्द्रह साल बाद खुली है, जबकि उनके बीबी-बच्चे इष्टमित्र यहाँ तक कि उनके नाम पर व्यवसाय चलानेवालों की इतनी बड़ी संख्या है। अब कवि का कोई अखाड़ा नहीं, कोई पन्थ नहीं। वह और अकेला है। यह नियति उसे भोगनी है।

हर समय अपना-अपना हल्ला कुछ कवि मचा लेते हैं और अपने उस हल्ले में पीछे के उन्हीं कवियों का शोर मचाते हैं, जिससे उनके हल्ले में चमक आती हो—उसे तरह-तरह की साहित्यिक शब्दावली में सजा लेते हैं। आम पाठक तो जो मिल जाता है, पढ़ लेता है। धर्म-संस्थानों ने रामायण दे दी, उसे पढ़ लिया। साहित्यिक संस्थान किसी अधकचरे नये कवि को पुस्तकालयों में पहुँचा देते हैं, उसे पढ़ लेते हैं। यह काम कवि के आत्मीयों को खुद करना होगा। इसे साहित्यिक व्यवसायी नहीं करेंगे। नहीं करते। यदि अपनी मृत्यु के बाद कोई कवि पेटियों में बन्द रह जाये तो समझ लो, अकेला था। अच्छे और बड़े कवि का निर्धारण काल करता है। उसके प्रकाशन का निर्धारण उसके आत्मीय करते हैं या व्यवसायी। किसी कवि को कभी-कभी दोनों ही नहीं मिलते। वह पेटियों में बन्द रह जाता है।

रोशनी का दायरा

"आप कब से ये व्याख्यान सुन रहे हैं ?"

"जब से यह व्याख्यान-माला शुरू हुई है। कोई बीस साल से। हम सपरिवार आते हैं, पत्नी, बच्चे, माता-पिता सभी सुनते हैं।"

"किस नतीजे पर पहुँचे हैं ?"

"बहुत-सी बातें जो अखबारों और किताबों से साफ नहीं होतीं, इन व्याख्यानों से साफ हो जाती हैं और यह भी समझ में आता है कि कहने और करने में कितना अन्तर है इन नेताओं के। फिर महीनों मंच पर आप लोग जो कहकर जाते हैं उन पर, घरों में, दफ्तरों में और रेस्तराँ-काफी हाउस में बहसें होती हैं। दिमागी धुन्ध छँटती है।"

बुरहानपुर (मध्य प्रदेश) की प्रसिद्ध नवरात्रि व्याख्यानमाला के अवसर पर एक श्रोता से हुई बातचीत का एक यह छोटा-सा टुकड़ा है। पिछले बीस साल से प्रति-वर्ष नवरात्रि के दिनों में दस दिन तक हर रात कोई पाँच-सात हजार श्रोताओं के सम्मुख व्याख्यान होते हैं। व्याख्यान देनेवालों में चोटी के राजनीतिक नेता, शिक्षा-विद्, न्यायविद्, पत्रकार, साहित्यकार, कलाकार सभी तरह के लोग बुलाये जाते हैं। छोटा-सा ऐतिहासिक शहर है यह। तंग, धूल-भरी सड़कों और गलियों में दुर्गा की पूजा होती है, उसी की सवारी निकलती है, रात-भर चहल-पहल रहती है। लेकिन व्याख्यान-माला में जिज्ञासु श्रोताओं का ऐसा शान्त, सुसंस्कृत समुदाय रहता है, जिसकी बिना देखे कल्पना नहीं की जा सकती। यह नहीं कि वे भक्तिभाव से

आँख बन्द कर बैठनेवाले अशिक्षित लोग होते हैं, बल्कि वह सोचने-समझनेवाला नगर का शिक्षित वर्ग होता है। आयोजकों का अनुशासन देखने योग्य है। विश्व-विद्यालय के प्राध्यापक, इंजीनियर, शहर के लखपति, मध्य प्रदेश के एक राज्यमन्त्री सभी विधिवित व्याख्यानमाला की निश्चित पोशाक में होते हैं। व्याख्यानमाला लखपतियों से जुड़ी होने पर भी किसी एकमुश्त पैसे से नहीं चलती। छोटे-छोटे दूकानदारों तथा समाज के तमाम वर्गों से छोटा-छोटा चन्दा लेकर यह व्याख्यान-माला आयोजित की जाती है जिससे इसमें सभी की भागीदारी का भाव बना रहे। इसकी धुरी हैं मिठाई की दूकान करनेवाले एक जागरूक सज्जन नन्दकिशोर देवड़ा। उनका कहना है, यह विचार डॉ. राममनोहर लोहिया का था, जिसका पूरा निर्वाह वह कर रहे हैं। इसमें सभी राजनीतिक विचारों के, सभी पार्टियों के लोग आते हैं, अपने-अपने विषय पर बोलकर चले जाते हैं और हमें उन पर विचारने का मौका मिलता है। अटलबिहारी बाजपेयी, मोरारजी, लोहिया, कौन नहीं आया। अज्ञेय, रघुवीर सहाय सभी साहित्यकार आये, तीन सौ से अधिक हर क्षेत्र के बुद्धिजीवी, राजनेता यहाँ आ चुके हैं।

दीपावली पर इस व्याख्यानमाला को याद करने का एक खास मतलब है। हमारे पर्व और त्योहार हमारे संस्कारों की रोशनी हैं। युगों से चली आती हमारी चेतना को उजाला देते हैं। लेकिन यह चेतना एक सीमित आलोक-वृत्त में सिमट-कर रह गयी है जरूरत है। रोशनी के इस दायरे को बढ़ाने की। बुरहानपुर की नव-रात्रि-व्याख्यानमाला हमें रास्ता दिखाती है। क्यों नहीं हम इन पर्वों और त्योहारों को अपने समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक सवालों को समझने-समझाने में इस्ते-माल कर सकते हैं ? क्यों नहीं पुरानी आस्थाओं को आज के विवेक से जोड़ सकते हैं ? क्यों नहीं कर्मकाण्ड कर्म से जुड़ता, और धर्म देश के जीवन के आमूलचूल परि-वर्तन से। राम-रावण की लड़ाई हमारी आज की लड़ाई में क्यों नहीं बदलती और दुर्गा का महिषासुर वध क्यों नहीं आज अन्याय और शोषण के वध का रूप लेता ? मेरा ख्याल है ये सवाल भी इन पर्वों और त्योहारों पर सोचे जाने चाहिए। जरूरत केवल इन पर्वों-त्योहारों के रीतिबद्ध वृत को बढ़ाने की है। यदि नगर-नगर में बुरहानपुर-व्याख्यानमाला की तरह, विचार-सभाएँ हों और आज के जलते प्रश्नों पर, चाहे वे राजनीतिक जगत के हों या सांस्कृतिक और शैक्षिक जगत के, खुलकर बातों का आदान-प्रदान हो, तो स्थिति कुछ बदल सकती है। ऐसा नहीं कि व्याख्यान नहीं होते, बल्कि भाषण-ही-भाषण इस देश में होते हैं। लेकिन वे किसी एक झण्डे के तले होते हैं। अच्छा हो बिना किसी झण्डे के नगर-नगर में एक मंच ऐसा हो जहाँ एक साथ तरह-तरह के तमाम विचार सुनने और उसे समझकर कर्म की राह निकालने की चेतना विकसित होने का मौका देश के नागरिकों को मिले। छोटी-मोटी सीमाएँ अलग-अलग नगरों में शुरू-शुरू में इस चेतना को विकसित

करने में दीखेंगी, लेकिन वैचारिक आधार पर इस तरह का मंच बनाने की योजना मान लेने पर हर जगह बुरहानपुर के देवड़ा जैसे व्यक्तित्व सामने आ जायेंगे और साथ मिलकर काम करनेवाले ऐसे तमाम लोग इकट्ठे हो जायेंगे जैसाकि बुरहानपुर में हो गये हैं। पर्वों और त्योहारों पर सामाजिक चेतना की रोशनी के इस दायरे को आज फैलाना बहुत जरूरी हो गया है।

बिल्ला और बिलाव

मजदूरों की हड़ताल के खिलाफ राष्ट्रपति का अध्यादेश जारी होने की घोषणा के दूसरे दिन ही दूरदर्शन पर एक भेंटवार्ता में गृहमन्त्री जैलसिंह से एक प्रश्न किया गया कि यदि मजदूरों पर संकट हो और उनकी माँगें न मानी जा रही हों, मालिक और सरकार सभी उनकी माँगों को अनसुनी कर रहे हों तो मजदूर क्या करें? क्योंकि हड़ताल का तो आपने निषेध कर दिया है। जैलसिंह ने थोड़ा सोचकर कहा—वे काम करें। बिल्ले लगाकर काम करें। अपनी माँगों को लिखकर बिल्ले पर लगा लें और काम करते रहें। अब जो लोग पढ़े-लिखे हैं वे बिल्ले देखकर ही समझ जायेंगे कि उनकी माँगें क्या हैं। जो नहीं पढ़े-लिखे हैं वो भी बिल्ले देखकर समझ जायेंगे कि उन्हें कोई शिकायत है। उनकी सहानुभूति इन मजदूरों और कर्मचारियों के साथ होगी कि देखो इतनी शिकायत होते हुए भी ये बेचारे ठीक से काम कर रहे हैं। धीरे-धीरे मालिकों को भी शर्म आयेगी, सरकार को भी शर्म आयेगी। अभी तो हड़ताल करने पर जनता को परेशानी होती है। उनकी सहानुभूति इनके साथ नहीं होती। बिल्ले लगाकर काम करने पर जनता को इनके साथ सहानुभूति होगी और मालिकों और सरकार को भी शर्म आयेगी।

दूसरे दिन यह बात स्तम्भकार ने एक मजदूर को बतायी। वह थोड़ी देर चुप रहा फिर बोला—

"साहब, हड़ताल करे का कोई शौक तो होत नाहीं। मुसीबत आत है तब हड़ताल होत है।"

फिर बोला—

"बहुत बिल्ला लगावा साहेब। हड़ताल तो बाद में होत है। पहले बिल्ला लागत है, माँगपत्र दिहा जात है, नोटिस दिहा जात है फिर कहीं जाय के हड़ताल होत है। बिल्ला लगाय के हम काम करी तो एकर कौनो भरोसा नाहीं कि मालिकन और सरकार के शर्म कितने दिनों में आयी। और जे देखी उन कर हमदर्दी से का

फायदा? ऊ अगर आपन भाई बिरादर हैं तो ऊ हमरे साथ हड़ताल तो कर नाहीं सकत हैं। दूसरे लोग हैं तो हमन का बेचारे कह के चिक-चिक करके रह जइहैं। खाली हमदर्दी से काव होई! आप अखबारवाले भी हमार माँग छाप देइहौ। ऊ अबहिनो छाप देत हो। पर केहू का शर्म तो आवत नाहीं। अब गृहमन्त्री साहब ई बताय देते कि सरकार और मालिकन के महीना-दो-महीना, साल-दो-साल में शर्म आय जायेगी तो ज्यादा ठीक था। अरे साहब! तीस साल मा केहू के शर्म नाहीं आयी। हमरी मुसीबत का ई लोग जानत नाहीं हैं? पर कुछ भवा?"

"अब यह नया तरीका आजमाकर देखो। गृहमन्त्री साहेब ने कहा है उनको और सरकार को मजदूरों से बड़ी हमदर्दी है उनका किसी तरह अहित नहीं होने देंगे?" स्तम्भकार ने कहा।

"ई तो अस भवा कि मेहरारू से कहें कि हम तोहका बहुत मानित हैं पर हमरे सामने जबान न खोल्यो! अरे साहब! ई सब कहे की बात है बस! ऊ कह दिहिन हम सुन लिहा। आपन हाल हम जानित है—काव है, काव होई आगे! कौनो खास शिकायत पर माना बिल्ला बनाय के लगाय लेई पर और सब माँग?—हमरे लिए रहे के एक छोट-मोट घर होय, सुअरबाड़ा न होय। दवा-दारू के इन्तजाम होय। सात रुपया मानो मिलत है। बच्चा बीमार होय गवा तो पाँच रुपया डाकडर रोज सूई के लेत है। हमार मुफ्त में दवा-दारू का अस्पताल होय। बच्चन के पढ़ै-लिखै का कुछ हिसाब होय। ऊ जब छोट रहत है तो जहाँ हम मियाँ-बीवी काम करित हैं उहाँ जमीन पर पड़ा रहत है फिर और बड़ा होत है तो हमरे साथ काम शुरू कर देत है। मजदूरे रहत है मनई नाहीं बन पावत है। अब जहाँ काम करित है उहाँ पैदल जाइत है। हमरे काम के ठिकाने पर लावै लै जावै के वास्ते सवारी का इन्तजाम होय। ठेकेदार लोग बीच में कितना हमार पैसा हड़प जात हैं? उनसे हमका बचावे का इन्तजाम होय। सरकार देखे जितनी मजूरी तय है उतनी मिली या नहीं। ठेकेदार हमरी मजूरी में आपन हिस्सा काट लेत हैं। देत कुछ हैं कापी मा लिखत कुछ हैं। ओह कर कौनो हिसाब नाहीं, न ओह कर कौनो जाँच-पड़ताल। देखौ जाय के रजिस्टरौ नाहीं। कुछ कहौ तो उन केर गुण्डा लोग हैं। ठेकेदार और मालकिन के गुण्डन से हमरे हिफाजत का इन्तजाम किहा जाये। चोट-चपेट के बीमा होय। अभी मर जायें, हाथ-पैर टूट जाये तो बच्चे भूखन मरैं। मालिक लोगन की जाँच होत रहे कि हमरे साथ काव-काव अन्याय करत हैं। ठेकेदार, मालिक मिलि के हमरे बहु-बेटिन के कितनी इज्जत लूटत हैं! कुछ जोर से कहौ तो काम से निकाल देत हैं। काम के सुरक्षा होय। हमार रजिस्टर रहे सरकार के पास। इहाँ से काम छूटे नाहीं तो दूसरी जगह काम तुरत मिल जाये। महीनन भूखा भटकै के न परे। हमार भर्ती का दफ्तर होय, जहाँ जाओ तो काम हाजिर। और बहुत बात है साहेब! आज से नाहीं तीस साल से है। तीस साल भवा न आजादी के साहब?

नाही और भवा। तौन साहब, अगर ई सरकार ई सब कर देत तो हड़ताल हम काहे करित ? कौनो शौक है हड़ताल का।"

फिर वह चुप हो गया। एक दोस्त जो साथ-साथ थे, बोले—

"जिन समाजवादी देशों में हड़ताल का निषेध है वहाँ मजदूरों के लिए सब-कुछ है। वह प्रबन्धकों में भी हैं। उनका लाभ में हिस्सा है। खाना, कपड़ा, शिक्षा, मकान, दवादारू, सबसे वह एकदम निश्चित हैं। इसलिए वहाँ मजदूर जान लगा-कर काम करता है। यहाँ आप उसे विपन्न, असहाय, असुरक्षित बनाये हुए हैं और उसकी आवाज़ का आखिरी हथियार हड़ताल भी छीन ले रहे हैं···"

वह कुछ और कहने जा रहे थे स्तम्भकार ने उन्हें उस समय रोक दिया। उस मजदूर से ही पूछा—"तुम क्या चाहते हो ?"

मजदूर हँसा, बोला—"साहब ! इन्दिरा मैया का एक बैज बनवाय दें हम सब लगाये रहब। और ई सब जौन हमार माँग हैं इनका एक चादर पर छपवाय दें—औरों हैं साहब माँग—ऊ सब बताय देब। आपौ बहुत जानत हौ—बस रामनामी चादर जस बनाय दें। दिन-भर उहै लपेट कै काम करब। रात में उहै ओढ़ के सोय जाब, मरब तो उहै ऊपर डारे के काम आयी। बिल्ला से काम नाहीं होई साहब, ऊ तो कौनो बिलाव लै जाई। बड़े-बड़े बिलाव हैं इहाँ चारों तरफ··· हम जानित हैं।"

दो-चार दिन बाद ही एक शाम मजदूरों की बस्ती की ओर जाना हुआ। वे सब जो उदास स्वरों में गा रहे थे, उसे यहाँ दर्ज कर देना आवश्यक है :

> बिल्ला लै गइल बिलरवा मँगवा कै अब का होई ?
> केकरे हजूरे सिर पटकी केकरे आगे जा रोई ?
>> आइल बन के ऊ सिपैया माँगे लागल ऊ रुपैया
>> हम बिलाय गइली भैया मँगवा कै अब का होई ?
>
> बिल्ला लै गइल बिलरवा मँगवा कै अब का होई ?
>> हम न खोलली जबनवाँ लेहलैं खींच ऊ परनवाँ
>> अइलै गुण्डा के जमनवाँ मँगवा कै अब का होई ?
>
> बिल्ला लै गइल बिलरवा मँगवा कै अब का होई ?
>> कौनो भरे न हुँकारी ऐसन माया सरकारी
>> मालिक करै मारामारी मँगवा कै अब का होई ?
>
> बिल्ला लै गइल बिलरवा मँगवा कै अब का होई ?
>> घर मा दीया है न बाती कौनो संग न सँगाती
>> मौत बइठ अघुआती मँगवा कै अब का होई ?
>
> बिल्ला लै गइल बिलरवा मँगवा कै अब का होई ?
> केकरे हजूरे सिर पटकी केकरे आगे जा रोई ?

देशप्रेमियों को पहचानो

दिल्ली के 255 बुद्धिजीवियों ने (जिनमें 64 प्रतिष्ठित कवि, लेखक, कलाकार और पत्रकार, 55 दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, 96 नेहरू विश्वविद्यालय के तथा 24 दिल्ली विश्वविद्यालय के शोध-छात्र तथा नेहरू विश्वविद्यालय के ही 7 प्राध्यापक, वहाँ के छात्र-संघ के अध्यक्ष, महामन्त्री, कौंसिलर आदि हैं) एक बयान वितरित किया है जो इस प्रकार है :

"शोषण और सरकारी दमन के ख़िलाफ़ आज जनता दो बातों पर पूरी तरह सजग हो चुकी है—पहली बात अपने अधिकार की लड़ाई और दूसरी बात अपनी जनवादी चेतना को क़ायम रखने की है। गुजरात में छात्रों ने अपने जनवादी हक को क़ायम रखा है, बिहार में जनता ने विरोध का एक जोरदार क़दम उठाया है। इस बीच सरकार ने कई नकाब पहने और उतारे हैं। हर नकाब एक जारशाही खूनी इतिहास की याद दिलाता हैं और इस सरकार के दमन की एक ही भाषा नजर आ रही है—गोली की भाषा।

"जब भी बंगाल, आंध्र, पंजाब, गुजरात या देश के किसी भी हिस्से में जनता ने बढ़ती हुई महँगाई या सरकारी दमन का विरोध किया तो किसानों, मजदूरों, छात्रों और बुद्धिजीवियों को गोली से भून दिया गया है या नौकरी से निकाल दिया गया है या निकाला जा रहा है। इसके विपरीत काला बाजार का व्यापारी इस व्यवस्था में आजाद है—अपनी लूट-खसोट के लिए—और उसे सरकार से भरपूर छूट मिल रही है। प्रतिबद्ध लेखकों ने जब कभी इस तरह की नौकरशाही-पूँजीवादी हरकतों का विरोध किया है तो उन्हें हर तरह से कुचला गया है। लेखकों ने किसानों, मजदूरों और छात्रों के साथ क़दम मिलाकर जब कभी सरकारी दमन का पर्दाफाश करना चाहा है तो इस सरकार ने उन्हें दबाने की भरपूर कोशिश की है।

"इस सरकार द्वारा आकाशवाणी दिल्ली से **आनन्दस्वरूप वर्मा** की सेवाएँ समाप्त कर दी गयी हैं। आनन्दस्वरूप वर्मा का क़ुसूर यह बताया गया है कि वह सरकार के चरित्र के प्रति वफादार नहीं थे। जिस सरकार का अपना चरित्र भ्रष्ट हो चुका है, वह आज लेखकों के चरित्र पर किस हक से न्याय कर रही है ?

"आनन्दस्वरूप वर्मा की सेवाएँ पिछले वर्ष नवम्बर महीने में समाप्त की गयी थीं जिससे क्षुब्ध होकर आकाशवाणी के कर्मचारियों ने दैनिक प्रदर्शन शुरू किये थे। हिन्दी के बुद्धिजीवियों ने अख़बारों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आनन्दस्वरूप वर्मा की बिना कारण बताये की गयी बर्ख़ास्तगी के ख़िलाफ़ तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की, जिसे शान्त करने के लिए सरकार ने आनन्दस्वरूप वर्मा की पुनर्नियुक्ति का ढोंग

क्रिया। पुनर्नियुक्ति का यह धोखा तीन किस्तों में चला और फिर आनन्दस्वरूप वर्मा को जनवरी 1974 में आकाशवाणी से बाहर कर दिया गया। सरकार की धोखेबाजी, बेशर्मी और दमन की हम तीव्र भर्त्सना करते हैं और उन सारे ऐसे लोगों के साथ अपनी एकता व्यक्त करते हैं, जो सरकार के विरुद्ध जानेवाली राजनीतिक विचारधारा के होने के कारण दमन का शिकार हुए हैं और हो रहे हैं।"

हो सकता है हम, आप, बहुत-से लोग बयान की इस भाषा से सहमत न हों, उसमें जिस व्यक्ति के नौकरी से निकाले जाने की बात कही गयी है उसे और उसके बारे में न जानते हों, पर जब सरकार के आचरण और चरित्र की बात आती है तो आज जो आमतौर पर कहा जाता है, वह इससे भिन्न नहीं है। बेपढ़ा-लिखा आदमी एक भद्दी गाली से यह सब कह जाता है और ज़्यादा पढ़ा-लिखा, अपने को सम्भ्रान्त कहनेवाला भाषा को और संयत बनाकर, दबा-छिपाकर। पर बात अपनी जगह वैसी ही रहती है। सरकार के दुराचरण और अन्याय का रोना हर कहीं है।

क्या ये लोग जिन्होंने इस बयान पर हस्ताक्षर किये हैं या वे जिनका अहस्ताक्षरित बयान यातना के नाना रूपों में सारे देश की हवा में है, किसी विरोधी राजनीति के षड्यन्त्र के शिकार हैं? क्या ये सब सच्चाई को नजरअन्दाज कर रहे हैं, उसे तोड़-मरोड़कर पेश कर रहे हैं? यह कहना असलियत से मुँह छिपाना है। और दुःख की बात है कि सरकार यह कहते नहीं थकती है।

अभी रेल हड़ताल शुरू होने के पहले खबर मिली कि साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका उत्तरार्द्ध के सम्पादक प्रो. सव्यसाची को आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन गिरफ़्तार कर लिया गया। राजधानी के युवा जनवादी लेखक बौखलाये हुए एक बयान पर हस्ताक्षर कराते घूम रहे थे, जिसमें कहा गया था, "भारत सुरक्षा नियम और आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम जैसे क़ानूनों को इजारेदारों, ज़मींदारों, जमाखोरों आदि समाजविरोधी तत्वों के विरुद्ध इस्तेमाल करना चाहिए न कि क्रान्तिचेता बुद्धिजीवियों की आवाज़ दबाने के लिए ''लोकतन्त्र में क्रान्तिकारी, सर्वहारा वर्ग से जुड़े हुए बुद्धिजीवियों को विचार प्रकाशन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।" सिद्धान्त रूप में यह विचार-स्वतन्त्रता है पर उसी के साथ भारत सुरक्षा नियम और आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम भी हैं जिनका इस्तेमाल जहाँ चाहा जाता है कर लिया जाता है—जो देशद्रोहियों के लिए है वह देशप्रेमियों पर लागू हो जाता है। सरकार के लिए देशप्रेम का मतलब मात्र सत्ता का समर्थन रह गया है जबकि लोकतन्त्र में सत्ता अपनी विरोधी विचारधारा को भी, यदि वह देश के हित में है, पनपने का पूरा मौक़ा देती है। तो क्या यहाँ लोकतन्त्र नहीं है? नहीं रहेगा? यह सवाल जितना बुद्धिजीवियों को मथ रहा है उतना ही सरकार का हर आचरण उसे नकारात्मकता की ओर ही ढकेल रहा है। अभी समय है कि सरकार लोकतन्त्रप्रेमियों और देशप्रेमियों की सही पहचान के लिए आँखें खोले और देश की शक्ति की बुनियाद सत्ता की मदान्धता से खोखली न करे।

जो दुर्नीति और अन्याय की पहचान जगाता है, सामाजिक विषमता से परिचित कराता है, किसी भी तरह के शोषण से टकराने के लिए ललकारता है, जातिभेद, अशिक्षा, अन्धविश्वास, साम्प्रदायिकता की विषाक्त जड़ें मौजूदा अर्थतन्त्र की असमानता में खोजने के लिए जूझता है और एक आत्मनिर्भर, शक्तिशाली, विकसित राष्ट्र देखने के लिए प्राणोत्सर्ग करने को तैयार रहता है, वह देशप्रेमी है। उसे पहचानो! जो महँगाई, भ्रष्टाचार, सत्ता तथा पैसे के गुलामों की चरित्रहीनता के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द करता है, जो झूठे समाजवादी मुखौटों को सत्य की आँच से पिघलाता है, जो चारों ओर धधकती हिंसा का विरोध करता है, जो नौकरशाही, पुलिस, मन्त्रियों, नेताओं समेत सारे शासन तन्त्र के छद्म को उघाड़ता है, जो जनधरातल पर जनसमाज रचने के सपने के लिए जन-अभियान की दिशा में उन्मुख है वह देशप्रेमी है। उसे पहचानो! उसके हाथ मज़बूत करो! लोकतन्त्र का, लोकतन्त्र प्रेमियों और लोकतन्त्र के कर्णधारों का यह कर्त्तव्य है।

सर्दी और वर्गभेद

साँवला रंग, धूल-भरे उलझे बाल, दुबली लम्बी आकृति। कभी वह सुथन्ना पहने रहती, कभी धोती। एक फटा कम्बल ओढ़े अक्सर मैं उसे पिछले वर्ष इन्हीं दिनों राजधानी की ठिठुरती कटखनी सर्दी में, त्रिवेणी कला संगम के पास बैठे देखा करता था। उस पगली की बहुत छोटी दुनिया थी। बीस-पच्चीस मीटर का दायरा था उसका। इस पटरी पर न हुई तो उस पटरी पर, खुले में न हुई तो डाक के बम्बे के पास सप्तपर्णी की घनी छाँह में। सर्दियों की सारी रात वह इसी तरह खुले में काट देती थी। कभी अँधेरे में पेड़ों के नीचे पत्थर-सी बैठी दीखती। कभी गठरी-सी औंधी पड़ी, कभी लकड़ियों और पत्तों की आग के सामने सिमटी। वह कहाँ से आयी, कौन है, क्यों इस तरह सर्दी में पड़ी रहती है? इस विस्मय के पीछे जितनी यातना पिछले वर्ष थी, उससे अधिक इस वर्ष अचानक यह ध्यान आने पर हुई कि वह नहीं है। कहाँ चली गयी, क्यों नहीं है?

उसे देखकर अक्सर मैं आदमी की सहनशक्ति के बारे में सोचा करता था। बन्द कमरे में रजाइयों के भीतर दुबक जाने पर जब भी उसकी ओर ख्याल जाता तो एक अजब-सी बेचैनी होती। ऐसी सिहरन से भर जाता जो कँपकपी आने के पहले होती है। महीनों मैंने उसे देखा। उस पर पड़ती हुई मौसम की मार का साक्षी

रहा। दिन-रात देर-सबेर आते हुए वह हमेशा दीखती थी जिसका मतलब मेरे लिए कुल इतना होता था कि वह अभी जिन्दा है। क्योंकि अक्सर मैं उसे गठरी-सी पड़ी देखकर इस आशंका से भर उठता था कि कहीं वह मर तो नहीं गयी है, लेकिन दूसरे दिन फिर उसे बैठे हुए देखकर उसकी ताकत पर भरोसा पूर्ववत बन जाता। उसने मौसम को पराजित किया है, उस मौसम को जिसने सबको पराजित कर रखा है। सर्दियों की बूंदाबांदी, शीत लहर सब उसके सामने से जैसे थरथराते निकल जाते और मैं विस्मय से भरता जाता। पिछली सर्दियों की समाप्ति के बाद भी वह दीखी थी। पर अब कहाँ है?

मैं नहीं जानता वह कहाँ से आयी थी। एक शाम जब अँधेरा छा गया था और पेड़ों के नीचे और सघन था, अचानक उसकी आवाज़ सुनायी दी थी—"एक बीड़ी दिये जाओ।"

वह पेड़ के नीचे घने अँधेरे में बैठी थी। आवाज़ से ही उसकी आकृति पकड़ में आयी। यदि निर्जन एकान्त होता तो कोई चुड़ैल मानकर होश खो सकता था। भाषा से लगा वह पूर्वी उत्तर प्रदेश की है। पर इसका कोई मतलब नहीं था। वह कहीं की भी हो सकती थी। पर अब तो सत्य यही रह गया था कि वह कहीं की भी नहीं थी। क्या वह मर गयी? क्यों और कैसे मर गयी? निश्चय ही सर्दी से नहीं मरी। इसकी गवाह पिछली सर्दियाँ स्वयं हैं।

यह कहना असंगत है कि समाज को उससे कोई सरोकार न था। मैंने अक्सर मजदूरों को जो अपने काम के नाते छोलदारी डालकर पड़े रहते, उसे कुछ लेते-देते देखा था। हाँ, उन लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों के बारे में नहीं जानता जिनका यह इलाका है। शायद उनका ध्यान उधर न गया हो, क्योंकि कभी किसी के मुँह से उसकी चर्चा नहीं सुनी। लेकिन मजदूरों के साथ दूर बैठी उसे कुल्हड़ में चाय पीते या बीड़ी पीते ज़रूर देखा है। समाज का उससे इतना सरोकार क्या कम था! बेघरबार बेहोशो-हवास व्यक्ति के साथ इससे अधिक सरोकार समाज क्योंकर रखे? इतना ज़रूर लगता था कि ग़रीब के प्रति ग़रीब की ही हमदर्दी हो सकती है।

आधी रात को एक बार संगीत सम्मेलन सुनकर मैं घर आ रहा था। सर्दी के दाँत इतने पैने थे कि ओवरकोट के भीतर भी गड़ रहे थे। कटखनी हवा चल रही थी। ठिठुरने से बचने के लिए मैं औसत से ज्यादा तेज़ चल रहा था। अचानक वह मुझे दिखायी दी, उसने सूखी टहनियाँ जला रखी थीं और आग के किनारे बैठी थी। आधी रात उसे देखने का यह पहला मौका था। मैं खुश हुआ कि वह सर्दी से लड़ने के लिए आग का भी सहारा ले रही है। मैंने देखा एक पहरेदार उसके पास जा खड़ा हुआ। मोटा बरान कोट, मफलर, टोपी, मोजे, जूते सर से पैर तक गरम लबादे से ढँका हुआ। वह उसके अलाव के पास बैठ गया और अपनी बीड़ी सुलगाने

लगा। मुझे उस औरत की आवाज़ सुनायी दी और दूर तक सुनायी देती रही—"जाओ भाई, तू जाओ यहाँ से। हमार तोहार काव साथ! तू जूता पहिरे हौ!"

वह बार-बार इसे दोहराये जा रही थी पर पहरेदार आग छोड़नेवाला नहीं था। वह हँस-इठला रहा था और उसके अलाव के सामने उसी तरह जमा बैठा था।

मैं आज भी सोचता हूँ, उस पगली ने अपने और उसके बीच का वर्ग-भेद कितनी आसानी से पहचान लिया था। जाहिर है वह नंगे पैर थी और बिना कहे ही इस तरह होने की पीड़ा व्यक्त कर रही थी। वह आवाज़ अभी भी मेरे कानों में गूँजती है और सारे दृश्य-जगत के साथ थिर हो जाती है। मैं जानता हूँ, इस कड़कती सर्दी को चुनौती देनेवाले लोगों की कमी हमारे यहाँ नहीं है, पर उस एक के न होने की बेचैनी भी कम नहीं है।

गोबर की चिन्ता

समस्या गोबर की थी। राजधानी की सड़कों पर अब पहले की तरह चौपाये विचरते नहीं दिखायी देते। कुछ दिन पहले तक इन्हें गलियों में ही नहीं मुख्य सड़कों पर भी देखा जा सकता था। कागज खाती, मैला खाती, कूड़ा सूंघती गोमाताएँ हर तरफ नजर आती थीं। साइकिलवालों को इनसे बचकर निकलना होता था और कारवालों को 'भैंस के आगे हार्न बजाये भैंस खड़ी पगुराये' कहावत का सामना पग-पग पर करना पड़ता था। अब सड़कें इनसे साफ हैं। गोभक्तों को बड़ा सूना-सूना लगता है। संसार के सभी सम्भ्रान्त बड़े नगरों की तरह पता नहीं चलता कि जिनका दूध कदम-कदम पर या तो बोतलों में बन्द या मशीनों में बटन दबाते ही मिलता है, वे गोमाताएँ आख़िर हैं कहाँ? उनके दर्शनों से आँखें हर समय कृतकृत्य नहीं होतीं। उन्हें देखने के लिए शहर से बाहर डेरियों में जाना होगा। सो दिल्ली में भी अब इन्हें शहर से बाहर कर दिया गया है। इनकी डेरियाँ बस्तियों में नहीं हैं। पहले हर मोहल्ले के बीच में गाय-भैंसवाले रहते थे और अपने चौपाये सुबह-शाम लोगों के सामने दुहते थे और खालिस दूध देने का भ्रम बनाये रहते थे। पर दूध जितना खालिस होता था गन्दगी भी उतनी ही खालिस होती थी। पर अब ऐसा सौभाग्य गोभक्तों को प्राप्त नहीं है। बस्तियों के बीच से डेरियाँ हटा दी गयी हैं। दूध का धन्धा करनेवाले हट गये हैं और गोमाताएँ भी।

समस्या गोबर की थी। वह भी राजधानी के एक सम्भ्रान्त मोहल्ले के सम्भ्रान्त

बँगले में। एकादशी का दिन था। घर की वृद्धा माताजी को कथा-पूजन करना था। चौक बनाने के लिए गोबर चाहिए था। नौकर साइकिल लेकर आस-पास सड़कों पर चक्कर लगा आया था पर कहीं गोबर दिखायी नहीं दिया था। गायें हों तो गोबर हो। जब गायें ही न दीखती हों तो गोबर कहाँ से दीखेगा। वे हारकर लौट आये थे और यह कहकर छुट्टी पा गये थे—"माँजी, कहीं गोबर नहीं मिल रहा।"

पर माँजी तो माँजी ! बिना गोबर के चौक कैसे बनेगा ? पूजा कैसे होगी ? पढ़ी-लिखी समाजसेवी बहू ने दबी ज़बान समझाया भी—"माँजी ! पक्के घर में सब पाक है। फर्श धुलवा लीजिए। अच्छी तरह चौक पुरवा लीजिए। गोबर तो कच्चे घरों के लिए था, जिससे कि धूल न उड़े। जब कच्चे घर नहीं रहे तो गोबर का क्या होगा ?"

पर माँजी तो माँजी ! पूजा में से गोबर निकाल दिया जाये, यह धाँधली उन्हें बरदाशत नहीं थी। उनका चेहरा तन गया और जितना ही चेहरा तना उतनी ही लोगों की चिन्ता—गोबर-चिन्ता बढ़ी। मामला घर के मालिक तक पहुँचा। बड़े सरकारी अफसर। नौकरों को फिर बुलाया गया। नौकरों ने साफगोई की—

"हुजूर अब गोबर तो कहीं मिल नहीं सकता। मवेशी ही नहीं रहे तो···"

कोई चारा न देख मालिक ने कार निकाली और शहर के बाहर गोबर लेने चल दिये। शहर के बाहर दूधवालों की डेरियाँ कहाँ हैं, इसकी पूछताछ उनके गोबर-अभियान का प्रमुख अंग था।

यह स्तम्भकार जिस समय बँगले पर पहुँचा मालिक जा चुके थे। नौकर गोल बनाये बैठे हुए थे—"कहाँ गये हैं ?"

सब चुप। कोई जवाब ही न दे। कई बार पूछने पर उनमें से एक मसखरे ने जवाब दिया—"साहब गोशाला गये हैं।"

"गोशाला, कैसी गोशाला ?"

"साहब ! जहाँ गौएँ रहती हैं।"

"गौओं का क्या करेंगे ?"

"कुछ नहीं साहब। गौओं का कुछ नहीं करेंगे।"

"फिर ?"

"आज पूजन है न साहब !"

"पूजन का गोशाला से क्या मतलब ! पूजन तो घर में होगा, गोशाला में तो नहीं।"

"हाँ साहब, घर में होगा, इसीलिए गोशाला गये हैं।"

उसने ऐसी पहेलीनुमा बातचीत शुरू की कि यह स्तम्भकार थोड़ा चकरा गया।

"साफ-साफ बताता क्यों नहीं कि कहाँ गये हैं ?"

"साहब, पूजन में गोबर की ज़रूरत तो होती है सो उसी के लिए गये हैं।"

"गोशाला है कहाँ ?"

"यह तो उन्हें भी नहीं मालूम।"

"फिर ?"

"फिर क्या, गाड़ी से गये हैं। मालूम कर लेंगे।"

"लेकिन वह कहीं पास तो है नहीं।"

"हाँ साहब ! पास होती तो वह क्यों जाते।"

"वह तो बहुत दूर है।"

"हाँ साहब, तभी तो साहब को जाना पड़ा।"

अब बात पूरी समझ में आ गयी थी। उनकी परेशानी भी। स्तम्भकार चुप हो गया। उसे उनकी प्रतीक्षा करनी थी, सो बैठ गया। नौकर आपस में बात करने लगे।

"मवेशी खदेड़ दिये। चलो ठीक किया, पर कोई उपाय तो करना चाहिए। आदमी हलकान न होय।"

"कौन उपाय ?"

"मने गोबर का।"

"काव, उपाय करे ?"

"यही दूकान खोलवाय दे। जब हर चीज़ का दूकान है, यहू के दूकान होय। चन्दन, काठी, जाजिम, माला सब बिकात है, ईहौ बिकै।"

"और तू तराजू लैकै बाइठौ !" दूसरे ने कहा।

"हम मसखरी नाहीं करित भाई, और कौन उपाय है ?"

"घर में खुद गाय पालौ।"

"आसान है ? पाले देइ हैं ? शहर में मवेशी पालै में बड़ा खरचा है। फिर जब डेरी हट गइन तो इनसे का अमरत बरसी।"

उनकी बातों का कोई अन्त नहीं था। गोबर कैसे उपलब्ध रहे इस पर नाना सुझाव वे आपस में देते रहे। पर यह नहीं सोच पा रहे थे कि गोबर के बिना भी काम चल सकता है, पूजा-पाठ हो सकता है। घर-घर में जब गाय थी, तब गोबर था, उपले थे। अब जब घर-घर में गाय नहीं तो जैसे उपले की जगह गैस ने ले ली वैसे ही गोबर की जगह किसी और को लेनी चाहिए। पूजा-पाठ करनेवालों को इसका विकल्प स्वयं ही सोचना होगा। अब व्यवस्था उन्हें यह भी बताकर उनके निजी जीवन में टाँग तो अड़ाने से रही ?

नये साल पर

खेतों की मेड़ों पर
धूल भरे पाँव को
कुहरे में लिपटे उस
छोटे-से गाँव को
नये साल पर शुभकामनाएँ।

जाँते के गीतों को
बैलों की चाल को
करघे को, कोल्हू को
मछुओं के जाल को
नये साल पर शुभकामनाएँ।

इस पकती रोटी को
बच्चों के शोर को
चौके की गुनगुन को
चुल्हे की भोर को
नये साल की शुभकामनाएँ।

आज नये वर्ष पर 1952-53 की लिखी अपनी कविता की ये कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हैं। किस भाव से लिखी थी यह कविता! क्या ठीक वही भाव आज इस कविता के साथ मुझमें रह गया है? यह प्रश्न, ज्यों-ज्यों इन पंक्तियों को दोहराता हूँ, और गहरा होता जाता है। ऐसा तो नहीं है कि शुभकामनाएँ देने का मन नहीं होता, होता है। लेकिन तब शुभकामनाएँ देने में जो एक उल्लास निहित था वह अब एक विषाद में बदल गया है। तब खेतों की मेड़ों पर धूल-भरे पाँव से कोई तकलीफ नहीं, एक आस्था जुड़ी थी। आजादी के पाँच साल हुए थे। अब पैंतीस साल बाद उन पैरों में लिपटी तकलीफ बढ़ गयी है और आस्था डगमगा गयी है। मेड़ें उतनी ठण्डी और निरीह नहीं रहीं और पैर उतने मजबूत नहीं रह गये हैं। गाँव उजड़ रहे हैं या और अधिक विषाक्त हो रहे हैं। देशभक्ति की आँच गन्दी राजनीति के जहरीले धुएँ में बदल गयी है। कुहरे में गाँव अब सुन्दर नहीं दीखता, हत्याओं के रहस्य रोमांच पर पड़ा परदा-सा दीखता है—ठाकुरों और सवर्णों के जुल्म के नाटक पर गिरी यवनिका-सा लगता है। जाँते के गीत, पुक-पुक करती पनचक्कियों में खो गये हैं और बैलों की चाल धूल उड़ाती ट्रक की घरघराहट में मिल गयी है। श्रमदान से बनी गाँव की सड़कों पर जहाँ गाँव की दस्तकारी का माल दसियों बैलगाड़ियाँ ले जाती थीं, गरीब गाड़ीवाले अपनी रोजी कमाते थे, अब वह माल गाँव के प्रधान की ट्रक ढोती है और बैल लँगड़ाकर रह गये हैं। करघे टूट गये हैं, उनकी लकड़ियाँ चूल्हे के हवाले हो गयी हैं। कोल्हू नहीं रहे पर आदमी कोल्हू के बैल की तरह ज़रूर पिस रहा है। वह तेल नहीं निकालता, तेल धनिकों की मिलें निकालती हैं। हाँ, उसका तेल ज़रूर निकाला जाता है। मछुए तालाब में मछली नहीं मार पाते। उन पर सामन्तों का अधिकार है। वे या तो इस अधिकार के लिए लड़ रहे हैं या उन्होंने जाल समेट लिया है। भुखमरी ज्यादा फैल गयी है। अब चूल्हे कम जलते हैं। रोटियाँ पकती देख बच्चे खुशी में भरकर शोर नहीं करते, सुबकते रहते हैं। अपौष्टिक आहार के कारण रुग्ण हैं, पीले पड़ गये हैं। उनके पेट कटोरों से निकले हुए हैं। सारे संसार में भूख और अपौष्टिक आहार से चालीस हजार बच्चे प्रतिदिन मर रहे हैं। अब गरीब औरत चौके में भात पसाते हुए भी गाती नहीं—या तो खामोश घुटती रहती है या झिड़कती, पटकती, झगड़ती रहती है। चूल्हों में हमेशा शाम डूबती, भोर नहीं उगती, मेरी शुभकामनाओं से इतनी तकलीफ कैसे जुड़ गयी। वह रोमाण्टिक खुशी का भाव, वह आस्था की सोंधी खुशबू इन पैंतीस वर्षों में कहाँ चली गयी। अब नये वर्ष पर शुभकामनाओं के लिए मैं क्या लिख सकता हूँ? नया साल नये युद्ध में बदल रहा है और यह युद्ध भी साफ-साफ दिखायी नहीं देता। वर्ग, जातियाँ सब गड्डमड्ड हो रहे हैं। आदती गलत राजनीति के बगुले की चोंच में मछली की तरह निगल लिये जाने से पहले तड़फड़ा रहा है। लाठियाँ बन्दूकों में बदल रही हैं, सहानुभूति शोषण का चश्मा लगा रही है। फिर क्या है नये साल की शुभकामना? क्या अब यही लिखना शेष रह गया है—

खेतों की मेड़ों पर
कटे हुए पाँव को
कुहरे में लिपटे
हत्याओं भरे गाँव को
नये युद्ध पर शुभकामनाएँ!

पनचक्की की पुक-पुक
ट्रक की उठी धूल को
जलते करघे, कोल्हू
ब्याज और मूल को
नये युद्ध पर शुभकामनाएँ!

हर मरते बच्चे को
औरत की कोख को
झूठे दस्तावेजों को
स्याहीसोख को
नये युद्ध पर शुभकामनाएँ !

कविता तो खत्म हो गयी। लेकिन क्या नया साल, नया साल है—हँसी-खुशी की आशा से भरा ? कहीं वह नये संकल्पों और नये युद्ध की तरफ तो नहीं ले जा रहा ?

साहित्य अकादमी पुरस्कार और डाक्टरी जाँच

राजधानी में साहित्यकारों के बीच आजकल साहित्य अकादमी पुरस्कार की बड़ी चरचा है। तरह-तरह की अटकलें लगायी जा रही हैं कि पुरस्कार किसको मिलेगा, किस कृति पर मिलेगा और क्यों मिलेगा। कुछ लोग उनकी चरचा करते हैं, जिनके ऊपर अंग्रेजी में लेख छपे हैं, कुछ लोग उनकी जिन्होंने अपने ऊपर अंग्रेजी में लेख लिखवाये और छपवाये हैं। ऐसे लोग यह दावा करते हैं कि अंग्रेजीदाँ जमात में नाम होने का रौब हिन्दीवालों पर पड़ता है, क्योंकि असली मर्मज्ञ और बुद्धिजीवी तो अंग्रेजीवाले हैं। लेकिन ऐसे लोग भी हैं जो इस तर्क को पूर्णतया इन्कार करते हैं। उनका कहना है कि अंग्रेजी में पत्र-पत्रिकाओं में लेख छप जाने या चरचा हो जाने से कुछ नहीं होता। असल बात तो लेखकों के बीच अपनी और अपनी कृति की चरचा करा लेना है। और इस तर्क के तहत वे उन लोगों के नाम गिनाते हैं, जिन्होंने अपनी कृति प्रकाशित होते ही उसका विमोचन समारोह कराया है, राज-नेताओं और साहित्यकारों का जमघट इकट्ठा किया है। उस पर गोष्ठियाँ करवायी हैं और उनके लम्बे-लम्बे बिवरण अपनी या अपने प्रभाव की परिधिवाले साहित्यिक पत्रिकाओं में छपवाये हैं। ठीक इन्हीं दिनों साहित्यिक कृतियों पर जो विचार-गोष्ठियाँ आयोजित की जा रही हैं और जिनमें भाग लेनेवालों की सूची में बड़े-बड़े नामों का ऐलान है। कुछ लोगों का कहना है कि यह पुरस्कार के लिए ही किया जा रहा है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इन गोष्ठियों को महत्त्व नहीं देते। वह ज्यादा दो-टूक खरा हिसाब सामने रखते हैं। साफ कहते हैं कि पुरस्कार उनको मिलेगा, जिन्होंने अकादमी में जिन लोगों का वर्चस्व है, उन्हें पटा रखा है और साल-भर उनके इर्द-

गिर्द घूमते, उन्हें खाने-पीने पर बुलाते पाये गये हैं। ऐसे लोगों के नाम उनकी जबान पर हैं और धड़ल्ले से आपको बता देंगे। उनके पहले का व्यवहार और कृति छपने के बाद का व्यवहार आपको साफ-साफ आँख में उँगली डालकर दिखा देंगे। बता देंगे कि अपनी अमुक रचना छपने के बाद उनकी सरगर्मियाँ क्या रही हैं। यह स्तम्भकार ऐसे जमावड़ों में बैठा है और यह मानकर उठ आया है कि यह सब खाली दिमाग का फितूर है। इसके पीछे गम्भीरता कम मनोरंजन का उद्देश्य ज्यादा है। कहते भी हैं, परनिन्दा-सुख से बड़ा सुख दूसरा कोई नहीं होता।

अक्सर ऐसे लोग भी मिले हैं जो पुरस्कारों में जातिभेद बड़ी गम्भीरता से समझाते हैं। हिसाब लगाकर बताते हैं, नये लोगों में अभी तक जिन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया है, उनमें ठाकुर और ब्राह्मण ही थे। पिछली बार भी इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व हो चुका। कायदे से अब हरिजन को मिलना चाहिए या किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधि को। पर किताबें कायस्थों की दौड़ में हैं, जो न ठाकुर-ब्राह्मण वर्ग में आते हैं, न जाट-अहीर। पर कायस्थों को मिलेगा नहीं, क्योंकि कायस्थ कायस्थ का दुश्मन होता है। कायस्थ को मौका मिलेगा तो ब्राह्मण को गले लगा लेगा पर कायस्थ को नहीं। ठाकुर और ब्राह्मण जाति-परस्त होते हैं। देखना ठाकुर, ठाकुर को दिला देगा, इस बार न सही अगली बार !

सो पाठको ! यह जातिभेद राजनीति में ही नहीं साहित्य में भी देखने-दिखाने-वाले प्रपंची दिमाग मौजूद हैं, यह स्तम्भकार को स्वप्न में भी ख्याल नहीं आता था। वह मन हल्का करने के लिए एक पुरस्कार प्राप्त साहित्यकार के पास चला गया। उन्होंने कहा—

"यह सब बकवास है। अकादमी पुरस्कार या तो बिटिया की शादी के लिए मिलता है या अस्वस्थ हो जाने पर। कुछ दिल का दौरा बगैरह पड़ जाये। अब देखिए मुझे इसीलिए मिला। बीमार न पड़ा होता तो न मिलता। अमुक को भी और अमुक को भी बीमार होने के बाद ही मिला था। अमुक-अमुक को बिटियों की शादी के लिए मिला था।"

स्तम्भकार हैरत में रह गया। पूछा—"और रचना ?"

"रचना तो रहती है। भई लेखक है तो कोई-न-कोई किताब तो होगी ही। अच्छी-बुरी से कोई फर्क नहीं पड़ता।"

"फिर आपके हिसाब से किसे पुरस्कार मिल रहा है ?"

"भई, उसमें भी टाई पड़ी हुई है। दो-तीन नाम जो हैं, सभी उच्च रक्तचाप से पीड़ित हैं। बीमार रह रहे हैं।"

"फिर क्या होगा ?"

"सुनते हैं, अब अकादमी एक डॉक्टर तय कर रही है, जो जाकर देखे

किसका रक्तचाप सबसे ज्यादा रहता है। उसे ही पुरस्कार दे दिया जायेगा।"

"और लड़की की शादी की बात?"

"उसमें भी टाई पड़ी है। इन सभी के पास शादी के उम्र की लड़कियाँ भी हैं। अब आप लोग सुझाव दीजिए एक ज्योतिषी भी तय किया जाये जो कुण्डली विचार आये, जिसका पहले सगुन बनता हो, उसे दे दे।"

स्तम्भकार हैरत में था कि यह बात पुरस्कृत साहित्यकार बड़ी गम्भीरता से कह रहे थे। यह उनके मुख पर मुस्कान की प्रतीक्षा करता रह गया।

दो खुशबुएँ

इन दिनों राजधानी की शाम की हवा में दो खुशबुएँ तैर रही हैं—एक है शिरीष के फूलों की खुशबू। शिरीष के ऊँचे-ऊँचे कई पेड़ भगवानदास रोड पर दीखते हैं और पूरी सड़क तथा आस-पास का सांस्कृतिक इलाका शाम से गयी रात तक इसकी मादक गन्ध में डूबा रहता है! उस शाम आज के एक युवा कवि के साथ उस राह से गुजरना हुआ। फूल और फलियों से लदे खूबसूरत शिरीष के वृक्ष को देखकर उनसे पूछा—

"पहचानते हैं यह कौन-सा पेड़ है?" वह चुप रहे। नहीं जानते थे। बताया—"यही है शिरीष। संस्कृत का काव्य इसी से भरा पड़ा है।"

वह चुप रहे। फिर यह कहने पर कि आज का कवि क्यों प्रकृति से इतना कटता जा रहा है, उन्होंने बचाव में कहा—

"आज का कवि फूलों, पेड़ों की सूची गिनाने में यकीन नहीं करता। पेड़-पौधों पर ध्यान वह तभी देता है जब वे उसका हिस्सा बनते हैं।" कुछ और भी इसके आगे वह कहते रहे जिसका अर्थ यह था कि कवि के लिए ऐसी जानकारी का कोई मतलब नहीं है, जिससे उसका कोई रिश्ता न हो। लेकिन वह भूल गये कि रिश्ता बनाने से बनता है और कवि ही एक ऐसा प्राणी है जो हर शै से रिश्ता जोड़ता है और जोड़ता रहता है। यह कवि की मूल प्रकृति है। इस स्तम्भकार को याद आया कि कोई पचीस वर्ष पूर्व, जब यह नया-नया दिल्ली में आया था और आकाशवाणी में नौकरी करता था, एक शाम रेडियो स्टेशन से कनाट प्लेस आते समय पार्लियामेण्ट स्ट्रीट पर एक खूबसूरत पेड़ को देखकर इसने साथ चलते साहित्य के एक महारथी से जो उन दिनों आकाशवाणी में प्रोडयूसर थे और

प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं, पूछा—"यह कौन-सा पेड़ है?"

वह नाराज हो गये। इस प्रश्न में उन्हें कुछ साहित्यिक राजनीति की बू आयी। वह नयी कविता, नये साहित्य सबके उस समय घोर विरोधी थे। यह स्तम्भकार नया कवि माना जाता था। टोपी सिर पर और टेढ़ी करते हुए बोले—

"देखिए हज़रत! मैं केवल चार पेड़ जानता हूँ—आम, इमली, महुआ, नीम। इससे आगे न जानता हूँ न जानना चाहता हूँ। इससे ज्यादा जानना हो तो अज्ञेय से और हजारीप्रसाद द्विवेदी से पूछिए।"

और यह कहकर इस तरह सीना तानकर चलने लगे, जैसे सारी प्रकृति पर उन्होंने फतह पा ली हो। यह स्तम्भकार उस समय उनके इस जवाब पर स्तम्भित रह गया था, फिर हँस पड़ा था। अज्ञान को छिपाने के दो ढंग हैं—या तो सवाल पर ही उखड़ जाइए या दार्शनिक हो जाइए। पुराने साहित्यकार उखड़ गये, नये दार्शनिक हो गये और पेड़ अपनी सारी खूबसूरती लिये खड़े ही रहे गये—दोनों ने ही जी-भर उनकी ओर निहारा तक नहीं। आसपास के पेड़ों पर दिल्ली म्युनिस्पैलिटी की तख्ती कील से ठुँकी हुई है—'उल्लू', 'झाड़-फानूस'। शिरीष पर देखने में नहीं आयी। यूँ नाम जानने से भी क्या होगा, यदि आप उस वृक्ष के सौन्दर्य से विमुख रहना चाहते हैं।

शिरीष के पेड़ अभी भी खड़े हैं। राजधानी में कोयल उन पर बोलती है। उस दिन कूक रही थी। कुछ दूर पर मजदूर काम कर रहे थे और सड़क की पटरी पर पड़ा उनका शिशु शिरीष की फली हाथ में पकड़ झुनझुने-सा बजा रहा था और चूस रहा था। हो सकता है इस सांस्कृतिक इलाके के रहनेवाले सांस्कृतिक लोग भी इन पेड़ों से आँखें न मिलाते हों, इन्हें न पहचानते हों। पर शिरीष के ये पेड़ हमेशा रहेंगे, अपनी खुशबू बिखेरते रहेंगे और गर्मी के स्वागत में अपनी बन्दनवार लटकाये रहेंगे।

दूसरी खुशबू जश्ने फ़ैज़ की थी। फ़ैज़ के सत्तर वर्ष के हो जाने पर दिल्ली में उत्सव के आयोजन थे। जश्ने फ़ैज़ समिति ने दिल्ली में तीन दिन फ़ैज़ की उपस्थिति में जश्न मनाया। बाद में यह जश्न लखनऊ, इलाहाबाद, बम्बई आदि में भी मनाया जायेगा। फ़ैज़ वहाँ जायेंगे। इन आयोजनों में जिस तरह लोग उमड़े वह अच्छा लगा। पहला आयोजन फिक्की में था, जिसमें फ़ैज़ पर लोग बोले। फ़ैज़ ने अपनी कविताएँ सुनायीं। दूसरे आयोजन में, जो राष्ट्रीय संग्रहालय में था, फ़ैज़ से उनके साहित्य और व्यक्तित्व पर सवालात पूछे गये जिसके बहुत ही जानदार जवाब फ़ैज़ ने दिये। तीसरा उत्सव फिर फिक्की में था। फिक्की आरामदेह, खूबसूरत, भारत के उद्योगपतियों का हाल है। शिरीष के फूलों की खुशबू के दायरे से थोड़ा अलग

पड़ता है। लेकिन है उनके पास ही, उसी सांस्कृतिक इलाके में। वह तानसेन मार्ग पर है। वहाँ फूलती सप्तपर्णी की खुशबू जाड़ों के शुरू में भरी रहती है। पर इस हाल में आनेवाले उद्योगपति सप्तपर्णी की खुशबू के मादक संगीत के क्षण अपने में बसा लेने की फ़ुरसत नहीं निकाल पाते होंगे। लेकिन त्रिवेणी कला संगम में आनेवाले तमाम कलाकार भी सप्तपर्णी के इन पेड़ों को चीन्हते होंगे, इसमें शक है। गर्मियों में इस छितकन की छाँह में जुड़ाते जरूर होंगे, बिना जाने हुए कि यह छाँह किस की है। शिरीष की गन्ध इतनी मादक नहीं होती, जितनी सप्तपर्णी की। कला पथ की गन्ध और पैसे के पथ की गन्ध में अन्तर तो होगा ही! सप्तपर्णी की गन्ध में ज्यादा देर खड़े होने पर नशा हो जाता है, सिर घूम जाता है इसीलिए वह फिक्की के पास है, उद्योगपतियों के भवन के पास। खैर!

फ़ैज़ के जश्न के तीसरे दिन वहाँ बड़ी भीड़ थी। फ़ैज़ की ग़ज़लों का प्रोग्राम था। गानेवाले थे चित्रा और जगजीत सिंह। भीड़ टूट पड़ी थी। बिल्कुल दूसरी तरह की भीड़। प्रवेश निमन्त्रण से होने पर भी काबू पाना थोड़ा मुश्किल हो गया। यह समझ पाना मुश्किल हो रहा था कि ये तमाम लोग फ़ैज़ की शायरी के प्रेमी हैं या जगजीत सिंह और चित्रा के संगीत के। यह स्तम्भकार यह मानकर बैठा था कि हाल में खचाखच भरे लोग दोनों के प्रेमी होंगे। थोड़ी देर में इस स्तम्भकार की सीट की बगल में बैठा एक सम्भ्रान्त (कपड़ों से) मोटा आदमी यह कहकर उठा कि वह अभी आ रहा है, उसकी सीट का ख्याल रखा जाये। प्रोग्राम देर से शुरू हुआ वह और देर बाद आया। उसके हाथ में एक बड़ा-सा आलू-चिप्स का लिफाफा था और मुँह से खुशबू आ रही थी। यही कहना ठीक है! बिना मय पिये शायरी क्या सुनी जाये! वह अपनी मोटर में पीकर आया होगा। आते ही बोला—

"चित्रा नहीं आयी। आज ही उसे माइग्रेन होना था।"

शायद वह घोषणा सुन चुके थे। जगजीत सिंह अकेले गा रहे थे···वह भी चिप्स खाते और साथ गुनगुनाते जा रहे थे। कोई लफ्ज़ तेज होकर अगर गले से निकल पड़ता था तो दिल बैठ जाता था। वह थोड़ी देर बाद—एक शेर सुनकर झूमे। शेर था—

न गुल खिले, न उनसे मिले, न मय पी है।
अजीब रंग में अबके बहार गुजरी है।

झूमते हुए ही फिर बोले—"अच्छा गाता है, चित्रा भी होती तो डुएट में ज्यादा मज़ा आ जाता। लाजवाब शेर है। ऐसा शेर दूसरा कोई नहीं कह सकता। जगजीत ही कह सकता है। क्यों साहब?"

स्तम्भकार समझ गया कि वह कितने पानी में है। और यह भी कि जश्ने फ़ैज़ में भी उसका कोई रिश्ता फ़ैज़ से नहीं है। शायरी की खुशबू से उसे कोई मतलब नहीं। बस वह संगीत-भरी एक शाम के तले से गुज़र जाना चाहता है।

जैसे कवि बिना शिरीष को जाने हुए उसके तले से गुज़र जाना चाहता है। कुछ लोग होते हैं जो खुशबुओं से रिश्ता जोड़ने से कतराते हैं। लेकिन क्यों?

दीवाली, लक्ष्मी और उल्लू

दीपावली के अवसर पर यह स्तम्भकार एक ऐसे शहर में पहुँच गया जो चकाचक सजा हुआ था। पूरे शहर में दीवाली मेला लगा हुआ था। रोशनी-ही-रोशनी थी। ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ जगमगा रही थीं। भीड़ इतनी कि कन्धे छिल रहे थे। तभी क्या देखता है कि इस स्तम्भकार की तरह का ही एक बाहरी आदमी हरएक का मुँह गौर से देखता घूम रहा है। पूछा—"भैया, किसे खोज रहे हो?"

"उल्लू खोज रहा हूँ।" उसने हिचकिचाते हुए कहा।

"क्यों?"

"लक्ष्मीजी का वाहन है न वह? जहाँ सवारी होगी वहीं सवार भी होगा। सोचा लक्ष्मीजी को पहचानना मुश्किल होगा। उल्लू जल्दी पहचान में आ जायेगा। सो उल्लू खोज रहा हूँ।"

"करते क्या हो?"

"मजदूरी करता हूँ साहेब, जब मिल जाती है।" इतना कहकर वह इस स्तम्भकार के मुँह की तरफ गौर से देखने लगा। स्तम्भकार घबराया बोला—

"चलो हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं।"

सो साहब, यह दोनों उस उमड़ते जगमगाते अजनबी शहर के दीवाली मेले में उल्लू खोजने लगे। सड़कों पर गाड़ियों में कोई रहा हो तो पता नहीं। वे तेजी से निकल जाती थीं। एक-एक दूकान छानने लगे।

सबसे पहले मिठाई की दूकान पर पहुँचे। मिठाइयों में से बदबू आ रही थी पर खचाखच भीड़ थी। गद्दी पर बैठा सेठ सर्र-सर्र नोट गिन रहा था। बड़ी गौर से उसके चेहरे की तरफ देखा पर निराशा हाथ लगी। पूछा—

"मिठाई क्या भाव है?"

पता चला, पूछने के पाँच रुपये खरीदने के पचास रुपये। दरबान ने पूछने के ही पाँच रुपये धरा लिये। बोला—

"यह हजारों वर्ष पुरानी दूकान है। इस दूकान का यह दस्तूर है।"

उसकी मूँछों पर शीरा लगा हुआ था और मक्खी बैठी हुई थी। बाहर निकलकर दूकान के पीछे की तरफ चले गये। क्या देखते हैं काले-कलूटे गन्दे नौकर बड़ी-

बड़ी कढ़ाहियाँ माँज रहे हैं और उतने ही गन्दे लोग मिठाइयाँ बना रहे हैं। उनके चेहरों की तरफ गौर से देखा। आँखें थोड़ी गोल-गोल लगीं। वे चुप, खामोश और उदास थे। पीठ धनुष-जैसी थी। सीना आगे को पिचका हुआ था, जबकि सेठ गद्दी पर, सवार की तरह अकड़ा हुआ बैठा था।

वहाँ से हटे तो एक खिलौनों की दूकान पर पहुँचे। तरह-तरह के चाभीवाले गटापारचा, रबड़, लकड़ी और मिट्टी के खिलौने सजे हुए थे। हरएक का दाम बन्दूक की गोली की तरह सुनायी दिया—धाँय-धाँय सुनकर होश उड़ जाते थे। खिलौनेवाला जरी के झिलमिलाते कपड़ों में कलेण्डर में लगी लक्ष्मीजी की आभा लिये बैठा था। लगा उल्लू न सही लक्ष्मीजी के तो जैसे दर्शन हो ही गये। बच्चों के लिए एक खिलौना पसन्द किया। वह भी मिट्टी का भालू। दाम पूछा, तो चिड़ियों की चहचहाहट नहीं, शेर की दहाड़ सुनायी दी। दिल काँप गया। यह पूछने पर, थोड़ा कम नहीं होगा, एक की जगह कई शेर दहाड़ने लगे। कहीं सब मिलकर दबोच न लें, इस डर से दूकान के बाहर भागे। बाहर आकर देखा तो पास की अँधेरी गली में टाट बिछाये एक आदमी गन्दे कपड़े पहने कुछ खिलौने लिये बैठा था। पीछे टोकरे में भरे खिलौने रखे थे। अँधेरे में उस आदमी की खामोश आँखें गोल-गोल दीख रही थीं। वही भालू जो दूकान में था, उसके पास भी था। दाम पूछा तो म्याऊँ-सी आवाज़ आयी—

"जो दे दीजिए साहब ! बोहनी करनी है। रात हो रही है। दो-चार बिक जायें तो घर जायें। बच्चे इन्तजारी में होंगे।"

"आखिर तुम भी तो कुछ बोलो ?"

लेकिन वह बोला नहीं। फटी-सी डरावनी आवाज़ आयी—

"कितने चाहिए ?"

"दो या तीन बस।"

"ले लीजिए", मरी मनहूस आवाज़ में वह फिर बोला—"जिस भाव दूकान-वाले को दिये हैं उसी भाव आपको भी दे दूँगा।"

"भीतर दूकान में क्या तुम्हारे ही खिलौने हैं ?"

उसने इस तरह देखा जैसे कह रहा हो—'जी हाँ, हमारी ही पीठ है, सवारी वह गाँठ रहे हैं।' फिर आवाज़ आयी—

"अरे, क्या अपने हैं ? अब तो यही अपने हैं। जो चाहिए दे दीजिए।" उसने उदास होकर कहा। उस आवाज में कहीं दहाड़ नहीं थी। आँखें चुपचाप अँधेरे में टिमटिमा रही थीं।

स्तम्भकार का वह गरीब अजनबी साथी उस खिलौनेवाले को देखकर घबरा गया और बिना कुछ बोले उसने खिलौने लिये। दूकान में वह खिलौना जितने रुपये में मिल रहा था यहाँ उतने पैसों में मिला। चलते-चलते स्तम्भकार ने

पूछा—"यही भाव दूकानवाले को भी दिया है ?"

"हाँ साब !"

"पैसे दे दिये उसने ?"

"कहाँ साब ! कहता है दीवाली के बाद बिकने पर देंगे।"

फिर हम उसे उस अँधेरे में बैठा छोड़ चले गये। कपड़ेवाले के यहाँ पहुँचे। दूकान पर रेलमपेल थी। भीतर घुस ही नहीं पाये। हमारे कपड़े देखकर ही दरबान ने हमें भीतर घुसने लायक नहीं समझा। हम बाहर नीम अँधेरे में खड़े हो गये। तभी कुछ दूर पर और गहरे अँधेरे में एक छाया हिली। पास पहुँचने पर पता चला, वह मजदूर है। कपड़े की गाँठ सदर से लादकर लाया है। उसका ठेला एक कटे हुए पेड़ की तरह पड़ा था, वह मजदूरी की इन्तजारी कर रहा था। बोला—

"अभी मालिक लोग खाली नहीं हैं, भीड़ छँट जाने पर हिसाब करेंगे।" फिर वह नंगे बदन गुड़ी-मुड़ी होकर बैठ गया और बीड़ी पीने लगा। बीड़ी की रोशनी में उसकी गोल-गोल आँखें दमक उठतीं।

आगे हम आतिशबाजी की दूकान पर पहुँचे। दाम राकेट की तरह आसमान छू रहे थे और हमारी जेब थी कि जमीन में दफन थी। इस स्तम्भकार ने अपने उस अजनबी दोस्त से पूछा—"चलें, जो लोग बनाते हैं उनके पास ? रुपयों की चीज पैसों में मिल जायेगी।"

उसने 'न' सूचक गर्दन हिला दी। तभी एक फटे हाल बच्चा, जिसकी घुग्घुओं-जैसी आँखें थीं, पास आकर बोला—

"बाबूजी, यह एक डिब्बा फुलझड़ी का बचा है, ले लीजिए।"

पता चला वह एक-एक डिब्बा घर से लाता है और बेचता है। चुपचाप। दूकानवालों को पता लग जाये तो उसकी खाल उधेड़ दें। फुलझड़ियाँ उसके घर में ही बनती हैं पर थोकवाले ले जाते हैं। बच्चे अपने लिए कुछ रख लेते हैं।

यह स्तम्भकार उस अजनबी साथी के साथ जो उल्लू खोज रहा था, इतने में ही थक गया था। इसने उससे पूछा—

"उल्लू दिखायी दिया न ? या अभी और खोजना है।" स्तम्भकार ने सोचा कि वह कहे कि यही लोग हैं, जिन पर पैसेवाले सवारी करते हैं, वे बरतन माँजते, मिठाई बनाते नौकर, वह मिट्टी के खिलौने बनाता ग्रामीण, वह कपड़े की गाँठ ढोता मजदूर और वह आतिशबाजी बेचता कारीगर का बच्चा। इन्हीं की पीठ पर सब पैसेवाले सवार हैं, जो लक्ष्मी के प्रतीक हैं। जब तक यह लोग हैं, तब तक ये लक्ष्मीवाले भी हैं। बिना इनके लक्ष्मी नहीं। दुर्भाग्य यह है कि ये उनकी सवारी बने रहने के लिए अभिशप्त हैं। अब आप जो चाहे सो इन्हें समझें।

सहसा उसका चेहरा बदलने लगा और वह उल्लू-जैसा इस स्तम्भकार को

देखने लगा। फिर उसने इसे जोर से पकड़ लिया—"तुम्हारे ऊपर सवार होगी लक्ष्मी !" वह बोला। यह समझ में आते ही आधे से ज्यादा दीवाली मेला लक्ष्मी की सवारियों में बदल गया। सच तो यह है कि लक्ष्मी यानी पैसेवाला बड़ी आसानी से यह जानता है कि कौन उल्लू बन सकता है, किसे उल्लू बनाकर उस पर सवारी गाँठी जाये ? यदि लोग उल्लू बनना छोड़ दें तो लक्ष्मी पैदल चलने लगेगी।

पण्डित बनने का आसान रास्ता

पिछली डाक से दो चिट्ठियाँ एक साथ मिलीं। एक एम. ए. के छात्र की थी जिसने इस स्तम्भकार की कविता पर लघु शोध-प्रबन्ध लिखा है। इस छोटे-से पत्र में व्याकरण और मात्राओं की अनेक अशुद्धियाँ थीं। दूसरा पत्र भी एक छात्र का था जो नयी कविता पर शोध करने की उसकी योजना से सम्बन्धित था। पत्र साइक्लोस्टाइल था और उसमें बीसियों प्रश्न पूछे गये थे। नाम छोड़कर बाकी सारी जानकारी—कहाँ पैदा हुए से लेकर, कौन पुस्तकें हैं, कविता के बारे में क्या मत है, कैसी कविताएँ लिखते हैं, अन्य कवियों के बारे में क्या राय है आदि ? यानी यदि सबका जवाब दे दिया जाये तो शोधार्थी को कुछ करना नहीं रह जायेगा, उसका शोध-प्रबन्ध तैयार ! दोनों चिट्ठियों को लिये बिसूर ही रहा था कि विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक आ गये। उनको चिट्ठियाँ दिखायीं।

"यह हाल है आपके शोधार्थियों का ! क्या लिखा होगा उन्होंने जब भाषा ही सही नहीं लिख सकते !"

"भाषा तो अच्छा टाइपिस्ट ठीक कर देता है।"

"और यह महोदय चाहते हैं कि इनकी थीसिस मैं लिख दूँ !"

"आप नहीं लिखेंगे तो कोई दूसरा लिख देगा। इस प्रश्नावली का आप जवाब नहीं देंगे लेकिन और सैकड़ों कवि तो देंगे, जिन्हें थीसिस में नाम घुसवाने की ललक होगी। देखिए उसका काम तो चलेगा ही। उसकी थीसिस तैयार हो जायेगी और उसे डाक्टरेट भी मिल जायेगी। वह तो आपको पढ़ने से रहा। दूसरी थीसिसों में जो कुछ आपके बारे में होगा, उसे ही वह उतार लेगा। बहुत आसान रास्ते हो गये हैं अब पण्डित बनने के लिए।"

बहुत-सी बातें याद आयीं। नयी कविता पर एक नामी डाक्टर प्राध्यापक ने एक पुस्तक लिखी। भूमिका लिखने के लिए पुस्तक के छपे फर्मे इस स्तम्भकार के

पास भेज दिये। उसमें नरेश मेहता को नकेनवादी कवि बताया गया था। और इसी रूप में कई पृष्ठों में उनके काव्य की व्याख्या थी। भूमिका तो नहीं, उन्हें तुरन्त पत्र भेजा कि यह भयंकर गलती सुधार लें, फर्मे दुबारा छपें, किताब निकली। किसी ने बताया कि एक थीसिस में अमृतलाल नागर को एक ऐसे नाटक का रचयिता बताया गया जो उन्होंने लिखा ही नहीं। लेकिन आज तक हर थीसिस में वह नाटक उन्हीं के नाम चढ़ा हुआ है।

"ऐसा क्यों होता है ?"

"देखिए, अब शोध-प्रबन्ध लिखना, नौकरी पाना सब एक व्यवसाय हो गया है और शोध-प्रबन्ध लिखवाना और नौकरी दिलवाना भी। साहित्य से किसी को कोई सरोकार नहीं। इस गिलास का पानी उस गिलास में होता रहता है। शोधार्थी को केवल यह करना होता है कि उसकी थीसिस मोटी दिखे। कम पन्नों की पतली थीसिस को स्वीकार ही नहीं किया जाता। तो चर्बी चढ़ा दी जाती है, भरती का माल भरकर उसका कलेवर बढ़ा दिया जाता है। गाइड के पास फुर्सत नहीं रहती। फुर्सत हो भी कैसे ? फुर्सत का मतलब विषय की पूरी जानकारी रखना, पढ़ना, उलझना। और थीसिस जिनके पास जाँच के लिए भेजी जाती हैं, उनके पास तो और भी समय नहीं रहता। वे वरिष्ठ लोग होते हैं, अनुभवी, परीक्षण-कला में माहिर खत का मजमूं भाँप लेते हैं लिफाफा देखकर। उन्हें थीसिस पढ़ने की जरूरत ही नहीं पड़ती। पढ़ते ही नहीं। उनके लिए यही काफी है कि किसके निर्देशन में काम किया है। फिर मौखिक परीक्षा के लिए वह बुलाये जाते हैं। उन्हें तुरन्त अपना भत्ता वगैरह लेकर लौटने की जल्दी रहती है। अधिकतर शोधार्थी से उसकी थीसिस के सम्बन्ध में बात ही नहीं करते। कभी-कभी तो एलान कर देते हैं, "थीसिस अच्छी है। मैं सन्तुष्ट हूँ। बात करके क्या होगा ? भत्ता वगैरह का काम जल्दी निपटवा दो, हमें जाना है। लाओ हस्ताक्षर किये देता हूँ।" लीजिए, मिल गयी डाक्टरेट ! बात तो तब करें जब पढ़े हों ! तो साहब लिखनेवाले ने ठीक से पढ़ा नहीं इधर-उधर से उतारा, गाइड को चिन्ता नहीं न कोई जानकारी, परीक्षक को इस लफड़े से क्या लेना-देना—बस ऐसी मशीन से थीसिस ढलती हैं, डाक्टर पैदा होते हैं, कालेजों विश्वविद्यालयों में पढ़ाने के नाम पर लग जाते हैं और राजनीति करते हैं। हमारे बच्चे इन्हीं से इसी माहौल में शिक्षा ग्रहण करते हैं और आप हम सिर पीटते रह जाते हैं।"

प्राध्यापक महोदय ने आगे बताया कि, "अगर कहीं मौखिक परीक्षा विधिवत हुई भी तो यह वरिष्ठ परीक्षक ऊटपटाँग सवाल पूछेगा। बात यह है कि इन वरिष्ठ लोगों को इतने काम रहते हैं कि इनका दिमाग गड्डमड्ड हो जाता है। एक परीक्षक महोदय ने मौखिक परीक्षा में एक शोध विद्यार्थी को बुरी तरह इस बात पर फटकारा कि उसने नयी कविता की अपनी थीसिस में भवानी प्रसाद मिश्र को

'दूसरे सप्तक' का कवि लिखा था, जो कि सही है। उनके दिमाग में कुछ उलटफेर हो गया था। वह भवानी प्रसाद मिश्र को 'तार सप्तक' का कवि समझे बैठे थे। बस विद्यार्थी पर बरस पड़े—'इतना भी नहीं जानते। थीसिस क्या, बकवास है।' बेचारा विद्यार्थी चकरा गया। ज्यादा उलझता भी कैसे, भविष्य का सवाल था। वह अपनी बात पर अड़े रहे। बाद में हल्ला भी उठा कि मौखिक परीक्षा पद्धति ही बन्द कर दी जाये।" उन्होंने आगे कहा, "केवल पुराने लोगों में एक ही व्यक्ति हैं डा. रामकुमार वर्मा जो अच्छी तरह थीसिस पढ़कर आते हैं और विद्यार्थी से बात कर उसकी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ भी बताते हैं।"

इत्तफाक से दूसरे ही दिन डा. रामकुमार वर्मा से भेंट हो गयी। उनके बारे में इस प्राध्यापक की राय बतायी। उन्होंने कहा, "इतना ही नहीं है और भी है। अब तो बाकायदा नियुक्तियों में घूस चलती है।" फिर एक किस्सा उन्होंने बताया जिसमें वह हिन्दी के प्रोफेसर के चुनाव के लिए किसी विश्वविद्यालय में गये थे। बैठक के पहले एक आदमी निवास पर आता है और उनसे किसी नाम की सिफारिश करता है और कहता है—"देखिए आपको तो उसे प्रोफेसर बनवाना ही होगा। मैं पूरे इन्तजाम के साथ आया हूँ।" डा. राम कुमार वर्मा ने बताया कि प्रोफेसर के लिए दस हजार रुपया, रीडर के लिए साढ़े सात हजार रुपया और लेक्चरर के लिए पाँच हजार रुपये की घूस अब तय है। इन पदों पर नियुक्त व्यक्ति साल-भर में इतना कमा लेता है।

इसके बाद आगे कुछ जानने की हिम्मत नहीं हुई। इतना ही दुःख और ग्लानि से भर देने के लिए क्या काफी नहीं है?

सार्त्र पर मुकद्दमा

फ्रांस की धुर दक्षिणपन्थी पत्रिका 'मिनिट' ने **ज्याँ पाल सार्त्र** पर मुकद्दमा चला दिया है। पत्रिका के सम्पादक मण्डल ने सार्त्र पर, उन्हें अपमानित करने, अपशब्द कहने, मौत की धमकी देने और उन्हें बम से उड़ा देने योग्य कहने का आरोप लगाया है। पिछले कई वर्षों से सार्त्र वहाँ के वामपन्थियों को अपना समर्थन देते रहे हैं। उनका नाम वामपन्थी पत्रिका 'ले काज़े दु प्यूपल' के सम्पादक के रूप में जाता है। वामपन्थी आन्दोलन के प्रति उनके सक्रिय समर्थन को देखते हुए फ्रांस की सरकार किसी भी कानून के अधीन उनको सज़ा दे सकती थी लेकिन वह ऐसा करने से बचती रही, क्योंकि सार्त्र को दण्ड देने का मतलब एक दूसरा समाज

बनाने में उनके मसीहाई प्रभाव को बढ़ाना ही होगा।

सार्त्र की पत्रिका में, दक्षिणपन्थी पत्रिका 'मिनिट' के सम्पादक मण्डल के बारे में, जून 1972 में एक लेख में लिखा गया था कि ये "पेशेवर हत्यारे हैं, यूरोपीय अल्जीरी आतंकवादी संगठन की जमात के भाड़े के टट्टू हैं और वे छके अघाये हत्यारे हैं, जो मुक्ति-संग्राम के शुद्धीकरण से बच निकले हैं।" लेख में आगे कहा गया है कि 'मिनिट' के पिछले अंक में जिन लोगों के नाम और पते छापे गये हैं उन पर यदि कोई मुसीबत आयी तो उसकी जिम्मेदारी 'मिनिट' के सम्पादक मण्डल की होगी, जिसके लिए 'उन्हें समझ लिया जायेगा।'

अदालत में सार्त्र ने कहा कि उन पर हर आरोप लागू नहीं होता, उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। हमारे लेख में जो अन्तिम शब्द था 'समझ लिया जायेगा,' वह केवल चेतावनी थी। ऐसी स्थिति में जब क्रान्तिकारी स्थिति उत्पन्न होती है तो न्याय की सामान्य पद्धतियाँ ताक में रख दी जाती हैं और हर आदमी खुद अपने लिए हो जाता है। उन्होंने 'मिनिट' पर आरोप लगाया कि वह ऐसी पत्रिका है जो आदतन हिंसा और हत्या की अपील करती रही है, विशेषकर वामपन्थियों के और विदेशी कार्यकर्ताओं के सन्दर्भ में। मुझे खुद इस पत्रिका ने 'राष्ट्र का लाल कैंसर' अपने एक लेख में कहा है और आगे उसमें लिखा है कि 'कैंसर को काटकर निकाल बाहर किया जाना चाहिए।'

सार्त्र ने अपने इस मुकद्दमे में अपने बचाव के लिए तीन गवाह बुलाये हैं: डेनियल मेयेर मानव अधिकार लीग के अध्यक्ष, जेक्यूस देव्यू ब्रीदाल फ्रांस संघ, शरणार्थी देश के अध्यक्ष और क्लाद मारियाक उपन्यासकार और अप्रवासी श्रमिक जीवन और अधिकार रक्षा-समिति के सदस्य। तीनों ने दक्षिणपन्थी पत्रिका 'मिनिट' के प्रति सार्त्र के आरोपों का समर्थन किया है। मारियाक ने तो यहाँ तक कहा कि, "पत्रिका के ज्याँ फ्रांक्वा देवे ने खुद स्वीकार किया है कि पत्रिका की स्थापना 'यूरोपीय अल्जीरियाई आतंकवादी संगठन' की रक्षा के लिए की जा रही है और उन्होंने इटली के नवनात्सी दल से अपने सम्बन्ध छिपाये नहीं थे। पत्रिका के सम्पादक बेरिग्न्यू युद्ध के समय शत्रु सहयोगी सेना में थे और उन्होंने स्वीकार किया था कि वह यहूदी विरोधी, जातिवाद हैं। आश्चर्य है कि जब सार्त्र उन्हें यही कह रहा है तो इस पर वह आपत्ति कर रहे हैं।"

मुकद्दमा चल रहा है। अदालत को यह फैसला देने में एक महीना लगेगा कि आठ लाख फ्रांक हरजाना किसे मिले, 'मिनिट' को या सार्त्र को।

जानवर और चुनाव-चिन्ह

कहते हैं जब मन उदास हो तो आदमी को चिड़ियाघर चले जाना चाहिए, राहत मिलती है। मैं नहीं जानता। लेकिन मैं पिछले दिनों यूँ ही तफरीहन चिड़ियाघर चला गया। वहाँ पहुँचकर लगा कि अब चिड़ियाघर के जानवर ज्यादा होशियार हो गये हैं। प्रतिस्पर्धा और होशियारी का चोली-दामन का साथ माना जाता है। शायद चिड़ियाघर के जानवर पूरे देश को चिड़ियाघर मानते हैं, अन्यथा इतनी होशियारी न दिखाते कि मुझे आया देख सम्वाददाता सम्मेलन की घोषणा कर देते। चुनाव का माहौल देख इसी सबसे बचकर वहाँ भागा था पर क्या पता था कि जानवर भी ये हरकतें सीख गये हैं। आनन-फानन मैं अकेला उनसे घिर गया। वे बेहद गुस्से में थे। मुझे देखते ही दुम, पैर, मूँछें, फटकार-फटकारकर गुस्सा जाहिर करने लगे।

"आखिर बात क्या है ?" मैंने पूछा।

"बात क्या नहीं है यह पूछिए। आप आदमी अपने को समझते क्या हैं ? क्या अधिकार है आप आदमियों को कि हम जानवरों को अपना चुनाव-चिन्ह बनायें। हम आपका चुनाव चिन्ह कतई नहीं बनना चाहते। कृपया हमें माफ कीजिए।"

बात यह थी कि उन दिनों दिल्ली में चुनाव शुरू होने की चर्चा थी। अखबारों में यह खबर छपी थी कि कुछ उम्मीदवारों ने चुनाव-चिन्ह जानवरों के माँगे हैं। भला जागरूक जानवर-समाज में यह बात कैसे न फैलती। सो उन्हें पता चल गया और वे गुस्से में थे।

"आखिर इसमें आपको एतराज क्या है ?"

"एतराज ! यह हमारा सरासर अपमान है। हम आदमियों को अपने से घटिया समझते हैं। हम नहीं चाहते कि हमारे गुणों की पालिश वे अपने चमरौंधे व्यक्तित्व पर कर उसे चमकायें। वे जड़ चीज़ों से अपना काम चलायें, जिसके योग्य वे हैं। हम आपके कैदखाने में जरूर हैं लेकिन हमने अपनी आत्मा नहीं बेची है, जैसी कि आप आदमियों ने बेच खायी है।"

"ऐसा आरोप आप लोग कैसे लगाते हैं ?"

"देखिए हम जो हैं वही हैं, वही रहते हैं लेकिन आप जो हैं, वही नहीं रहते। चुनाव में तो और रंग बदलते हैं। गिरगिट को भी अपना रंग बदलना अपमान-जनक लगेगा। वह आत्मरक्षा के लिए रंग बदलता है, आप शिकार के लिए रंग बदलते हैं।"

मैंने देखा जो उनका प्रवक्ता बना हुआ है वह बन्दर है, हमारा पूर्वज। उसका मुँह लाल है गुस्से से।

"लेकिन आपको तो किसी ने अपना चुनाव-चिन्ह नहीं बनाया।"

"की न वही आदमियोंवाली घटिया बात। मैं इस समय प्रवक्ता हूँ। अलग से कुछ नहीं हूँ। यह आपके यहाँ ही होता है कि प्रवक्ता अलग से अपनी हैसियत का मोलतोल करवाता है।"

मैं चारों खाने चित्त था इस आरोप पर। कुछ सँभलकर मैंने पूछा—"हाथी को क्या आपत्ति है चुनाव चिन्ह होने पर।"

यदि हाथी बाड़े में न होता तो उसने मुझे पैर से दबा चटनी बना दिया होता पर लाचार था, बोला : "किस चीज में आपके ये चुनावी उम्मीदवार मेरा मुकाबला कर सकते हैं। पिद्दी-न-पिद्दी का शोरबा। न डील-डौल, न ताकत न समझदारी, न सहनशक्ति और चले हैं हमारे नाम का उपयोग कर जनता को कुचलने के लिए। हम गिरी हुई सुई तक उठा सकते हैं, ये अपनी गिरी हुई नीयत तक नहीं उठा सकते हैं। लालच और बेईमानी जिनकी रग-रग में भरी हो उनके साथ हम अपना नाम नहीं जोड़ना चाहते।"

"सबको एक जैसा मत समझिए। जिसने आपको चुनाव-चिन्ह के रूप में माँगा हो शायद वह आपके गुणों पर रीझा हो।" मैंने कहा।

"आज का राजनैतिक आदमी गुणों पर नहीं रीझता। जान कर अनजान बनता है। वह शुद्ध स्वार्थ, शुद्ध लाभ पर रीझता है।"

तभी ऊँट महोदय की गरदन लम्बी होकर मेरी आँखों के सामने आ टिक गयी। बोले, "हम रेगिस्तान को भी नखलिस्तान बनाते हैं और ये आपके राजनतिक नखलिस्तान को भी रेगिस्तान में बदलकर दम लेते हैं। हम कँटीली झाड़ियों की पत्तियाँ खा जिन्दगी गुजार देते हैं, अपना कूबड़ कटवाकर दूसरों की प्यास बुझाने की हिम्मत रखते हैं। ये फल खा-खाकर दूसरों के लिए कँटीली झाड़ियाँ तैयार करते हैं और दूसरों को मारकर अपनी प्यास बुझाते हैं।"

अचानक शेर की दहाड़ सुनायी दी। उसने जो पंजा उछालकर मारा तो सारा कठघरा थरथरा उठा। "चूहे की औलाद ! चूहे-सा भी दिल नहीं है आपके इन राजनीतिज्ञों का और चले हैं हमें अपना चुनाव-चिन्ह बनाने। यदि मैं पूरी ताकत से दहाड़ दूँ तो आपके राजनीतिज्ञों के कपड़े लांड्री की शोभा बढ़ायें। कैसे हिम्मत पड़ती है इनकी हमारा नाम लेने की।"

शेर तो शेर मुर्गे तक ने टेर लगा दी। बोला : "हम आवाज लगाते हैं तो सूरज उगता है। आदमी जाग उठता है और आपके ये राजनीतिज्ञ आवाज लगाते हैं तो सारा देश सो जाता है। अँधेरा छा जाता है। आज जो अँधेरा चारों ओर है, सब जो सोये पड़े हैं, उसका कारण ये ही लोग हैं और हमें चुनाव-चिन्ह बनाने की इच्छा रखते हैं।"

फिर एक-एक कर सारे जानवर मुझ पर टूट पड़े। मैं पहली दफा किसी

सम्वाददाता सम्मेलन से इतना निरुत्तर होकर, इतना घबराकर भागा था। हाँफता-हाँफता जब चिड़ियाघर के दरवाजे पर पहुँचा तो एक गधा खड़ा हुआ था। वह चिड़ियाघर का प्राणी नहीं है। उसने सफल राजनीतिज्ञ की तरह "हैलो" कह मुस्कराकर नमस्कार किया। बोला, "कहिए कैसे हैं? इस बार हमारी मदद कीजिएगा। आप लोगों के हाथ में सबकुछ है। मैंने चुनाव-चिन्ह बनने के लिए आवेदन किया है। आपकी मदद मुझे मिलनी चाहिए। हमारा आपका तो सदा-सदा का साथ है।"

मुझे अपने ऊपर अचरज होने लगा और पहली बार दया आने लगी। मैं प्रति-उत्तर में कुछ बोल नहीं पाया। वह सबकुछ नहीं कह पाया, जो ऐसे अवसरों पर कहने की मेरी आदत रही है।

जन्मशती पर प्रेमचन्द से एक भेंट

सुनते हैं प्रेमचन्द अक्सर आधी रात नंगे पैर, नंगे सिर देश के किसी भी गाँव में घूमते हुए देखे जा सकते हैं। इस स्तम्भकार को खबर मिलती रहती है कि हर उस गाँव में जहाँ कोई आपदा आयी हो, हत्याएँ हुई हों, हरिजनों के घर जलाये गये हों, आदिवासी स्त्रियों के साथ बलात्कार हुआ हो प्रेमचन्द आधी रात गुमसुम उदास घूमते देखे गये। उस दिन काफी रात तक प्रेमचन्द का साहित्य पढ़ते-पढ़ते अचानक यह स्तम्भकार इस भरी बरसात में एक गाँव में पहुँच गया जहाँ प्रेमचन्द नंगे पाँव कीचड़ में घूम रहे थे।

"आप यहाँ···?" स्तम्भकार के मुख से निकल पड़ा।

वह कुछ बोले नहीं। अँधेरे को इस तरह देखते रहे जैसे अभी उसमें रोशनी पैदा हो जायेगी।

"आपकी स्मृति में बड़े-बड़े समारोह हो रहे हैं। पूरे वर्ष आपकी जन्मशती शहरों में मनायी गयी है। स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों में आप पर बड़ी-बड़ी गोष्ठियाँ, चर्चाएँ हुई हैं। पत्र-पत्रिकाओं ने आप पर धूम-धड़ाके से विशेषांक निकाले हैं, होरी और धनिया के परचम लहराये गये हैं। शायद ही हिन्दी की कोई संस्था बची हो जिसने आपकी याद में जश्न न मनाया हो, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समितियाँ आपके समारोह के लिए बनी हैं, संस्थाओं और राज्यों ने खुलकर धन लुटाया है। आपकी स्मृति में बनी इन समितियों में हिन्दी के सभी धुरन्धर लेखक, अनेक मुख्य-मन्त्री, राजनैतिक नेता शामिल हैं। आपके इन समारोहों को अन्तर्राष्ट्रीय रूप

दिया जा रहा है। बड़े-से-बड़े लोगों का सहयोग इन्हें प्राप्त है। और ऐसे में जब आपके नाम की रोशनी चारों तरफ जगमगा रही हो और लोग उल्लास से भरे आपकी स्मृति में नाच रहे हों—आप ऐसी अकेली रात में, ऐसे अँधेरे में इतने उदास, इस गाँव में घूम रहे हैं?"

प्रेमचन्दजी चुपचाप इस स्तम्भकार की बात सुनते रहे। अन्धकार में उनका चेहरा और उस पर आये भाव यह नहीं देख पाया। लेकिन अचानक जैसे कोई चट्टान टूटी। आवाज आयी—

"यही जगह है मेरे लिए।"

"आपको अपना जन्मशती समारोह कैसा लगा?" स्तम्भकार ने पूछा।

"मेरा समारोह यह नहीं है। कैसे हुआ? यह समारोह तो उनका है जो इन्हें कर रहे हैं। मेरा नहीं।"

"अपनी स्मृति में किये गये वर्ष-भर के तमाम समारोहों से आप खुश नहीं हैं?"

"क्या मेरी खुशी के लिए थे? ये जिनकी खुशी के लिए थे, वे जरूर खुश हुए होंगे। मेरा तो इनसे कोई सरोकार नहीं था। मुझे इनसे कोई मतलब नहीं।"

"यह आप क्या कहते हैं! लाखों रुपये इन समारोहों पर खर्च हुए, लाखों जमा किये गये, जमा हो रहे हैं। इस सबसे आपको कोई मतलब नहीं?" स्तम्भकार ने कहा।

"इससे क्या होगा?"

"इससे···इससे आपके साहित्य का प्रचार होगा। उन मूल्यों का प्रचार होगा जिनके लिए आपका साहित्य है।" स्तम्भकार ने कहा।

"क्या तुम सच में यह मानते हो? इन तमाम समारोहियों को, चाहे वे सरकारी हों या गैरसरकारी, इन मूल्यों की चिन्ता है? यदि चिन्ता होती तो जिन मूल्यों के प्रचार के लिए वे मेरे साहित्य के आगे शहनाई बजा रहे हैं, उन्हें खुले आम ज़िबह न करते। मैं अन्याय, शोषण से मुक्त, जात-पाँतहीन, समानता पर आधारित गाँव चाहता था, क्योंकि वह पूरे भारतीय समाज का प्रतीक है, उसका बदलना पूरे देश को बदलना है। लेकिन वह दिन-पर-दिन और नारकीय होता जा रहा है, शोषण और अन्याय नये-नये विकराल रूप में बढ़ रहे हैं। जात-पाँत पर पूरी राजनीति की नींव खड़ी है और समानता को लोकतन्त्र के नाम पर दफन कर दिया गया है। साहित्य के मूल्यों की चिन्ता किसे है? याद रखो, जब पूरे समाज का चरित्र व्यापारी हो जाये तो वह सहित्य को, साहित्यकार को, उसके मूल्यों को व्यापार में लगाता है।"

"क्या आप समझते हैं आपका जन्मशती समारोह व्यापार है?" स्तम्भकार ने पूछा।

बिल्ली-सी दुबकी रही। सामने से कई चूहे दौड़ाये—गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल—पर वह टस से मस न हो।

क्या ज़माना आ गया है। मसखरी में भी खरी बात का भारीपन इतना कि उसे उठाना मोहाल। फिर उसे लेकर कोई मटके या जोड़े, लटके, बेखटके तो भी भटके, कुछ भी आसपास न फटके, खाय झटके-पर-झटके, तो लगा बेकार है। साहित्यकार में झार नहीं, इससे अच्छा तो राई का अचार है।

पैदल पिट गये तो घोड़े टाप कर आये ढाई घर—कमलेश्वर और धर्मवीर भारती—एक घर साहित्य, एक राजनीति और आधा पुनीत, नीति, कूटनीति—बचो शह। ऊँट, हाथी, इलाहाबाद के दलदल में। लगा कीचड़ से बचो। घोड़ा तो फिर खरहरा करवा, नाल जड़वा तैयार हो जायेगा। तुम कालीन धोने में लीन हुए कि पैर फिसला कौड़ी के तीन हुए। इससे तो अच्छा निर्मल वर्मा, जैसे बाहर वैसे घरमा।

पुनः दूध हित बाबला मक्खन रहा बिलोय
भरी बियर की बाल्टी मलमल निर्मल होय।

सो तो अपने कमलेश भी भले—कमलापति कमलेश; ज़ेर, ज़बर, पेश। आम हराम पर गुठली के दाम। आम की बात सरे आम क्या करें! सो चुप हो गये। मसखरी फिर धरी रह गयी।

हम आकाश को जानते हैं / हम धरती को जानते हैं
हम अपने बाप को जानते हैं / हम सर्वेश्वर को जानते हैं।

ज्ञान की ऐसी बातें सुन-सुन बड़ा ज्ञानरंजन हुआ। फिर पहल की। फिर पूर्वग्रह जुटाया। नया प्रतीक उठाया, पर भाव सतुआ भसकने जैसा।

रहिमन नया प्रतीक लख मुँह न लीजिए मोड़
कहा पुरातन बावली दादुर देवैं छोड़

सो जी में आया समान्तरवालों को इस पुरातन बावली में ढकेल दें। कम-से-कम एक छपाका तो हो। पर फरमान मसखरी का था। दादुर के पीछे-पीछे दौड़े। छलाँग अपने से लगती नहीं। आधे रास्ते से लौट आये। कहा, हमसे मसखरी नहीं होगी।

मसखरी कठिन काम है। उसके लिए आदमी थोड़ा मोटाया हुआ होना चाहिए। थोड़ी चर्बी दिमाग पर भी चढ़ी हो, थोड़ी तोंद पर भी। ठेठ जगदीश गुप्त जैसी नहीं। पर थोड़ी हो ज़रूर। यहाँ चर्बी गली जा रही है। चारों तरफ नजर दौड़ायी। किसी दूसरे की चर्बी अपना लें। अपने नाटे, गबरू, वजीर पड़ोसी पर निगाह गयी, जो शह की मुद्रा में ही हमेशा रहते हैं पर मसखरी आसपास में, आम-खास में बात तक नहीं करती। वहाँ से भी लौट आये। शान्त, क्लान्त। और सोचने लगे कि साफ-साफ कह दें अब मसखरी नहीं होती। इससे अच्छा आदमी

जयप्रकाश के आन्दोलन में शामिल हो जाये। जोर-जोर से जुलूस में चिल्लाये :

बेटा कार बनाता है
माँ बेकार बनाती है

नागार्जुन और फणीश्वरनाथ 'रेणु' की तरह भीड़ में घुसकर भाषण दें। कम-से-कम दूसरों को उसके साथ मसखरी करने का मौका मिले। समझ में नहीं आता कि जहाँ पूरा लोकतन्त्र मसखरी में बदल गया हो, रात-दिन, घड़ी-घड़ी हर जगह मसखरी हो रही हो, वहाँ किसी एक आदमी की मसखरी की क्या बिसात! सो मसखरी न हमसे हुई, न हमसे होगी। पाठकगण क्षमा करें। होली की शुभकामनाएँ लें यदि इस शब्द में अब कोई वज़न रह गया हो। वैसे मसखरी में नामवरी हमें नहीं चाहिए।

दुविधा तज, सुविधा गहे,
बढ़ बढ़ बात बनात।
रँग ऐसी मसखरी में,
ह्वै गयी जात कुजात।

नेशनल बुक ट्रस्ट का काव्य प्रेम

नेशनल बुक ट्रस्ट (राष्ट्रीय पुस्तक न्यास कहने में उसे शर्म आती है) जिसने अपनी रुचियों की बानगी अनेक बार प्रस्तुत की है इस बार हिन्दी कविता के प्रति अपना प्रेम प्रकट किया है। उसने अभी हिन्दी-काव्य-संग्रह प्रकाशित किया है। 111 पृष्ठ की इस पुस्तक पर ऊपर ही लिखा है 'स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय काव्य'। यानी अन्य भाषाओं के भी ऐसे संकलन निकलेंगे।

इस हिन्दी-काव्य-संग्रह के संकलनकर्त्ता हैं सुमित्रानन्दन पन्त। दो शब्द जो शुरू में उन्होंने लिखे हैं, उनमें उन्होंने इसे 'विशिष्ट चयन' कहा है और इसमें "स्वतन्त्रता के बाद के 25 वर्षों की हिन्दी कविता की प्रगति एवं विकास की दिशा का यत्-किंचित दिग्दर्शन" कराया है। समझ में नहीं आता इस काम के लिए ट्रस्ट ने पन्त-जी को क्यों चुना? वह अच्छे कवि ज़रूर रहे हैं पर अच्छे सफल संकलनकर्त्ता के रूप में उनकी कभी कोई पहचान नहीं बनी है। इस संकलन से वह बनने का सवाल ही नहीं उठता। उन्होंने यह 'विशिष्ट चयन' किस साहित्यिक मानदण्ड से किया है, यह समझ में नहीं आता। उनके निजी रागद्वेष ज़रूर समझ में आते हैं। भूमिका

में नयी कविता के प्रवर्तक के रूप में अज्ञेय का नामोल्लेख मात्र है, उनकी कविता संकलन में नहीं है। हो सकता है कि सरकारी लचर प्रयासों से जैसा संकलन निकलेगा, उसका पूर्वाभास अज्ञेय को हो गया हो और उन्होंने अपनी कविता संकलित करने की अनुमति न दी हो। पर इसका उल्लेख तो संकलनकर्त्ता को करना ही चाहिए था। जिससे मालूम होता है कि उन्होंने कौन-सी कविता या कविताएँ अज्ञेय की चुनी थीं और न देने का कुछ कारण भी पता चलता। यदि निराला होते तो इस संकलन में जो कविताएँ उनकी चुनी गयी हैं, उन्हें देखकर अनुमति नहीं देते।

पाठकों को आश्चर्य होगा यह देखकर कि संकलन में निराला के दो गीत हैं। एक पृष्ठ में (कुल बाइस लाइन)। वह गीत भी चुनने में कमाल किया गया है। एक गीत है 'शिविर की शर्वरी, हिंस्र पशुओं से भरी' और दूसरा गीत है 'तुम जो सुथरे पथ उतरे हो।' क्या इससे अच्छे गीत निराला ने इस काल में नहीं लिखे? दूसरा यह कि निराला के लिए एक पृष्ठ और स्वयं संकलनकर्त्ता पन्तजी ने अपनी दो कविताएँ 'सन्देश' और 'कूर्मांचल के प्रति' तेरह पृष्ठों में दी हैं। मैथिलीशरण गुप्त से भी अधिक पृष्ठ उन्होंने अपने लिए रखे हैं। 'निराला' और पन्त का यह अनुपात किसी की समझ में नहीं आयेगा।

इस पर यदि कोई 'निराला' के प्रति पन्तजी के द्वेष का आरोप लगायेगा तो उनको बुरा लगेगा। संकलन में सबसे अधिक स्थान पन्तजी ने खुद लिया है। बच्चन की कविता का भी चुनाव संकलनकर्त्ता के रागद्वेष का परिचायक है। पाठक स्वयं देखकर समझ सकेंगे। कवियों में बहुत-से ऐसे नाम हैं, जिनके महत्त्वपूर्ण कवि होने पर साधारण पाठक भी शंका करेगा। अनेक ऐसे नाम हैं, जिन्हें इलाहाबादी रागद्वेष के कारण छोड़ा गया है। उन सबका नाम लेकर विवाद उठाना अच्छा नहीं लगेगा पर पाठक के मन में संग्रह देखकर यह बात उठेगी ही।

एक और विशेषता इस संकलन की है, अपनी ओर से कविताओं में जोड़ना-घटाना। प्रूफ की गलतियाँ ऐसी कि जहाँ छन्द हैं, वहाँ छन्द भंग भी होता है, पर सब चलता है। कविता के साथ नेशनल बुक ट्रस्ट तथा पन्तजी ने हिन्दी के अखबारों से भी गया गुजरा बर्त्ताव किया। जो जी में आया छाप दिया, जो जी में आया छोड़ दिया। इसका अर्थ सिवा कविता के प्रति घोर उदासीनता के कुछ नहीं है। सवाल उठता है कि यदि ऐसी उदासीनता कविता के प्रति है तो उसे छापने की क्या जरूरत है? इस टिप्पणीकार का काम यहाँ पूरा अशुद्धिपत्र छापने का नहीं है। दो-एक कविताओं के माध्यम से उसका रूप समझा जा सकता है।

पंक्ति है:

"महत्त्वाकांक्षा ही सब दुखों का मल है,
इसलिए तुम जहाँ थे वहीं बैठ गये।"

छपा है:

"महत्त्वाकांक्षा ही सब दुखों का मूल है,
इसलिए तुमने सब कुछ लुट जाने दिया।"

पंक्ति है:

रात होते उठती है धुन्ध
ऊपरी आमदनी की ऊब।

छपा है:

रात होते उठती है धुन्ध
ऊपर आमदनी की ऊब।

ऐसी अशुद्धियों का ओर-छोर नहीं है। नेशनल बुक ट्रस्ट यदि कविता के प्रति सही जिम्मेदारी महसूस करता तो अन्तिम प्रूफ संकलनकर्त्ता को ही दिखला लेता। कम-से-कम छन्दों में तो गड़बड़ी न होती।

इस संकलन की सबसे अधिक तमाशाई चीज़ है कवि परिचय। संकलनकर्त्ता को इसे खुद देखना चाहिए था। किसी अनपढ़ बाबू को नहीं सौंपना चाहिए था। कवि परिचय से पता चलेगा—

1. विजयदेवनारायण साही 'ललित निबन्ध' लेखक हैं।
2. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना '1972' में पैदा हुए। वे 'गीतकार प्रगतिशील कवि हैं।' उनके 'दो काव्य संग्रह' प्रकाशित हैं' (जबकि चार संग्रह हैं।)
3. कुँवर नारायण के 'छह काव्य संग्रह प्रकाशित हैं।' (जबकि तीन काव्य-संग्रह हैं।)
4. रघुवीर सहाय का एक काव्य संग्रह 'आत्महत्या के बाद' प्रकाशित है (जबकि दो काव्य-संग्रह हैं और संग्रह का नाम 'आत्महत्या के बाद' नहीं, 'आत्महत्या के विरुद्ध' है।)
5. श्रीकान्त वर्मा की कृति का नाम 'झाड़ियाँ' लिखा है (जबकि कृति है—'झाड़ी')
6. रमानाथ अवस्थी के 'तीन काव्य प्रकाशित' लिखा गया है (जबकि दो काव्य-संग्रह हैं।)
7. केदारनाथ सिंह के किसी काव्य-संग्रह का नाम परिचयकार को ज्ञात नहीं। उन्हें सरस गीतकार कहा गया है और संकलन में उनका 1950 का लिखा गीत ही दिया गया है। क्यों?
8. जगदीश गुप्त, शम्भूनाथ सिंह, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल आदि के एक भी संग्रह का नाम, लगता है परिचयकार को नहीं मालूम।

नेशनल बुक ट्रस्ट, समझ में नहीं आता, वह काम क्यों करता है, जिस काम के

करने योग्य नहीं है। क्यों जनता के पैसे का वह अपव्यय करता है। इससे अच्छा संकलन प्रकाशक छापते हैं। कम-से-कम ऐसी लज्जास्पद बेवकूफी तो नहीं करते। इस संकलन का उद्देश्य अन्य भारतीय भाषाओं में उन्हें अनूदित करा छापने का यदि कहीं हो तो बराय मेहरबानी वह यह न करे। बिकने से पूर्व तमाम गलतियाँ सुधारे, अशुद्धि पत्र लगाये और अपने नाम और काम पर कलंक भी। संकलनकर्त्ता पन्तजी एक प्रतिष्ठित कवि हैं, उनका ऐसी योजनाओं में ऐसे हल्के-फुल्के ढंग से, रागद्वेष से युक्त होकर जुड़ने में कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, यह वह न सोचें। कम-से-कम इससे वह एक सतही संकलनकर्त्ता सिद्ध होते हैं।

०००